

प्रकाशक :

अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ

जोधपुर



शाखा कार्यालय

नेहरू गेट बाहर, ब्यावर (राजस्थान)

☎ : (01462) 251216, 257699, 250328

आचार्यांग सूत्र भाग १

(शुद्ध मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ एवं विवेचन सहित)

आवरण सौजन्य

विद्या बाल मंडली सोसायटी, मेरठ

श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ साहित्य रत्न माला का १२१ वाँ स्तंभ

आचारांग सूत्र

प्रथम श्रुतस्कन्ध

(शुद्ध मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ एवं विवेचन सहित)

सम्पादक

नेमीचन्द्र बांठिया

पारसमल चण्डालिया

प्रकाशक

श्री अखिल भारतीय सुधर्म

जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर

शाखा-नेहरू गेट बाहर, ब्यावर-३०५६०१

☎ : (०१४६२) २५१२१६, २५७६६६

द्रव्य सहायक
उदारमना डागा परिवार, जोधपुर
प्राप्ति स्थान

१. श्री अ. भा. सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, सिटी पुलिस, जोधपुर 2626145
२. शाखा-अ. भा. सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, नेहरू गेट बाहर, ग्यावर 251216
३. महाराष्ट्र शाखा-माणके कपाउंड, दूसरी मंजिल आंबेडकर पुतले के बाजू में, मनमाड
४. श्री जशवन्तभाई शाह एदुन बिल्डिंग पहली धोबी तलावलेन पो० बाँ० नं० 2217, बम्बई-2
५. श्रीमान् हस्तीमल जी किशनलालजी जैन प्रीतम हाऊ० कॉ० सोसा० ब्लॉक नं० १०
स्टेट बैंक के सामने, मालेगांव (नासिक) 252097
६. श्री एच. आर. डोशी जी-३६ बस्ती नारनौल अजमेरी गेट, दिल्ली-६ 23233521
७. श्री अशोकजी एस. छाजेड़, १२१ महावीर क्लॉथ मार्केट, अहमदाबाद 5461234
८. श्री सुधर्म सेवा समिति भगवान् महावीर मार्ग, बुलडाणा
९. श्री श्रुतज्ञान स्वाध्याय समिति सांगानेरी गेट, भीलवाड़ा 236108
१०. श्री सुधर्म जैन आराधना भवन २४ ग्रीन पार्क कॉलोनी साउथ तुकोगंज, इन्दौर
११. श्री विद्या प्रकाशन मन्दिर, ट्रांसपोर्ट नगर, मेरठ (उ. प्र.)
१२. श्री अमरचन्दजी छाजेड़, १०३ वाल टेक्स रोड, चैन्नई 25357775
१३. श्री संतोषकुमार बोथरा वर्द्धमान स्वर्ण अलंकार ३६४, शांतिग सेन्टर, कोटा 2360950

मूल्य : ३०-००

द्वितीय आवृत्ति

१०००

वीर संवत् २५३२

विक्रम संवत् २०६३

नवम्बर २००६

मुद्रक - स्वास्तिक प्रिन्टर्स प्रेम भवन हाथी भाटा, अजमेर 2423295

निवेदन

जैन दर्शन आचार प्रधान दर्शन रहा। आज के तथाकथित सर्व विरति साधक वर्ग ने तरह-तरह की विकृतियों को अपने जीवन में प्रवेश करा कर, इसे प्रचार प्रधान बना डाला है जो जैन दर्शन की मान्यता के अनुरूप नहीं है। इसका यह मतलब कतई नहीं कि यह दर्शन प्रचार का निषेध करता है। सर्व विरति साधक यानी साधु-साध्वी को अपने स्वीकृत महाव्रतों को पूर्णरूपेण सुरक्षित रखते हुए जितना अधिक से अधिक धर्म का प्रचार-प्रसार उनसे हो सके उतना अवश्य करना चाहिये। किन्तु अपने स्वीकृत नियमों में दोष लगाकर जनता को उपकृत करना, यह जैन दर्शन को कतई मंजूर नहीं है। यह तो ठीक वैसा ही है जैसा कि अपनी झोपड़ी को जला कर दूसरे की सदीं को शान्त करना। झोपड़ी के सुरक्षित रहने पर तो वह अपनी तथा जितने झोपड़ी में समावे उतने पुरुषों की सदीं से सुरक्षा कर सकता था, पर झोपड़ी जला देने पर स्वयं असहाय बन जायेगा। अतः अपने गृहित व्रतों में दोष लगा कर लोगों को उपकृत करना स्वयं को अनाथ बनाने जैसा है। ज्ञानियों की दृष्टि में अपने स्वीकृत व्रतों में दोष लगाना अनाथ बनाने जैसा है। इसके लिए उत्तराध्ययन सूत्र का महानिर्गृहीय नामक २० वां अध्ययन निहारा जा सकता है।

आगमकार मनीषियों ने संसार त्याग कर प्रव्रजित होने के जो कारण बतलाये उनमें से कुछ उदाहरण के रूप यहाँ उपस्थित किये जा रहे हैं।

१. “इच्छेयाइं पंचमहठ्वयाइं राइभोयणवेरमण छट्ठाइं अत्तहियट्ठाए उवसंपजित्ताणं विहरामि” (दशवैकालिक अध्ययन ४)

अर्थात् ये पांच महाव्रत और छठा रात्रि भोजन त्याग व्रत में आत्महितार्थ ग्रहण करता हूँ। तात्पर्य यह कि संसार त्याग कर प्रव्रजित होने का एक मात्र ध्येय आत्महित, आत्मशुद्धि, आत्मशान्ति एवं आत्मस्थिरता है।

२. धर्मोपदेश करने वाले साधु को सावधान करते हुए भगवान् फरमाते हैं कि हे साधु! तू धर्म का उपदेश करे तो -

“अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे णो अत्ताणं आसाइजा, णो परं आसाइजा णो अण्णाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं आसाइजा” (आचारांग १-६-५)

भावार्थ - धर्मोपदेश करते हुए अपनी आत्मा की आशातना नहीं करे, उपेक्षा नहीं करे- आत्मदृष्टि को नहीं भूले अर्थात् स्वीकृत नियमों में दोष नहीं लगावे, न पर प्राण भूतादि की आशातना करे।

३. संयम में सावधान मुनि किस प्रकार विचरे - “एवं से उट्टिए ठियप्पा अणिहे अचले चले अबहिल्लेसे” (आचारांग १-६-५)।

भावार्थ - संयम में सावधानमुनि आत्मस्थित, रागद्वेष रहित, परिषर्हों के उपस्थित होने पर अचल, अप्रतिबद्ध विहारी और संयम मर्यादा के बाहर विचार नहीं करता हुआ विचरे।

४. “अहम्मे अत्तपण्णाहा...पावसमणे त्ति वच्चई” (उत्तराध्ययन सूत्र १७-१२) आत्म-प्रज्ञा को हानि करने वाला अर्थात् व्रतों में दोष लगाने वाला अधर्मी पाप श्रमण है।

इस प्रकार एक नहीं अनेक नमूने आगमों में भरे पड़े हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन में साधक का एक मात्र लक्ष्य आत्म-शोधन करना ही बतलाया गया है। यही कारण है कि जैन आगम साहित्य में आचारांग सूत्र को प्रथम स्थान दिया गया है। क्योंकि संघ व्यवस्था में सर्व प्रथम आचार (आचरण) की व्यवस्था आवश्यक ही नहीं अपितु प्रभु ने अपने केवलज्ञान में अनिवार्य समझी। श्रमण के साधना जीवन में आचार का कितना महत्त्व है इसका मार्मिक चित्रण प्रस्तुत आचारांग सूत्र में किया गया है। आचारांग निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट कहा है-मुक्ति का अव्याबाध सुख प्राप्त करने का मूल, आचार है। अंगों का सार तत्त्व आचार में रहा हुआ है। यह मोक्ष का साक्षात् कारण होने से इसे सम्पूर्ण जिन वचनों की आधारशिला कहा गया है।

किसी जिज्ञासु ने आचार्य भगवन् से प्रश्न किया कि सभी अंग सूत्रों का सार आचार कहा गया है तो आखिर आचार का सार क्या है? आचार्य ने जिज्ञासु की जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार किया -

अंगाणं किं सारो? आचारो तस्स हवइ किं सारो।

अणुओगत्थो सारो तस्स वि य परूवणा सारो॥

सारो परूवणाए चरणं तस्स वि य होय निव्वाणं।

निव्वाणस्स उ सारो अव्वाबाहं जिणाविति॥

भाषार्थ - आचार का सार अनुयोगार्थ है, अनुयोग का सार प्ररूपणा है। प्ररूपणा का सार सम्यक् चारित्र है और सम्यक् चारित्र का सार निर्वाण है, निर्वाण का सार अव्याबाध सुख है। यह आचार, मुक्ति महल में प्रवेश करने का भव्य द्वार है। यह आत्मा पर लगे अनादि काल के मैल को नष्ट करने वाला है।

जीव आत्मा अनादि अनन्त काल से कर्म बन्धन से बन्धी हुई है। इसका प्रमुख कारण राग द्वेष सहित जीव हिंसा का आचरण है। जब तक जीवात्मा जीव हिंसा का पूर्ण रूप से त्याग नहीं करता तब तक उसके संसार परिभ्रमण की परम्परा रुक नहीं सकती। भ्रमण जीवन में हिंसा का पूर्ण रूपेण तीन करण और तीन योग से त्याग हो जाता है। इस अवस्था में वह लोक में रहे हुए समस्त जीवों का चाहे वे सूक्ष्म अथवा बादर हैं उनका स्वरूप समझ कर उनकी रक्षा करने का संकल्प करता है। इसके पीछे मूल कारण यदि देखा जाय तो इस विराट लोक में जितने भी जीव हैं उन्हें सुखप्रिय है, कोई भी जीव दुःखी होना नहीं चाहता। अतएव जो भी व्यक्ति जीवों के दुःख परिताप का निमित्त बनता है वह महान् कर्मों का बंध करता है। इसका सुन्दर स्वरूप आचारांग सूत्र में बतलाया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में सर्व प्रथम पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय का स्वरूप बतलाया गया है और यह स्पष्ट किया है कि इन जीवनिकायों की हिंसा मानव अपने स्वार्थ के लिए, पारिवारिकजनों के लिए अथवा अपनी प्रतिष्ठा के लिए करता है, वह हिंसा उसके महान् कर्मों के बन्ध एवं संसार परिभ्रमण का कारण है। अतएव तीर्थंकर भगवन्तों ने किसी भी जीव की हिंसा न करने का उपदेश फरमाया। क्योंकि मौलिक रूप से सभी आत्माएं समान स्वभाव वाली है। किन्तु कर्मों के कारण उसके दो रूप बन जाते हैं। एक कर्म सहित संसारी आत्मा, दूसरी कर्म रहित मुक्त आत्मा। आत्मा तभी मुक्त बनता है जब वह कर्म रहित बनता है। इसलिए कर्म विघात के मूल साधन आचारांग में प्राप्त होते हैं।

प्रस्तुत आचारांग सूत्र में प्रभु महावीर स्वामी ने लोक को तीन भागों में विभक्त कर उसके स्वरूप का निरूपण किया है। ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। अधोलोक में दुःख की प्रधानता है। मध्यलोक में दुःख और सुख की मध्यम स्थिति है, न सुख की उत्कृष्टता है और न दुःख की। ऊर्ध्वलोक में सुख की प्रधानता है, इसके अलावा लोक का अन्तिम स्थान ऐसा है जहाँ मुख्यतः मुक्त आत्माएं निवास करती हैं। ऊर्ध्वलोक देव प्रधान, मध्य लोक मानव प्रधान

 एवं अधोलोक नरक प्रधान क्षेत्र है। मध्यलोक, एक ऐसा स्थान है जहाँ से जीव ऊर्ध्वलोक एवं अधोलोक दोनों स्थानों पर जा सकता है। उत्कृष्ट पाप करने वाला नरक क्षेत्र में नैरयिक बन कर उत्पन्न होता है। पुण्य का उपार्जन करने वाला जीव उन पुण्यों के फल को भोगने के लिए स्वर्ग में उत्पन्न होता है। पर ऊर्ध्वलोक में उत्पन्न हुआ वहाँ से सीधा चव कर नारकी में उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार नीचे लोक का नैरयिक काल करके सीधा ऊर्ध्वलोक में उत्पन्न नहीं होता। मात्र मध्यलोक ही एक ऐसा स्थान है जहाँ से जीव सीधा ऊर्ध्वलोक, नीचालोक और मध्यलोक तीनों स्थानों में उत्पन्न हो सकता है और यदि उत्कृष्ट साधना करे तो सम्पूर्ण कर्मों को क्षय करके सिद्धत्व को भी प्राप्त कर सकता है।

आचारांग सूत्र आचार प्रधान होने से इसका स्थान अंग शास्त्रों में प्रथम है। अतएव इसके अर्थ के प्ररूपक स्वयं तीर्थंकर भगवान् महावीर प्रभु थे और सूत्र के रचयिता पंचम गणधर सुधर्मा स्वामी है। यह तो सर्व विदित है कि प्रभु अर्थ रूप में देशना फरमाते हैं। तत्पश्चात् प्रत्येक गणधर अपनी-अपनी भाषा शैली में उनका सूत्र रूप में निर्माण करते हैं। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे और नौ गण थे। ग्यारह गणधरों में आठवें और नौवें तथा दशवें और ग्यारहवें गणधरों की सम्मिलित वाचनाएं हुईं। जिसके कारण नव गण कहलाये। भगवान् महावीर की मौजूदगी में नौ गणधर मोक्ष पधार गये थे। इन्द्रभूति और सुधर्मा स्वामी शेष रहे, उनमें इन्द्रभूति गौतम गणधर को भगवान् के निर्वाण के बाद केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त हो गया था, जिसके कारण जो भी अंग साहित्य वर्तमान में उपलब्ध है वह गणधर सुधर्मा स्वामी कृत है।

आचार्य शय्यम्भव द्वारा रचित दशवैकालिक सूत्र से पूर्व नव दीक्षित साधु साध्वियों के लिए आचारांग सूत्र का अध्ययन सर्वप्रथम करना आवश्यक था क्योंकि यह साधु साध्वी के आचार को बतलाने वाली कुंजी है। इसके अध्ययन के बिना साध्वाचार का पालन संभव नहीं। आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययन हैं और दूसरे श्रुतस्कन्ध में सोलह अध्ययन और दो चूला हैं। इस प्रकार दोनों श्रुतस्कन्ध में पच्चीस अध्ययन हैं। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा शैली एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा शैली बिलकुल भिन्न है। जिसके कारण कई विचारकों की यह धारणा बनी हुई है कि इन दोनों के रचयिता भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। पर आगम साहित्य के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखने वालों का यह स्पष्ट अभिमत है कि दोनों श्रुतस्कन्धों के रचयिता एक ही व्यक्ति है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में तात्त्विक-निवेदन की प्रधानता होने



से इसकी सूत्र शैली में उसकी रचना की गई। जिसके कारण इसकी भाषा शैली में क्लिष्टता आयी है। जबकि द्वितीय श्रुतस्कन्ध में साधना के रहस्य को व्याख्यात्मक दृष्टि से समझाया गया है। इसलिए इसकी शैली बिलकुल सुगम और सरल रखी गई है। आधुनिक युग में भी प्रायः देखा जाता है कि जब कोई लेखक दार्शनिक विषय पर चिंतन करता है तो उसकी भाषा शैली गंभीरता लिए हुए होती है और जब वही लेखक बाल साहित्य लिखता है तो उसकी भाषा शैली अलग ही होती है। यही बात प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के बारे में समझनी चाहिये। आचारांग सूत्र में गद्य और पद्य दोनों शैली का समीक्षण है।

जैनागमों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। समवायांग सूत्र में इनका वर्गीकरण पूर्व और अंग के रूप में मिलता है, दूसरा वर्गीकरण अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य के रूप में किया गया है, तीसरा और सबसे अर्वाचीन वर्गीकरण अंग, उपांग, मूल और छेद रूप में है, जो कि वर्तमान में प्रचलित है।

११ अंग :- आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अन्तकृतदसा, अनुत्तरौपातिक, प्रश्नव्याकरण एवं विपाक सूत्र।

१२ उपांग :- औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, निरियावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशासूत्र।

४ छेद :- दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ सूत्र।

४ मूल :- उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोग द्वार सूत्र।

१ आवश्यक :-

कुल ३२

प्रस्तुत आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में नौ अध्ययन हैं जिनका संक्षेप में सार इस प्रकार है-
शस्त्र परिज्ञा नाम प्रथम अध्ययन - जिसके द्वारा जीवों की हिंसा अथवा घात होती है उसे 'शस्त्र' कहा गया है। आगम में शस्त्र के दो भेद किये गये हैं। द्रव्य शस्त्र जैसे तलवार, चाकू, छूरी आदि। दूसरा है भाव शस्त्र, मन वचन काया के अशुभ योगों (विचारों) को भाव शस्त्र कहा गया है। इस प्रथम अध्ययन में भाव शस्त्रों की जानकारी दी गई

है। इसमें बतलाया गया है ज्ञपरिज्ञा अर्थात् अशुभ योगादि से होने वाले कर्म बन्ध के कारणों को जानो एवं प्रत्याख्यान प्ररिज्ञा से उनका त्याग करो। प्रथम अध्ययन में सात उद्देशक हैं।

प्रथम उद्देशक - जिस जीव के ज्ञानावरणीय कर्म का सघन उदय होता है वह यह नहीं जान पाता है कि मैं पूर्वभव में किस गति में था और यहाँ कहां से आया हूँ? पर जब ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जाति स्मरण ज्ञान, अवधिज्ञान अथवा मनःपर्यय ज्ञान हो जाता है अथवा गुरु आदि के उपदेश से जब जीव यह जान लेता है कि मैं पूर्वभव में अमुक था और यहाँ से मृत्यु को प्राप्त कर अमुक स्थान पर उत्पन्न हुआ हूँ। इस प्रकार जो व्यक्ति आत्मा के इस स्वरूप को जान लेता है वह “आत्मवादी” कहलाता है। जो आत्मा के स्वरूप को जान लेता है, वह लोक के स्वरूप को जान लेता, जो लोक के स्वरूप को जानता है, वह कर्म के स्वरूप को जान लेता है। क्योंकि जीव के लोक में परिभ्रमण का कारण कर्म ही है। जो कर्मों का स्वरूप जानता है। वह कर्म बन्ध के कारण भूत क्रिया को जान लेता है। इसलिए इस अध्ययन में आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले को आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी कहा है।

दूसरा उद्देशक - इस उद्देशक में पृथ्वीकायिक जीवों का स्वरूप बताकर उनकी हिंसा नहीं करने का उपदेश फरमाया। साथ ही यह बतलाया गया है कि जो साधु अथवा साध्वी पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करते, करवाते अथवा करने वाले का अनुमोदन भी करते हैं वे वास्तव में जैन साधु साध्वी नहीं किन्तु गृहस्थ के समान सावद्य क्रिया करने वाले हैं।

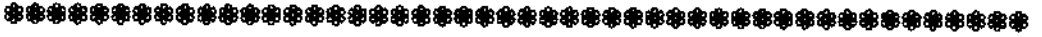
पृथ्वीकाय का आरंभ जीव क्यों करता है? इसके लिए बतलाया गया है कि जीव अपने इस जीवन को नीरोग और चिरंजीवी बनाने के लिए, मान, पूजा, प्रतिष्ठा प्रशंसा के लिए, जन्म मरण से छूटने के लिए अथवा दुःखों का नाश करने के लिए वह इसका आरम्भ करता है। प्रभु फरमाते हैं यह पृथ्वीकाय का आरम्भ, आरम्भ करने वाले जीव के लिए बोधि (सम्यक्त्व) नाश का कारण, मृत्यु का कारण, नरक का कारण है, क्योंकि पृथ्वीकाय

के आरम्भ में मात्र पृथ्वीकाय के जीवों की ही हिंसा नहीं होती प्रत्युत उसके नेत्राय में रहे हुए अनेक वनस्पतिकाय, अप्काय यावत् त्रसकाय तक की हिंसा होती है। अतएव प्रभु ने पृथ्वीकाय की हिंसा करने का पूर्ण निषेध किया है।

शिष्य प्रश्न करता है कि पृथ्वीकायिक जीव देखता नहीं, सुंघता नहीं, बोलता नहीं, चलता-फिरता नहीं, फिर उसे वेदना किस प्रकार होती है? उत्तर में प्रभु फरमाते हैं - पूर्व अशुभ कर्म के उदय के कारण कोई पुरुष मृगापुत्र के समान जन्मान्ध, बधिर-बहरा, मूक-गूंगा, कोढ़ी, पंगु और हाथ पैरों से रहित हो और उस व्यक्ति को अन्य कोई व्यक्ति उसके अवयवादि आदि का छेदन करे, मारे पीटे तो यद्यपि वह व्यक्ति बोलता नहीं, चलता नहीं, रोता नहीं परन्तु दुःख का अनुभव करता है, इसी तरह पृथ्वीकायिक जीव को खोदने, छेदन, भेदन करने पर उसे भयंकर दुःख का अनुभव होता है। इसलिए प्रभु ने इसके आरंभ का निषेध किया है।

तीसरा उद्देशक - इस उद्देशक में प्रभु ने अप्काय - पानी के जीवों का स्वरूप बताकर उसकी हिंसा न करने के उपदेश फरमाया है। जो लोग पानी में जीवों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते प्रभु ने उन्हें 'मृषावादी' कहा है। इतना ही नहीं जो पुरुष अप्काय जीवों के अस्तित्व का अपलाप करता है उसे स्वयं की आत्मा का 'अपलापक' कहा है। इससे साथ ही अप्काय का आरम्भ जीव क्यों करता है? इसका फल क्या होता है? इत्यादि सारा वर्णन पृथ्वीकाय के समान जानना चाहिये।

चौथा उद्देशक - इस उद्देशक में अग्निकाय का वर्णन है। संसार में जितने भी एकेन्द्रिय जीव हैं उन सब में वनस्पतिकाय की अवगाहना सबसे अधिक यानी १००० योजन झाड़ेरी है। इसलिए उसे 'दीर्घलोक' कहा है। चूंकि अग्निकाय उस दीर्घकाय को जला डालती इसलिए अग्निकाय को "दीर्घलोक शस्त्र" कहा है। प्रभु ने इसे समस्त प्राणियों का घातक शस्त्र कहा है। प्रभु ने अग्निकाय के आरंभ करने वाले को समस्त प्राणियों को दण्ड देने वाला



बतलाया है क्योंकि अग्निकाय के आरम्भ में छह ही काय की हिंसा होना बतलाया है। इसके आरम्भ करने के क्या कारण हैं? इसके आरंभ करने वाले को इसका फल क्या भोगना पड़ता है? वह पृथ्वीकाय के समान समझना चाहिये।

पांचवां उद्देशक - इस उद्देशक में वनस्पतिकायिक जीवों का वर्णन है। इसमें वनस्पतिकाय जीवों की हिंसा के कारण और इससे होने वाले कटु फल आदि सभी का वर्णन है उक्त वर्णन अन्य स्थावरकाय के समान समझना चाहिये, विशेषता इतनी है कि वनस्पतिकायिक जीवों की तुलना मनुष्य से की है। उसके जन्म, बढ़ने, चेतना, आहार, आहार के अभाव में शरीर क्षीण दुर्बल होने आदि बताकर मानव जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया गया है।

छठा उद्देशक - इस उद्देशक में आठ प्रकार के त्रस प्राणी बता कर उनकी हिंसा न करने का प्रभु ने उपदेश दिया है। आठ प्रकार के जीवों में अंडों से उत्पन्न होने वाले, पोतज अर्थात् चर्ममय थैली से उत्पन्न होने वाले, जरायुज - जरायु के साथ उत्पन्न होने वाले, रसज - विकृत रस में उत्पन्न होने वाले, संसेइमा - पसीने से उत्पन्न होने वाले, समुच्छिमा - बिना माता पिता के संयोग से उत्पन्न होने वाले, उन्भियया - जमीन फोड़ कर उत्पन्न होने वाले, उववाइया-उपपात - शय्या अथवा नारकी में उत्पन्न होने वाले। प्रभु ने अपने हिताहित का विचार न करने वाले व्यक्ति को मंद अज्ञानी कहा है जो जीवहिंसादि करके बार-बार संसार में जन्म-मरण करता रहता है।

सातवां उद्देशक - इस उद्देशक में वायुकायिक जीवों की हिंसा करने का निषेध किया गया। कई व्यक्ति वायुकाय को सचित्त नहीं मानते हैं। किन्तु प्रभु ने अपने केवल ज्ञान में जानकर वायुकाय सचित्त बताई है। इसकी हिंसा करने वाले को अन्य पांच काय की हिंसा के समान अहितकर एवं अबोधि का कारण बतलाया है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण अध्ययन में षट् जीवनिकाय का स्वरूप बताया है अतः उनका समारंभ स्वयं न करे, न करावें एवं न ही करने वाले की अनुमोदना भी करे।



लोक विजय नामक दूसरा अध्ययन - इस अध्ययन का नाम 'लोक विजय' रखा गया है। यहाँ 'लोक' से आशय रागादि कषाय और शब्दादि विषय लिया गया है। क्योंकि संसार का मूल कारण रागादि कषाय है, ये जन्म-मरण के मूल को सिंचने वाले हैं।

“**चत्तारि ए कसिणा कसाया, सिंचन्ति मूलाङ्गं पुणब्भवस्स**” अर्थात् - ये चारों कषाय पुनर्भव जन्म-मरण की जड़ को सिंचते हैं। इसके छह उद्देशक हैं -

प्रथम उद्देशक - संसार का स्वरूप, शरीर की अनित्यता, क्षणभंगुरता, पारिवारिकजनों की अशरणता का चित्रण कर यह दर्शाया गया है कि जब तक इन्द्रियाँ रोगग्रस्त न होती उनकी शक्ति क्षीण नहीं होती तब तक मानव को आत्म-कल्याण में प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

दूसरा उद्देशक - साधु जीवन अंगीकार करके अपनी अज्ञानता के कारण इस लोक और परलोक के सुखों के लिए लोभ में पड़ जाते हैं और संयम की शुद्ध आराधना नहीं करते वे अपना यह भव, परभव दोनों भव बिगाड़ देते हैं।

तीसरा उद्देशक - इस उद्देशक में बतलाया गया है कि विवेकशील मनुष्य को उच्च गोत्र प्राप्त होने पर हर्ष और नीच गोत्र प्राप्त होने पर कुपित नहीं होना चाहिये क्योंकि जीव अपने कर्मों के अनुसार विविध योनियों में उत्पन्न होते हैं कभी उच्च और कभी नीच गोत्र आदि।

चौथा उद्देशक - इस उद्देशक में भोगों को रोगों का कारण बतलाया गया है। इनमें आसक्त प्राणी को अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। साथ ही बतलाया गया है कि अनेक कष्टों को सहन कर उसके द्वारा उपार्जित धन उसे व्याधि से मुक्त नहीं करा सकता है। इसलिए रोग अथवा दुःख की उत्पत्ति होने पर विद्वान् पुरुष को कभी किसी प्रकार की उदासीनता नहीं लानी चाहिये।

पांचवां उद्देशक - इस उद्देशक में साधु को गृहस्थ के यहाँ से निर्दोष आहार-पानी ग्रहण करके संयम का निर्वाह करना चाहिये, साथ ही किसी वस्तु पर ममत्व भाव नहीं रखने एवं शास्त्रोक्तरीति से संयम का पालन करने तथा विषयभोगों के कटु परिणाम को जानकर उनका त्याग करने का कहा है।

छठा उद्देशक - इस उद्देशक में बतलाया गया है कि साधु को किसी प्रकार का सावध



(पापकारी) कार्य न करना चाहिये, न दूसरों से करवाना चाहिये, न करते हुए की अनुमोदना करनी चाहिये। साथ ही यह बतलाया गया है कि एक आस्रव का सेवन करने वाला, सभी आस्रवों का सेवन करने वाला, एक काय की हिंसा करने कराने वाला सभी काय की हिंसा करने वाला माना गया है। तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा का यथोचित् पालन करने वाला ही आराधक होता है।

शीतोष्णीय नामक तीसरा अध्ययन - 'शीत' का अर्थ यहाँ अनुकूल और उष्ण का अर्थ प्रतिकूल किया गया है। मोक्षार्थी साधु को अपने साधनाकाल में अनेक अनुकूल और प्रतिकूल परीषह आते रहते हैं उन्हें उसे समभाव से सहन करना चाहिये। इसके चार उद्देशक हैं।

प्रथम उद्देशक में सुप्त और जागृत की चर्चा की गई है। आगम में सुप्त और जागृत के दो भेद किये हैं। एक द्रव्य रूप से सुप्त और दूसरा भाव रूप से सुप्त। मिथ्यात्व एवं अज्ञान दशा को ज्ञानियों ने भाव से सुप्त कहा वे जागते हुए भी ज्ञानियों की दृष्टि में सुप्त है। जबकि उत्तम ज्ञान, दर्शन, चारित्र के मोक्षार्थी साधक द्रव्य से सुप्त होते हुए भी ज्ञानियों की दृष्टि में भाव से जागृत हैं।

दूसरा उद्देशक - इस उद्देशक में प्रभु महावीर स्वामी गौतम स्वामी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं - हे आर्य! तुम जन्म मरण के दुःखों को देखो, जिस प्रकार सुख तुम्हें प्रिय है उसी प्रकार संसार के समस्त जीवों को सुखप्रिय है। ऐसा समझ कर कोई ऐसा कार्य मत करो जिससे दूसरों प्राणियों को दुःख हो।

तीसरा उद्देशक - इस उद्देशक में बताया है कि जीव को मनुष्य भव, उत्तम कुल, धर्म श्रवण आदि दुर्लभ अंगों को प्राप्त करके आत्म-कल्याण की ओर प्रवृत्ति करने में किञ्चित्मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। संयमी साधक को परीषह आने पर समभाव से सहन करना चाहिये।

चौथा उद्देशक - जो साधक सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र सहित संयम का पालन करता है वह आठ कर्मों को क्षय करके मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।



सम्यक्त्व नामक चौथा अध्ययन - इस अध्ययन में सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप भाव सम्यक्त्व का स्वरूप समझाया गया है। इसी भाव सम्यक्त्व के परिप्रेक्ष्य में चारों उद्देशकों में वस्तु तत्त्व का सम्मोक्षण प्रतिपादन किया गया है।

लोकसार नामक पांचवां अध्ययन - सम्यक्त्व और ज्ञान का फल चारित्र है और चारित्र मोक्ष का कारण है जो कि लोक का सार है। अतः इस अध्ययन में लोक का सार चारित्र का वर्णन किया गया है। संसारी लोग धन को जुटाने, कामभोग के साधन जुटाने, शरीर की सुखसुविधा जुटाने आदि में ही लोक का सार समझते हैं। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि में ये सब पदार्थ सारहीन, क्षणिक एवं नाशवान हैं। आत्मा को पराधीन बनाने वाले और अनन्त दुःख परम्परा को बढ़ाने वाले हैं। ज्ञानियों की दृष्टि में ये सब निस्सार हैं। सार वस्तु तो सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप है। जिसमें अनन्त अव्याबाध सुख रहा हुआ है। तीन लोक का यदि कोई सार है तो वह शुद्ध संयम के पालन में है क्योंकि इसके द्वारा मोक्ष प्राप्त होने वाला है। इस अध्ययन के छह उद्देशक हैं।

धृताख्य नामक छठा अध्ययन - पांचवें अध्ययन में लोक में सारभूत संयम और मोक्ष बतलाया गया है। मोक्ष की प्राप्ति निःसंग हुए बिना और कर्मों का क्षय किये बिना नहीं होती है। इस अध्ययन में कर्मों के विधूनन का यानी क्षय करने का उपदेश दिया गया है। इस अध्ययन के पांच उद्देशक हैं। प्रत्येक उद्देशक में भावधूत (कर्मक्षय करने के विभिन्न पहलुओं पर जैसे स्वजन परित्याग, साधु जीवन उपकरणों पर से ममता हटाना, यथाशक्ति कायाक्लेश करना, उपसर्ग परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करना आदि) पर चर्चा की गई है।

महापरिज्ञा नामक सातवां अध्ययन - नंदी सूत्र की मलयगिरि टीका और निर्युक्ति के अनुसार यह सातवां अध्ययन है। इसके सात उद्देशक हैं। वर्तमान में यह अध्ययन विच्छिन्न है। वैसे महापरिज्ञा का अर्थ महान्-विशिष्ट ज्ञान के द्वारा मोह जनित दोषों को जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनका त्याग करना। तात्पर्य यह है कि साधक मोह उत्पन्न करने वाले कारणों को जानकर उनको क्षय करने के लिए महाव्रत, समिति गुप्ति, परीषह उपसर्ग सहनरूप तितिक्षा, विषय कषाय विजय, बाह्य-आभ्यंतर तप, संयम एवं आत्मालोचन आदि को स्वीकार करे, यही महापरिज्ञा है।

विमोक्ष नामक आठवां अध्ययन - सातवां अध्ययन महापरिज्ञा जो वर्तमान में विच्छिन्न है, जिसमें मोह जनित दोषों को जानकर उन्हें छोड़ने का कहा है इस



अध्ययन में आत्मा को बन्धन में डालने वाले कषाय अथवा आत्मा के साथ लगे कर्मों के बन्धन से मुक्त होने वाले भाव विमोक्ष का प्रतिपादन किया गया है। इसके आठ उद्देशक हैं।

उपधानश्रुत नामक नववां अध्ययन - इस अध्ययन में भगवान् महावीर की दीक्षा से लेकर निर्वाण तक की मुख्य-मुख्य घटनाओं का वर्णन है। इसके चार उद्देशक हैं जिसमें भगवान् के तपोनिष्ठ संयम साधना का मार्मिक चित्रण किया गया है। उन्होंने अपने निकाचित कर्मों को क्षय करने के लिए अनार्यक्षेत्र में विचरण किया जहाँ उन्हें घोर उपसर्ग परीषहों को सहन करना पड़ा।

इस प्रकार संक्षिप्त में आचारांग प्रथम सूत्र का यह परिचय है। विज्ञ लोगों को विस्तृत अध्ययन करने के लिए सूत्र का गहराई से पारायण करना चाहिये। संघ की आगम बत्तीसी प्रकाशन योजना के अर्न्तगत इसका प्रकाशन किया जा रहा है। इस श्रुतस्कन्ध का अन्वय युक्त शब्दार्थ और भावार्थ प्रकाशन छोटी साईज में हो रखा है। जिसके अनुवादक पं० श्री घेवरचन्दजी बांढिया "वीरपुत्र" जैन सिद्धान्त शास्त्री न्यायतीर्थ व्याकरणतीर्थ थे किन्तु उसमें विवेचन एवं व्याख्या सीमित होने से संघ की आगम प्रकाशन पद्धति के अनुरूप मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ एवं विवेचन युक्त इसका प्रकाशन किया जा रहा है। इसका अनुवाद सम्यग्दर्शन के सह सम्पादक श्री पारसमलजी सा. चण्डालिया ने किया। इसके लिए मूल पाठ के लिए संघ द्वारा प्रकाशित अंगपविट्ट सुत्ताणि एवं मूर्तिपूजक संत श्री जम्बूविजयजी की प्रति का एवं विवेचन के लिए मधुकर जी की प्रति एवं टीका का आधार लिया गया। अनुवाद के पश्चात् इस आगम का अवलोकन करने हेतु गत चातुर्मास में दुर्ग विराजित पूज्य श्री लक्ष्मीमुनि जी म. सा. को भेजा। जिन्होंने श्रुतधर पंडित रत्न श्री प्रकाशचन्दजी म. सा. की आज्ञा से इसे सुनने की कृपा की और जहाँ आगमिक धारणा संबंधी संशोधन की आवश्यकता महसूस हुई योग्य सुधार करवाया। इस सूत्र को मूक सेवाभावी श्री किशोरजी सराफ, दुर्ग एवं श्री रोशनजी सोनी, दुर्ग ने अपने व्यस्त कार्यों में से समय निकाल कर वहाँ विराजित पू० श्री लक्ष्मीमुनि जी म. सा. को सुनाने की कृपा की। अतः संघ पूज्य श्री श्रुतधर पं. र. श्री प्रकाशचन्दजी म. सा., श्री लक्ष्मीमुनि जी म. सा. के साथ आपका भी आभार मानता है।

पूज्य श्री जी के अवलोकन के पश्चात् पुनः यहाँ मूल पाठ का मिलान एवं पुनः अवलोकन किया गया है। मेरा स्वास्थ्य ठीक न होने पर भी मैंने इसका अवलोकन किया। बावजूद इसके छद्मस्थ होने के कारण हम भूलों के भण्डार रहे हुए हैं। अतः समाज के सुश विद्वान् समाज के



श्री चरणों में हमारा निवेदन है कि इस आगम का अवलोकन करावें, इस आगम के मूल पाठ, अर्थ, अनुवाद, विवेचन आदि में कहीं पर भी कोई अशुद्धि, गलती आदि दृष्टिगोचर हो तो हमें सूचित करने की कृपा करावें। हम उनके आभारी होंगे और अगले संस्करण में यथायोग्य संशोधन करने का ध्यान रखेंगे।

इस प्रकाशन के आर्थिक सहयोगी स्वर्गीय दानवीर सेठ श्री वल्लभचन्दजी सा. डागा, जोधपुर के पाँचों पुत्र रत्न सर्वश्री हुकमचन्दजी सा., इन्द्रचन्दजी सा., प्रसन्नचन्दजी सा. विमलचन्दजी सा., ऋषभचन्दजी सा. डागा हैं। सभी पुत्र रत्न धार्मिक संस्कारों से संस्कारित और अपने पूज्य पिताश्री के पदचिन्हों पर चलने वाले हैं। सभी की भावना है कि सेठ सा. द्वारा जो शुभ प्रवृत्तियाँ चालू थी वे सभी निरन्तर चालू रखी जाय। तदनुसार आगम प्रकाशन के आर्थिक सहयोग में भी आप सदैव तैयार रहते हैं। मेरे निवेदन पर आप सभी ने इस प्रकाशन के आर्थिक सहयोग के लिए स्वीकृति प्रदान कर उदारता का परिचय दिया। इसके लिए समाज आपका आभारी है।

आपकी उदारता एवं धर्म भावना का संघ आदर करता है। आपने प्रस्तुत आगम पाठकों को अर्द्ध मूल्य में उपलब्ध कराया। उसके लिए संघ एवं पाठक वर्ग आपका आभारी है।

आचारांग सूत्र भाग १ की प्रथम आवृत्ति का प्रकाशन सितम्बर २००४ में हुआ था। जो अल्प समय में ही अप्राप्य हो गई। अब इसकी यह द्वितीय आवृत्ति प्रकाशित की जा रही है। यद्यपि कागज और मुद्रण सामग्री के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि हो रही है एवं इस पुस्तक के प्रकाशन में जो कागज काम में लिया गया है वह श्रेष्ठ उच्च क्वालिटी का मेपलिथो, बाईडिंग पक्की तथा सेक्शन है बावजूद इसके उदारमन्या डागा परिवार जोधपुर के आर्थिक सहयोग के कारण इसका अर्द्ध मूल्य मात्र ३०) रुपये ही रखा गया है। जो अन्यत्र स्थान से प्रकाशित आगमों से अति अल्प है।

सुश पाठक बंधु इस द्वितीय आवृत्ति का अधिक से अधिक लाभ उठावें। इसी शुभ भावना के साथ!

ब्याचर (राज.)

दिनांक: ४-११-२००६

संघ सेवक

नेमीचन्द बांठिया

अ. भा. सु. जैन सं. र. संघ, जोधपुर

अस्वाध्याय

निम्नलिखित बत्तीस कारण टालकर स्वाध्याय करना चाहिये।

आकाश सम्बन्धी १० अस्वाध्याय

१. बड़ा तारा टूटे तो-
२. दिशा-दाह *
३. अकाल में मेघ गर्जना हो तो-
४. अकाल में बिजली चमके तो-
५. बिजली कड़के तो-
६. शुक्ल पक्ष की १, २, ३ की रात-
७. आकाश में यक्ष का चिह्न हो-
- ८-९. काली और सफेद धूंअर-
१०. आकाश मंडल धूलि से आच्छादित हो-

काल मर्यादा

- एक प्रहर
- जब तक रहे
- दो प्रहर
- एक प्रहर
- आठ प्रहर
- प्रहर रात्रि तक
- जब तक दिखाई दे
- जब तक रहे
- जब तक रहे

औदारिक सम्बन्धी १० अस्वाध्याय

- ११-१३. हड्डी, रक्त और मांस,
१४. अभुचि की दुर्गंध आवे या दिखाई दे-
१५. श्मशान भूमि-

- ये तिर्यच के ६० हाथ के भीतर हो। मनुष्य के हो, तो १०० हाथ के भीतर हो। मनुष्य की हड्डी यदि जली या धुली न हो, तो १२ वर्ष तक।
- तब तक
- सौ हाथ से कम दूर हो, तो।

* आकाश में किसी दिशा में नगर जलने या अग्नि की लपटें उठने जैसा दिखाई दे और प्रकाश हो तथा नीचे अंधकार हो, वह दिशा-दाह है।

१६. चन्द्र ग्रहण-

खंड ग्रहण में ८ प्रहर, पूर्ण हो
तो १२ प्रहर

(चन्द्र ग्रहण जिस रात्रि में लगा हो उस रात्रि के प्रारम्भ से ही अस्वाध्याय गिनना चाहिये।)

१७. सूर्य ग्रहण-

खंड ग्रहण में १२ प्रहर, पूर्ण हो
तो १६ प्रहर

(सूर्य ग्रहण जिस दिन में कभी भी लगे उस दिन के प्रारम्भ से ही उसका अस्वाध्याय गिनना चाहिये।)

१८. राजा का अवसान होने पर,

जब तक नया राजा घोषित न
हो

१९. युद्ध स्थान के निकट

जब तक युद्ध चले

२०. उपाश्रय में पंचेन्द्रिय का शव पड़ा हो,

जब तक पड़ा रहे

(सीमा तिर्यच पंचेन्द्रिय के लिए ६० हाथ, मनुष्य के लिए १०० हाथ। उपाश्रय बड़ा होने पर इतनी सीमा के बाद उपाश्रय में भी अस्वाध्याय नहीं होता। उपाश्रय की सीमा के बाहर हो तो यदि दुर्गन्ध न आवे या दिखाई न देवे तो अस्वाध्याय नहीं होता।)

२१-२४. आषाढ़, आश्विन,

कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमा

दिन रात

२५-२८. इन पूर्णिमाओं के बाद की प्रतिपदा-

दिन रात

२९-३२. प्रातः, मध्याह्न, संध्या और अर्द्ध रात्रि-

इन चार सन्धिकालों में-

१-१ मुहूर्त

उपरोक्त अस्वाध्याय को टालकर स्वाध्याय करना चाहिए। खुले मुंह नहीं बोलना तथा सामायिक, पौषध में दीपक के उजाले में नहीं वांचना चाहिए।

नोट - नक्षत्र २८ होते हैं उनमें से आर्द्रा नक्षत्र से स्वाति नक्षत्र तक नौ नक्षत्र वर्षा के गिने गये हैं। इनमें होने वाली मेघ की गर्जना और बिजली का चमकना स्वाभाविक है। अतः इसका अस्वाध्याय नहीं गिना गया है।



विषयानुक्रमणिका

आचारांग सूत्र (प्रथम श्रुतस्कन्ध)

क्रं.	विषय	पृष्ठ	क्रं.	विषय	पृष्ठ
शास्त्र परिज्ञा नामक प्रथम अध्यायन १-६०			चतुर्थ उद्देशक		
प्रथम उद्देशक			१५.	अग्निकाय की सजीवता	३२
१.	प्रस्तावना	१	१६.	अग्नि शास्त्र और संयम अशास्त्र है	३४
२.	आत्म-बोध	३	१७.	अग्निकायिक हिंसा के कारण	३६
३.	क्रिया-बोध	७	१८.	अग्निकायिक जीव हिंसा का निषेध	३८
४.	हिंसा के हेतु	६	पांचवां उद्देशक		
द्वितीय उद्देशक			१९.	अनगार लक्षण	३९
५.	पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा	१२	२०.	संसार एवं संसार परिभ्रमण का कारण	४०
६.	हिंसा के कारण	१४	२१.	विषयासक्ति और अनासक्ति	४१
७.	पृथ्वीकायिक आदि जीवों को वेदना का अनुभव	१६	२२.	वनस्पतिकायिक जीव हिंसा	४२
८.	पृथ्वीकायिक जीवों के आरंभ का निषेध	२०	२३.	वनस्पतिकायिक हिंसा के कारण	४३
तृतीय उद्देशक			२४.	मनुष्य और वनस्पति में समानता	४४
९.	अनगार कौन?	२२	छठा उद्देशक		
१०.	साधक का कर्तव्य	२४	२५.	त्रसकाय हिंसा	४९
११.	अपकाय की सजीवता	२५	२६.	त्रसकायिक जीव हिंसा के कारण	५०
१२.	अपकायिक हिंसा के कारण	२७	२७.	त्रस जीवों की हिंसा के विविध कारण	५१
१३.	अपकाय सजीव है	२८	२८.	त्रसकाय हिंसा निषेध	५३
१४.	अपकायिक जीवों के आरंभ का निषेध	३०	सातवां उद्देशक		
			२९.	वायुकायिक जीव हिंसा निषेध	५४
			३०.	वायुकायिक हिंसा के कारण	५६

क्रं.	विषय	पृष्ठ
३१.	एक काय की हिंसा करने वाला छह काय हिंसा का भागी	५८
३२.	छह काय जीव हिंसा निषेध	६०

लोक विजय नामक दूसरा अध्ययन ६१-११७

प्रथम उद्देशक

३३.	संसार का मूल - विषयासक्ति	६१
३४.	जीवन की अशरणाता	६४
३५.	प्रमाद-परिहार	६५

द्वितीय उद्देशक

३६.	अरति-त्याग	७०
३७.	लोभ-परित्याग	७२
३८.	अर्थ लोभी की वृत्ति	७३
३९.	हिंसा के विविध प्रयोजन	७३
४०.	हिंसा-त्याग	७४
४१.	आर्य मार्ग	७५

तृतीय उद्देशक

४२.	गोत्रवाद का त्याग	७६
४३.	प्रमादजन्य दोष	७७
४४.	परिग्रहजन्य दोष	७८
४५.	अहिंसा का प्रतिपादन	८०
४६.	धन अस्थिर और नाशवान् है	८१

चौथा उद्देशक

४७.	विषयासक्त प्राणी की दुर्दशा	८५
४८.	भोगेच्छा, दुःख का कारण	८७
४९.	अहिंसा का उपदेश	८९
५०.	भिक्षाचरी में समभाव	९०

क्रं.	विषय	पृष्ठ
पांचवां उद्देशक		

५१.	कर्म समारंभ का कारण	९१
५२.	अनगर के तीन विशेषण	९३
५३.	निर्दोष आहार ग्रहण	९४
५४.	आहारादि की मात्रा	९७
५५.	ममत्व-परिहार -	९८
५६.	काम-विरति	९९
५७.	लोक-दर्शन	१००
५८.	सच्चा वीर कौन?	१००
५९.	देह की अशुचिता	१०१
६०.	हिंसा जन्य काम-चिकित्सा	१०४

छठा उद्देशक

६१.	एक काय के आरंभ से छहों कार्यों का आरंभ	१०५
६२.	ममत्व-बुद्धि त्याग -	१०७
६३.	रति-अरति त्याग	१०८
६४.	आज्ञा का अनाराधक	११०
६५.	आज्ञा का आराधक	१११
६६.	कर्म, दुःख का कारण	१११
६७.	अनन्यदर्शी और अनन्याराम	११२
६८.	उपदेष्टा कैसा हो?	११३
६९.	धर्मोपदेश की विधि ✓	११३
७०.	अज्ञानी की दुःख परंपरा	११७

शीतोष्णीय नामक तीसरा अध्ययन ११८-१५०

प्रथम उद्देशक

७१.	सुप्त और जागृत	११८
-----	----------------	-----

क्रं.	विषय	पृष्ठ
७२.	दुःख मुक्ति का उपाय	११६
७३.	दुःखों का मूल-आरंभ	१२२
७४.	कर्मों से उपाधि	१२४
द्वितीय उद्देशक		
७५.	बंध और मोक्ष	१२७
७६.	संयमी आत्मा की विशेषताएं	१३०
७७.	असंयत की चित्तवृत्ति	१३२
७८.	विषयभोगों की निःसारता	१३३
७९.	हिंसा का पाप	१३४
८०.	कषायों की भयंकरता	१३४
८१.	पापों से विरत रहने की प्रेरणा	१३५
तृतीय उद्देशक		
८२.	प्रमाद-त्याग	१३६
८३.	अहिंसा-पालन	१३७
८४.	आत्मा का अतीत और भविष्य	१३९
८५.	रति और अरति	१४०
८६.	तू ही तेरा मित्र	१४१
८७.	आत्म-निग्रह	१४१
८८.	सत्य ग्रहण की प्रेरणा	१४२
८९.	दुःखों से मुक्ति	१४३
चतुर्थ उद्देशक		
९०.	कषाय त्याग	१४४
९१.	प्रमत्त-अप्रमत्त	१४५
९२.	कषाय-त्याग का फल	१४६
९३.	शस्त्र-अशस्त्र	१४७
९४.	कषाय त्यागी की पहचान	१४८
९५.	तीर्थकरों का उपदेश	१४९

क्रं.	विषय	पृष्ठ
सम्यक्त्व नामक चौथा		
अध्ययन १७१-१७४		
प्रथम उद्देशक		
९६.	अहिंसा धर्म का निरूपण	१५१
९७.	धर्माचरण ✓	१५४
९८.	लोकैषणा-त्याग	१५५
द्वितीय उद्देशक		
९९.	आस्रव-परिस्रव	१५६
१००.	अनास्रव-अपरिस्रव	१५७
१०१.	मृत्यु निश्चित है	१५९
१०२.	अनार्य का सिद्धान्त	१६०
१०३.	आर्य का सिद्धान्त	१६१
तृतीय उद्देशक		
१०४.	दुःख, आरम्भ से	१६४
१०५.	तप का महत्त्व	१६६
१०६.	क्रोध (कषाय) त्याग	१६७
चौथा उद्देशक		
१०७.	संयम में पुरुषार्थ	१६८
१०८.	ब्रह्मचर्य की महिमा	१७०
१०९.	मोह की भयंकरता	१७०
११०.	सम्यक्त्व-प्राप्ति	१७१
लोकसार नामक पांचवां		
अध्ययन १७४-२१७		
प्रथम उद्देशक		
१११.	कामभोगों की निस्सारता	१७४
११२.	अज्ञानी जीव की मोहमूर्खता	१७६
११३.	दोहरी मूर्खता	१७८

क्रं.	विषय	पृष्ठ
११४.	कामभोगों का त्याग	१७८
११५.	अप्रशस्त (एकाकी) चर्या के दोष	१८०
द्वितीय उद्देशक		
११६.	अनारंभ जीवी	१८२
११७.	अप्रमाद का त्याग	१८३
११८.	सम्यक् प्रव्रज्या	१८३
११९.	परिग्रह की भयंकरता	१८६
१२०.	परिग्रह त्याग का उपदेश	१८६
तृतीय उद्देशक		
१२१.	अपरिग्रही कौन?	१८९
१२२.	धर्म स्थिरता के सूत्र	१९१
१२३.	आंतरिक युद्ध	१९२
चौथा उद्देशक		
१२४.	दोष युक्त एकल विहार	१९७
१२५.	परिणाम से बंध	१९९
१२६.	स्त्री संग एवं विषयों की उग्रता	२०१
पांचवां उद्देशक		
१२७.	आचार्य की महिमा	२०३
१२८.	विचिकित्सा का परिणाम	२०५
१२९.	विचिकित्सा को दूर करने का उपाय	२०५
१३०.	परिणामों की विचित्रता	२०६
१३१.	हिंसा से निवृत्ति का उपदेश	२०६
१३२.	आत्म-लक्षण	२१०
छठा उद्देशक		
१३३.	आज्ञा-पालन	२११
१३४.	मुक्तात्मा का स्वरूप	२१५

क्रं.	विषय	पृष्ठ
धृताख्य नामक छठा		
अध्ययन २१८-२५१		
प्रथम उद्देशक		
१३५.	आत्मज्ञान से शून्य मनुष्यों की दशा	२१८
१३६.	कृत कर्मों का फल	२२१
१३७.	भाव-अंधकार	२२३
१३८.	लोक में भय	२२४
१३९.	सावद्य-चिकित्सा त्याग	२२५
१४०.	धूत बनने की प्रक्रिया	२२५
द्वितीय उद्देशक		
१४१.	चारित्र ध्रष्टता के कारण	२२८
१४२.	संयमी के लक्षण	२२९
१४३.	भाव नग्न	२३२
१४४.	एकल विहार प्रतिमाधारी	२३३
तृतीय उद्देशक		
१४५.	द्रव्य और भाव लाघवता	२३५
चतुर्थ उद्देशक		
१४६.	ज्ञान ऋद्धि का गर्व	२३६
१४७.	दोहरी मूर्खता	२४०
१४८.	अंहकारी की कुचेष्टाएं	२४३
पांचवां उद्देशक		
१४९.	धर्मोपदेश क्यों, किसको और कैसे?	२४६
महापरिज्ञा नामक सातवां		
अध्ययन विच्छिन्न २५२		

क्रं.	विषय	पृष्ठ
विमोक्ष नामक आठवां		
अध्ययन २१२-३०१		
प्रथम उद्देशक		
१५०.	समनोज्ञ और असमनोज्ञ के साथ व्यवहार	२५२
१५१.	धर्म का आधार	२५६
१५२.	तीन याम	२५७
द्वितीय उद्देशक		
१५३.	साधु के लिए अनाचरणीय और अकल्पनीय	२६०
तृतीय उद्देशक		
१५४.	मध्यम अवस्था	२६५
१५५.	समभाव में धर्म	२६६
१५६.	आहार करने का कारण	२६७
१५७.	अग्निकाय का सेवन अनाचरणीय	२६९
चौथा उद्देशक		
१५८.	उपधि की मर्यादा	२७१
१५९.	आपवादिक पंडित मरण	२७५
पांचवां उद्देशक		
१६०.	द्विवस्त्रधारी साधु का आचार	२७७
१६१.	दोष युक्त आहार अग्राह्य	२७८
१६२.	ग्लान वैयावृत्य	२७८
छठा उद्देशक		
१६३.	एक वस्त्रधारी साधु का आचार	२८१
१६४.	आहार में अस्वादवृत्ति	२८२
१६५.	इंगित मरण साधना	२८३

क्रं.	विषय	पृष्ठ
सातवां उद्देशक		
१६६.	अचेल कल्प	२८६
१६७.	आहार पडिमा	२८८
१६८.	पादपोषणमन मरण का स्वरूप	२९०
आठवां उद्देशक		
१६९.	भक्त प्रत्याख्यान का स्वरूप	२९२
१७०.	इंगित मरण का स्वरूप	२९६
उपधानश्रुत नामक नववां		
अध्ययन ३०६-३४०		
प्रथम उद्देशक		
१७१.	भगवान् की ध्यान साधना	३०७
१७२.	भगवान् की विवेकयुक्त चर्या	३१०
१७३.	निर्दोष आहार चर्या	३१३
१७४.	अहिंसा युक्त क्रिया विधि	३१६
द्वितीय उद्देशक		
१७५.	भगवान् की शय्या और आसन	३१७
१७६.	निद्रा-त्याग	३१९
१७७.	विविध-उपसर्ग	३२०
तृतीय उद्देशक		
१७८.	लाढ देश में विचरण	३२४
१७९.	मोक्ष मार्ग में पराक्रम	३२९
चौथा उद्देशक		
१८०.	शरीर ममत्व का त्याग	३३०
१८१.	भगवान् की तपाराधना	३३१
१८२.	निर्दोष आहार ग्रहण	३३४
१८३.	भगवान् का आहार	३३६
१८४.	भगवान् की ध्यान साधना	३३७

श्री अ० भा० सुधर्म जैन सं० रक्षक संघ, जोधपुर आगम बत्तीसी प्रकाशन योजना के अन्तर्गत प्रकाशित आगम
अंग सूत्र

क्रं.	नाम आगम	मूल्य
१.	आचारांग सूत्र भाग-१-२	५५-००
२.	सूयगडांग सूत्र भाग-१, २	६०-००
३.	स्थानांग सूत्र भाग-१, २	६०-००
४.	समवायांग सूत्र	२५-००
५.	भगवती सूत्र भाग १-७	३००-००
६.	ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र भाग-१, २	६०-००
७.	उपासकवशांग सूत्र	२०-००
८.	अन्तकृतदशा सूत्र	२५-००
९.	अनुत्तरोपपातिक दशा सूत्र	१५-००
१०.	प्रश्नव्याकरण सूत्र	३५-००
११.	विपाक सूत्र	३०-००

उपांग सूत्र

१.	उववाइय सुत्त	२५-००
२.	राजप्रश्नीय सूत्र	२५-००
३.	जीवाजीवाभिगम सूत्र भाग-१, २	६०-००
४.	प्रज्ञापना सूत्र भाग-१, २, ३, ४	१६०-००
५.	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	५०-००
६-७.	चन्द्रप्रज्ञप्ति-सूर्यप्रज्ञप्ति	२०-००
८-१२.	निरयावतिका (कल्पिका, कल्पवतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा)	२०-००

मूल सूत्र

१.	दशवैकालिक सूत्र	३०-००
२.	उत्तराध्ययन सूत्र भाग-१, २	६०-००
३.	नंदी सूत्र	२५-००
४.	अनुयोगद्वार सूत्र	५०-००

छेद सूत्र

१-३.	श्रीणिछेदसुत्ताणि सूत्र (दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार)	५०-००
४.	निशीथ सूत्र	५०-००
१.	आवश्यक सूत्र	३०-००

संघ के अन्य प्रकाशन

क्रं.	नाम	मूल्य	क्रं.	नाम	मूल्य
१.	अंगपविट्टसुत्ताणि भाग १	१४-००	५१.	लौकाशाह-मत समर्थन	१०-००
२.	अंगपविट्टसुत्ताणि भाग २	४०-००	५२.	जिनागम विरुद्ध मूर्ति पूजा	१५-००
३.	अंगपविट्टसुत्ताणि भाग ३	३०-००	५३.	बड़ी साधु बंदना	१०-००
४.	अंगपविट्टसुत्ताणि संयुक्त	८०-००	५४.	तीर्थकर पद प्राप्ति के उपाय	५-००
५.	अनंगपविट्टसुत्ताणि भाग १	३५-००	५५.	स्वाध्याय सुधा	७-००
६.	अनंगपविट्टसुत्ताणि भाग २	४०-००	५६.	आनुपूर्वी	१-००
७.	अनंगपविट्टसुत्ताणि संयुक्त	८०-००	५७.	सुखविपाक सूत्र	२-००
८.	अनुत्तरोक्वाइय सूत्र	३-५०	५८.	भक्तामर स्तोत्र	२-००
९.	आधारो	८-००	५९.	जैन स्तुति	६-००
१०.	सूयगदो	६-००	६०.	सिद्ध स्तुति	३-००
११.	उत्तरज्जयणाणि (गुटका)	१०-००	६१.	संसार तरणिका	७-००
१२.	दसवेयालिय सुत्तं (गुटका)	५-००	६२.	आलोचना पंचक	२-००
१३.	णंदी सुत्तं (गुटका)	अप्राप्य	६३.	विनयचन्द्र चौबीसी	१-००
१४.	कउछेयसुत्ताइ	१५-००	६४.	भवनाशिनी भावना	२-००
१५.	आचारांग सूत्र भाग १	२५-००	६५.	स्तवन तरंगिणी	५-००
१६.	अंतगदसा सूत्र	१०-००	६६.	सामायिक सूत्र	१-००
१७-१९.	उत्तराध्ययनसूत्र भाग १, २, ३	४५-००	६७.	सार्थ सामायिक सूत्र	३-००
२०.	आवश्यक सूत्र (सार्थ)	१०-००	६८.	प्रतिक्रमण सूत्र	३-००
२१.	दशवैकालिक सूत्र	१०-००	६९.	जैन सिद्धांत परिचय	३-००
२२.	जैन सिद्धांत शोक संग्रह भाग १	१०-००	७०.	जैन सिद्धांत प्रवेशिका	४-००
२३.	जैन सिद्धांत शोक संग्रह भाग २	१०-००	७१.	जैन सिद्धांत प्रथमा	४-००
२४.	जैन सिद्धांत शोक संग्रह भाग ३	१०-००	७२.	जैन सिद्धांत कोषिद	३-००
२५.	जैन सिद्धांत शोक संग्रह भाग ४	१०-००	७३.	जैन सिद्धांत प्रवीण	४-००
२६.	जैन सिद्धांत शोक संग्रह संयुक्त	१५-००	७४.	तीर्थकरों का लेखा	१-००
२७.	पद्मवर्णा सूत्र के शोकड़े भाग १	८-००	७५.	जीव-धरा	२-००
२८.	पद्मवर्णा सूत्र के शोकड़े भाग २	१०-००	७६.	१०२ बोल का बासठिया	०-५०
२९.	पद्मवर्णा सूत्र के शोकड़े भाग ३	१०-००	७७.	तद्युदण्डक	३-००
३०-३२.	तीर्थकर चरित्र भाग १, २, ३	१४०-००	७८.	महादण्डक	१-००
३३.	मोक्ष मार्ग ग्रन्थ भाग १	३५-००	७९.	तेतीस बोल	२-००
३४.	मोक्ष मार्ग ग्रन्थ भाग २	३०-००	८०.	गुणस्थान स्वरूप	३-००
३५-३७.	समर्थ समाधान भाग १, २, ३	५७-००	८१.	गति-आगति	१-००
३८.	सम्पत्त्व विमर्श	१५-००	८२.	कर्म-प्रकृति	१-००
३९.	आत्म साधना संग्रह	२०-००	८३.	समिति-गुप्ति	२-००
४०.	आत्म श्रुति का मूल तत्वत्रयी	२०-००	८४.	समकित के ६७ बोल	२-००
४१.	नवतत्त्वों का स्वरूप	१३-००	८५.	पञ्चीस बोल	३-००
४२.	अगार-धर्म	१०-००	८६.	नव-तत्त्व	६-००
४३.	Saarth Saamaayik Sootra	१०-००	८७.	सामायिक संस्कार बोध	४-००
४४.	तत्त्व-पृच्छा	१०-००	८८.	सुखवर्णिका सिद्धि	३-००
४५.	तेतली-पुत्र	४५-००	८९.	विद्युत् संचित तेऊकाय है	३-००
४६.	शिविर व्याख्यान	१२-००	९०.	धर्म का प्राण यतना	२-००
४७.	जैन स्वाध्याय माला	१८-००	९१.	सामरण सङ्घिष्मो	अप्राप्य
४८.	सुधर्म स्तवन संग्रह भाग १	२२-००	९२.	मंगल प्रभातिका	१.२५
४९.	सुधर्म स्तवन संग्रह भाग २	१५-००	९३.	कुगुरु गुर्वाभास स्वरूप	४-००
५०.	सुधर्म चरित्र संग्रह	१०-००			

“गमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स”

श्रीमद् गणधरवर सुधर्म स्वामिद्वन्द्व

श्री आचारांग सूत्रम्

(प्रथम श्रुतस्कंध)

(मूलपाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ और विवेचन सहित)

सत्यपरिण्णा णामं पढमं अज्झायणं

शस्त्र परिज्ञा नागक प्रथम अध्ययन

प्रस्तावना

जिस प्रकार ब्राह्मण संस्कृति का आधार वेद है, बौद्ध संस्कृति का आधार त्रिपिटक है और ईसाइयों का आधार बाईबल है उसी तरह जैन संस्कृति का आधार गणिपिटक अर्थात् बारह अंग सूत्र हैं। नन्दी सूत्र में श्रुतज्ञान के जो चौदह भेद बताये गये हैं उनमें तेरहवां अंगप्रविष्ट है। श्रुतज्ञान के मुख्य दो भेद बताये गये हैं - अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य। आचाराङ्ग आदि बारह सूत्र अंग प्रविष्ट है। इसके अतिरिक्त सभी सूत्र अंग बाह्य गिने जाते हैं। जिस प्रकार पुरुष के शरीर में दो पैर, दो जंघाएं, दो उरु, दो गात्रार्द्ध (पसवाड़े), दो भुजाएं, एक गरदन और एक सिर, ये बारह अङ्ग हैं, उसी प्रकार श्रुत रूपी पुरुष के १२ अङ्ग हैं। तीर्थंकर भगवान् के उपदेशानुसार जिन शास्त्रों को गणधर महाराज स्वयं रचते हैं, वे अङ्ग कहे जाते हैं। गणधरों के अतिरिक्त दूसरे पूर्वधर आचार्यों द्वारा रचे गये शास्त्र अंगबाह्य कहे जाते हैं। अंग प्रविष्ट के बारह भेद हैं -



१. आचारांग २. सूयगडांग-सूत्रकृतांग ३. ठाणांग-स्थानांग ४. समवायांग ५. विवाहपण्णत्ती-व्याख्याप्रज्ञप्ति-भगवती ६. णायाधम्मकहाओ-ज्ञाताधर्मकथा ७. उवासगदसाओ-उपासकदशा ८. अंतगडदसाओ-अन्तकृद्दशा ९. अणुत्तरोववाइयदसाओ-अनुत्तरौपपातिकदशा १०. पण्हवागरणाई-प्रश्नव्याकरण ११. विवागसुयं-विपाकश्रुत १२. दिट्ठिवाओ-दृष्टिवाद।

इनमें बारहवां दृष्टिवाद वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

महापुरुषों के द्वारा सेवन की गई ज्ञान, दर्शन, चारित्र के आराधन की विधि को आचार कहते हैं। आचार को प्रतिपादन करने वाला सूत्र आचारांग कहा जाता है। आचारांग सूत्र में साधुओं की चर्या से संबंध रखने वाली सभी बातों का वर्णन किया गया है। इसमें दो श्रुतस्कंध हैं। पहले श्रुतस्कंध में नौ अध्ययन हैं और दूसरे श्रुतस्कंध में सोलह अध्ययन हैं। दोनों श्रुतस्कंधों में कुल पच्चीस अध्ययन हैं और उनमें ८५ उद्देशक हैं।

पठमो उद्देशओ - प्रथम उद्देशक

(१)

प्रथम श्रुतस्कंध के शस्त्र परिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं।

कठिन शब्दार्थ - सुयं - सुना है, मे - मैंने, आउसं - हे आयुष्मन्! तेणं - उन, भगवया - भगवान् ने, एवं - इस प्रकार, अक्खायं - फरमाया।

भावार्थ - श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् शिष्य! मैंने सुना है, उन भगवान् महावीर स्वामी ने यह कहा है।

विवेचन - आचारांग सूत्र के प्रथम अध्ययन का नाम शस्त्र परिज्ञा है। जीवों की हिंसा के कारण को 'शस्त्र' कहते हैं। इसके दो भेद हैं - १. द्रव्य शस्त्र और २. भाव शस्त्र। तलवार आदि द्रव्य शस्त्र हैं और अशुभ योग, राग द्वेष युक्त क्लुषित परिणाम भाव-शस्त्र हैं। परिज्ञा का अर्थ है - जानकारी (ज्ञान) अथवा चेतना। परिज्ञा दो प्रकार की होती है - १. ज्ञ परिज्ञा अर्थात् अशुभ योग, क्लुषित परिणाम आदि कर्म बन्धन के कारणों को जानना और



२. प्रत्याख्यान परिज्ञा अर्थात् कर्म बन्ध के कारणों को जान कर उनका त्याग करना। इस अध्ययन में भाव शस्त्रों की परिज्ञा अर्थात् जानकारी है।

एक अध्ययन में आये हुए नवीन विषय के प्रारम्भ को 'उद्देशक' कहते हैं। प्रथम अध्ययन में सात उद्देशक हैं।

टीका में 'आउसं तेणं' शब्द के दो पाठान्तर भी मिलते हैं - आवसंतेणं एवं आमुसंतेणं। क्रमशः उनका भाव है - 'भगवान् के निकट में रहते हुए तथा उनके चरणों का स्पर्श करते हुए' मैंने यह सुना है। इससे यह सूचित होता है कि श्री सुधर्मास्वामी ने यह वाणी भगवान् महावीर स्वामी से साक्षात् उनके निकट रह कर सुनी है।

आत्म-बोध

(२)

इहमेग्रेसिं णो सण्णा भवइ, तंजहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि? दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उट्ठाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि? अहे दिसाओ वा आगओ अहमंसि? अण्णयरीओ वा दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि? एवमेग्रेसिं णो णायं भवइ, अत्थि मे आया उववाइए णत्थि मे आया उववाइए के अहं आसि? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि।

कठिन शब्दार्थ - इहं - इस लोक में, एग्रेसिं - किन्हीं प्राणियों को, णो - नहीं, सण्णा - संज्ञा (ज्ञान), भवइ - होती है, पुरत्थिमाओ - पूर्व, दिसाओ - दिशा से, आगओ अंसि - आया हूँ, अहं - मैं, दाहिणाओ - दक्षिण, पच्चत्थिमाओ - पश्चिम, उत्तराओ - उत्तर, उट्ठाओ - ऊंची, अहे - नीची, अण्णयरीओ - अन्यतर - किसी एक, अणुदिसाओ - अनुदिशा (विदिशा) से, अत्थि - है, मे - मेरी, आया - आत्मा, उववाइए- औपपातिक-जन्म धारण करने वाली, णत्थि - नहीं हैं, के - कौन, आसी - था, इओ - इस, चुओ - च्युत होकर - छूट कर, पेच्चा - दूसरे जन्म में, भविस्सामि - होऊंगा।



भावार्थ - भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया कि - इस लोक में किन्हीं (कुछ) प्राणियों को यह संज्ञा (ज्ञान) नहीं होती। जैसे - मैं पूर्व दिशा से आया हूँ अथवा दक्षिण दिशा से आया हूँ अथवा पश्चिम दिशा से आया हूँ अथवा उत्तर दिशा से आया हूँ अथवा ऊर्ध्व (ऊंची) दिशा से आया हूँ अथवा अधो (नीची) दिशा से आया हूँ अथवा अन्य किसी दिशा से या अनुदिशा से आया हूँ।

इसी प्रकार कुछ प्राणियों को यह ज्ञात नहीं होता कि मेरी आत्मा औपपातिक - भिन्न-भिन्न गतियों में उत्पन्न होने वाली है अथवा नहीं? मैं पूर्व जन्म में कौन था? मैं यहां से च्युत हो कर - इस शरीर से छूट कर दूसरे जन्म में क्या होऊंगा?

विवेचन - संज्ञा का अर्थ है - चेतना। इसके दो भेद हैं -

१. ज्ञान चेतना - विशेष बोध। ज्ञान चेतना किसी में कम विकसित होती है और किसी में अधिक। ज्ञान चेतना के निर्युक्ति ३८ में पांच भेद कहे हैं - १. मति २. श्रुत ३. अवधि ४. मनःपर्यव और ५. केवलज्ञान चेतना।

२. अनुभव-चेतना - अनुभव चेतना (संवेदन) प्रत्येक प्राणी में होती है। आचारांग टीका में अनुभव चेतना के सोलह भेद इस प्रकार बताये हैं - १. आहार २. भय ३. मैथुन ४. परिग्रह ५. सुख ६. दुःख ७. मोह ८. विचिकित्सा ९. क्रोध १०. मान ११. माया १२. लोभ १३. शोक १४. लोक १५. धर्म एवं १६. ओघ संज्ञा।

आत्मा (जीव) का वर्तमान अस्तित्व तो सभी स्वीकार करते हैं किंतु अतीत (पूर्व जन्म) और अनागत (भविष्य-पुनर्जन्म) के अस्तित्व में सभी विश्वास नहीं करते हैं। जो आत्मा की त्रैकालिक सत्ता में विश्वास रखते हैं वे 'आत्मवादी' कहलाते हैं। प्रबल ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से यद्यपि बहुत से आत्मवादियों में भी अपने पूर्वजन्म की स्मृति नहीं होती कि मैं यहां (इस लोक में) किस दिशा या विदिशा से आया हूँ? मैं पूर्व जन्म में कौन था? तथा उन्हें भविष्य का यह ज्ञान भी नहीं होता कि मैं यहां से आयुष्य पूर्ण कर कहां जाऊंगा? आगे क्या होऊंगा? इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म संबंधी ज्ञान-चेतना का वर्णन किया गया है।

प्रज्ञापना सूत्र में १८ प्रकार की द्रव्य दिशाएं और अठारह प्रकार की भाव दिशाएं कही हैं जो इस प्रकार है -

१. द्रव्य दिशाएं - जिधर सूर्य उदय होता है उसे पूर्व दिशा कहते हैं। जिधर सूर्य अस्त होता है उसे पश्चिम दिशा कहते हैं। इस प्रकार पूर्व आदि चार दिशाएं, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य

एवं वायव्य कोण ये चार अनुदिशाएं तथा इनके अन्तराल में आठ विदिशाएं, ऊर्ध्व दिशा तथा अधोदिशा - इस प्रकार १८ द्रव्य दिशाएं हैं।

यद्यपि टीका में प्रज्ञापक दिशा के अठारह भेद एवं द्रव्य दिशा के दस भेद किये गये हैं तथापि भाव दिशा के सिवाय शेष सभी प्रकार की दिशाओं को अपेक्षा से द्रव्य दिशा कहा जा सकता है। इसी कारण से यहाँ पर प्रज्ञापक दिशा को भी द्रव्य दिशा के नाम से बता कर उसके अठारह भेद बताए हैं। वास्तव में तो तेरह प्रदेशी स्कन्ध में दसों दिशाएं घटित होने से उसे ही द्रव्य दिशा कहा गया है। अपेक्षा से उपर्युक्त प्रकार से समझना उचित हो सकता है।

२. भाव दिशाएं - १-४ मनुष्य की चार दिशाएं - सम्पूर्च्छिम, कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, अन्तरद्वीपज ५-८ तिर्यच की चार दिशाएं - बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ९-१२ स्थावरकाय की चार दिशाएं - पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय १३-१६ वनस्पतिकाय की चार दिशाएं - अग्रबीज, मूलबीज, स्कन्धबीज और पर्वबीज, १७ देव और १८ नारक, इस प्रकार अठारह भाव दिशाएं होती हैं।

जीव को अपने अस्तित्व का बोध किस प्रकार हो सकता है? इसके लिये आगे के सूत्र में कहा जाता है -

(३)

से जं पुण जाणेज्जा सहसम्मइयाए ♦ परवागरणेणं, अण्णेसिं वा अंतिए सोच्छा, तंजहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, जाव अण्णयरीओ वा दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसिं जं णायं भवइ, अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ-दिसाओ वा अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ जो आगओ अणुसंचरइ सोहं।

से आयावाई, लोयावाई, कम्मावाई, किरियावाई।

कठिन शब्दार्थ - सह सम्मइयाए - अपनी सन्मति-स्व बुद्धि से एवं जातिस्मरण ज्ञान द्वारा, परवागरणेण - पर-दूसरों के उपदेश से, अण्णेसिं - दूसरों के, अंतिए - पास से, सोच्छा - सुन कर, पुण - फिर, जाणेज्जा - जान लेता है, अणुसंचरइ - अनुसंचरण-

♦ पाठान्तर - सहसम्मुतियाए, सहसम्मुइयाए, सहसम्मइए।

परिभ्रमण करता है, सोहं - वही आत्मा मैं हूँ, आयावाई - आत्मवादी, लोयावाई - लोकवादी, कम्मावाई - कर्मवादी, किरियावाई - क्रियावादी।

भावार्थ - कोई प्राणी अपनी सन्मति - सूक्ष्म बुद्धि एवं जातिस्मरण ज्ञान से अथवा तीर्थकर आदि के उपदेश से अथवा दूसरों के - अन्य विशिष्ट श्रुतज्ञानी के निकट उपदेश सुन कर यह जान लेता है कि मैं पूर्व दिशा से आया हूँ अथवा दक्षिण दिशा, पश्चिम दिशा, उत्तर दिशा, ऊर्ध्व दिशा, अधोदिशा या अन्य किसी दिशा अथवा विदिशा से आया हूँ। इस प्रकार कितनेक जीवों को यह ज्ञात-ज्ञान हो जाता है कि मेरी आत्मा औपपातिक-नाना गतियों में भ्रमण करने वाली है जो इन दिशाओं से अथवा अनुदिशाओं से आकर संसार में परिभ्रमण करती है। जो इन सब दिशाओं और अनुदिशाओं में परिभ्रमण करती है वही आत्मा मैं हूँ।

वही पुरुष (जो उस गमनागमन करने वाली आत्मा को जान लेता है) आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में आत्म तत्त्व को जानने के तीन साधन बताये हैं -

१. स्वमति से - मति यानी बुद्धि को सन्मति कहते हैं। पूर्वजन्म की स्मृति रूप जातिस्मरण ज्ञान तथा अवधिज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञान होने पर।

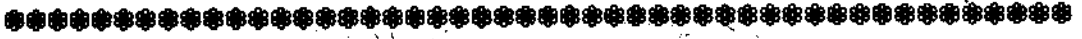
२. पर-उपदेश से - तीर्थकर, केवली आदि के उपदेश से।

३. तीर्थकरों के प्रवचनानुसार उपदेश करने वाले विशिष्ट ज्ञानी के निकट उपदेश आदि सुनकर।

उपरोक्त कारणों में से किसी के भी द्वारा जीव यह जान लेता है कि पूर्व आदि दिशाओं में जो परिभ्रमण करती है वह आत्मा 'मैं' ही हूँ।

जो आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला है वह आत्मवादी है। आत्मा को मानने वाला लोक स्थिति को भी स्वीकार करता है क्योंकि आत्मा का परिभ्रमण लोक (संसार) में ही होता है इसलिये वह लोकवादी है। लोक को मानने वाला कर्म को भी मानेगा अतः वह कर्मवादी है। कर्म बंध का कारण क्रिया है। अतः वह कर्म बंध के कारणभूत क्रिया को जानने वाला होने से क्रियावादी भी है। अर्थात् आत्मा का सम्यक् ज्ञान हो जाने पर लोक का, कर्म का और क्रिया का भी ज्ञान हो जाता है अतः वह आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है।

आत्मवादी आदि चारों बोलों का संक्षिप्त एवं सारपूर्ण वर्णन पूर्वाचार्य रचित 'समकित छप्पनी' ग्रन्थ में ५-६ दोहों के द्वारा समझाया गया है। जिज्ञासुओं के लिए वह पठनीय है।



इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में 'मैं कौन था' का समाधान 'मैं आत्मा हूँ' से किया गया है। अहिंसा का आधार आत्मा है। आत्म-बोध हो जाने पर ही अहिंसा की साधना हो सकती है इसलिये आगे के सूत्रों में हिंसा-अहिंसा का विवेचन किया गया है -

क्रिया-बोध

(४)

अकरिस्सं चऽहं कारवेसुं चऽहं करओ यावि समणुण्णे भविस्सामि, एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति।

कठिन शब्दार्थ - अकरिस्सं - किया, अहं - मैंने, कारवेसुं - करवाया, करओ - करते हुए को, समणुण्णे - अनुमोदन-समर्थन, सव्वावंति - सम्पूर्ण, लोगंसि - लोक में, एयावंति - इतनी ही, कम्मसमारंभा - कर्म समारम्भ-क्रियाएं, परिजाणियव्वा - जानने योग्य, भवंति - होती हैं।

भावार्थ - मैंने किया, मैंने करवाया और करने वाले का मैं अनुमोदन करूंगा।

सम्पूर्ण लोक में इतनी ही कर्म समारम्भ-क्रियाएं जानने योग्य होती हैं।

विवेचन - कर्म बन्धन से आवद्ध आत्मा ही संसार में परिभ्रमण करती है और कर्म का कारण क्रिया है अतः सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में क्रिया का वर्णन किया है।

क्रिया - करने, कराने और अनुमोदन करने की अपेक्षा तीन प्रकार की है। संसारी प्राणी तीनों कालों में क्रियाशील रहता है अतः भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल की अपेक्षा प्रत्येक काल के तीन भेद होने से क्रिया के नौ भेद हो जाते हैं और मन, वचन, काया की अपेक्षा से क्रिया के ६×३=२७ भेद हो जाते हैं।

ये २७ क्रियाएं ही समस्त लोक में होती हैं। ये क्रियाएं ही कर्मबंधन के लिए कारणभूत हैं। अतः विवेकी पुरुषों को इन २७ क्रियाओं का स्वरूप जान कर इनका त्याग कर देना चाहिये।

इन क्रियाओं से निवृत्त होकर ही साधक कर्म बंधन एवं संसार परिभ्रमण के दुःखों से छुटकारा पा सकता है। जो इन क्रियाओं का त्याग नहीं करता है उसे किस फल की प्राप्ति होती है इसका वर्णन सूत्रकार इस प्रकार करते हैं -



(५)

अपरिणायकम्मे खलु अयं पुरिसे, जो इमाओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ सहेइ, अणेगरूवाओ जोणीओ संधेइ, विरूवरूवे फासे पडिसंवेदेइ।

कठिन शब्दार्थ - अपरिणायकम्मे - अपरिज्ञातकर्मा - क्रियाओं के स्वरूप से अपरिचित, सहेइ - साथ जाता है, अणेगरूवाओ - अनेक प्रकार की, जोणीओ - योनियों का, संधेइ-सन्धान करता है - प्राप्त करता है, विरूवरूवे - विविध प्रकार के, फासे - स्पर्शों का, पडिसंवेदेइ - संवेदन-अनुभव करता है।

भावार्थ - जो पुरुष अपरिज्ञातकर्मा (क्रियाओं के सम्यक् स्वरूप को नहीं जानता और उनका त्याग नहीं करता) है वह इन दिशाओं और अनुदिशाओं में परिभ्रमण करता है और सभी दिशा-विदिशाओं में कर्मों के साथ जाता है। अनेक प्रकार की योनियों को प्राप्त करता है और वहां विविध प्रकार के स्पर्शों अर्थात् सुख दुःख के आघातों का अनुभव करता है।

विवेचन - जो पुरुष कर्म एवं क्रिया के स्वरूप से अनभिज्ञ है वह स्वकृत कर्म के अनुसार दिशाओं और विदिशाओं में परिभ्रमण करता है क्योंकि कर्मों के रहस्य को नहीं जान पाने के कारण वह उनके नाश के लिए प्रयत्न नहीं करता है और एक गति से दूसरी गति में या एक योनि से दूसरी योनि में भटकता रहता है। इस भवभ्रमण से छुटकारा पाने के लिये कर्म एवं क्रिया के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करना तथा उसके अनुरूप आचरण करना आवश्यक है इसीलिये आगमों में सम्यग् ज्ञान सहित सम्यक् क्रिया का आदेश दिया गया है।

'अणेगरूवाओ जोणीओ' पाठ में प्रयुक्त जोणीओ पद योनि का बोधक है। टीकाकार ने योनि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है -

'यौति मिश्री भवत्यौदारिकादि शरीर वर्गणा पुद्गलैरसुमान् यासु ता योनयः प्राणिनामुत्पत्ति स्थानानि'

अर्थात् - यह जीव औदारिक, वैक्रिय आदि शरीर वर्गणा के पुद्गलों को लेकर जिससे मिश्रित होता है, संबंध करता है उस स्थान को योनि कहते हैं। दूसरे शब्दों में योनि उत्पत्ति स्थान का नाम है। प्रज्ञापना सूत्र के नीवें योनिपद में विविध प्रकार की योनियों का विस्तृत वर्णन किया गया है। जिज्ञासुओं को वहाँ देख लेना चाहिये।



(६)

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया।

कठिन शब्दार्थ - खलु - निश्चय ही, परिण्णा - परिज्ञा (विवेक), पवेइया - प्रवेदिता-उपदेश दिया है।

भावार्थ - कर्मबन्धन की कारणभूत क्रियाओं के विषय में भगवान् महावीर स्वामी ने परिज्ञा का उपदेश दिया है।

विवेचन - परिष्कृत और प्रशस्त ज्ञान का नाम 'परिज्ञा' है। प्रस्तुत सूत्र में परिज्ञा का तात्पर्य है - कर्मबन्धन की हेतुभूत क्रियाओं के स्वरूप को समझना और तदनन्तर उनका परित्याग करना। परिज्ञा के दो भेद हैं - १. ज्ञ परिज्ञा और २. प्रत्याख्यान परिज्ञा। ज्ञ परिज्ञा से वस्तु के स्वरूप को जाना जाता है और प्रत्याख्यान परिज्ञा से हेय वस्तु का त्याग किया जाता है। ज्ञ परिज्ञा ज्ञान प्रधान है और प्रत्याख्यान परिज्ञा त्याग प्रधान है। अतः विवेकी पुरुषों को ज्ञ परिज्ञा से सावद्य क्रियाओं को जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनका त्याग कर देना चाहिये।

हिंसा के हेतु

(७)

इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाइमरणमोयणाए, दुक्ख-पडिघायहेउं।

कठिन शब्दार्थ - जीवियस्स - जीवन के लिये, परिवंदण-माणण-पूयणाए - परिवन्दन (प्रशंसा) मान और पूजा-प्रतिष्ठा के लिये, जाइमरणमोयणाए - जन्म-मरण से मुक्ति के लिये, दुक्खपडिघायहेउं - दुःख के प्रतिकार हेतु।

भावार्थ - अनेक संसारी प्राणी इस जीवन के लिये अर्थात् इस जीवन को नीरोग और चिरंजीवी बनाने के लिये, परिवंदन-प्रशंसा, मान-सम्मान तथा पूजा-प्रतिष्ठा के लिये, जन्म-मरण से मुक्त होने के हेतु और दुःखों से छुटकारा पाने के लिये हिंसा आदि सावद्य क्रियाएं करते हैं।



विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में कर्म समारम्भ-हिंसा में प्रवृत्त होने के छह कारण बताए हैं जो इस प्रकार हैं -

१. अपने इस जीवन के लिये - जीवन को नीरोग तथा बहुत वर्षों तक जीवित रखने के लिये।

२. परिवन्दन - प्रशंसा के लिए।

३. मान - सत्कार-सम्मान की प्राप्ति के लिए।

४. पूजा - प्रतिष्ठा पाने के लिए।

५. जन्म-मरण-मुक्ति - जन्म और मरण से छूटने के लिए।

६. दुःख प्रतिघात - दुःखों से छुटकारा पाने के लिए।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जीव अज्ञानवश सावद्य क्रियाएं करता है किंतु जो पुरुष ज्ञानी हैं वे इन क्रियाओं को कर्मबन्ध का कारण जान कर त्याग कर देते हैं।

इन छह कारणों में से पांचवां कारण - जन्म मरण से छूटने के लिए की जाने वाली हिंसा अबोधि (सम्यक्त्व की प्राप्ति दुर्लभता से हो) के लिए तथा शेष पांच कारण इसके अहित के लिए समझना चाहिये।

कर्म बंधन की कारणभूत क्रियाएं कितनी हैं? इसी बात को पुनः स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार फरमाते हैं -

(८)

एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति।

भावार्थ - सम्पूर्ण लोक में इतनी ही कर्मबंधन की हेतुभूत क्रियाएं जानने योग्य होती हैं।

विवेचन - चौथे सूत्र में बताए अनुसार क्रियाएं २७ ही हैं इससे अधिक या कम नहीं अतः विवेकी पुरुषों को कर्मबंधन की हेतुभूत इन क्रियाओं के स्वरूप को जान कर उनका त्याग कर देना चाहिये।

प्रस्तुत सूत्र में दृढ़ता के साथ पूर्व वर्णित विषय का समर्थन करते हुए साधक को क्रियाओं का स्वरूप जानने की प्रेरणा की गयी है। आगे के सूत्र में इनसे विरत की प्रेरणा है -



(६)

जस्सेए लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे-
त्ति वेमि ॥६॥

॥ पढमं अज्झयणं पढमो उहेसो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - जस्स - जिसके, एए - ये, परिण्णाया - परिज्ञात, मुणी - मुनि, परिण्णायकम्मे - परिज्ञातकर्मा, त्तिवेमि - ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ - इस लोक में ये जो कर्म समारम्भ - क्रिया विशेष हैं इन्हें जो जान लेता है और त्याग देता है वही मुनि परिज्ञात कर्मा होता है - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - ज्ञानावरणीय आठ कर्मों के बन्ध की कारण क्रिया विशेष है उन्हीं को कर्मसमारम्भ कहते हैं। जो कर्मबन्ध के कारणभूत इन क्रियाओं को सम्यक्तया जानने वाला तथा उनका त्याग करने वाला मुनि है वह परिज्ञातकर्मा कहलाता है। परिज्ञातकर्मा का तात्पर्य है - वह मुनि जो ज्ञ परिज्ञा से कर्म समारंभ को वास्तविक रूप से जानता समझता है और प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा उसका परित्याग करता है।

मुनि शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने कहा है -

'मनुते मन्यते वा जगतस्त्रिकालावस्थाभित्तीति मुनिः'

- जो मननशील है या लोक की, जगत् की त्रिकालवर्ती अवस्था को जानने वाला है, वह मुनि है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि जिस साधक को क्रिया का सम्यक् बोध है और जो विवेक पूर्वक संयम साधना में प्रवृत्त है वह मुनि है और वही मुनि परिज्ञात-कर्मा है।

क्रिया संबंधी इस प्रथम उद्देशक का सारांश यही है कि साधक कर्मबंधन की हेतुभूत क्रिया के स्वरूप को सम्यक् रूप से जान कर उससे निवृत्त होने का प्रयत्न करे।

त्तिवेमि - इति ब्रवीमि का अर्थ है इस प्रकार मैं तुमसे कहता हूँ अर्थात् सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् शिष्य! जिस प्रकार मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से सुना था उसी प्रकार मैं तुम्हें कहता हूँ।

॥ इति प्रथम अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥



पठमं अज्झयणं बीओ उद्देशो

प्रथम अध्ययन का द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में आत्मा के अस्तित्व का तथा आत्मा का लोक, कर्म और क्रिया के साथ किस तरह का संबंध है और यह आत्मा संसार में क्यों परिभ्रमण करती है, इस बात को समझाया गया है। इस द्वितीय उद्देशक में सूत्रकार अज्ञानी जीव किस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों को सताते हैं, परिताप देते हैं इसका दिग्दर्शन कराते हैं। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा

(१०)

अट्टे लोए परिजुण्णे दुस्संबोहे अविजाणए अस्सिं लोए पव्वहिए तत्थ तत्थ पुढो पास, आतुरा परितावेत्ति।

कठिन शब्दार्थ - अट्टे - आर्त-पीड़ित, परिजुण्णे - परिद्यूनः-परिजीर्ण-हीन - विवेक से रहित, दुस्संबोहे - दुस्संबोधः-कठिनता से बोध कराने योग्य, अविजाणए - अविज्ञायकः-अज्ञानी, पव्वहिए - प्रव्यथिते-पीड़ित, पुढो - पृथक् - भिन्न-भिन्न, पास - पश्य-देख, आतुरा - आतुराः-आतुर-लालायित, परितावेत्ति - परिताप देते हैं।

भावार्थ - यह लोक (प्राणि वर्ग) आर्त - दुःखी (पीड़ित) है, विवेक रहित है, दुःख से बोध कराने योग्य है, अज्ञानी है। इस लोक के अर्थात् पृथ्वी-पृथ्वीकाय के पीड़ित होने पर भी वे आतुर जीव भिन्न-भिन्न कार्यों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से इसे परिताप देते हैं। यह तू देख! समझ!

विवेचन - इस संसार में जीव संन्रस्त, व्यथित एवं आर्त है। विषयासक्त अज्ञानी जीव अपने स्वार्थ के लिये विविध प्रकार से पृथ्वीकाय का आरंभ समारम्भ करते हैं उन जीवों को संताप एवं पीड़ा पहुँचाते हैं। इसलिये आर्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि - "हे शिष्य! तू इन जीवों की स्वार्थ परायणता को देख-समझ"। अर्थात् संसारी प्राणियों की इस कार्य पद्धति को देख-समझ कर पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा मत कर।

'आर्त' शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने एक गाथा में बताया है -



राग दोस कसाएहिं, इंदिएहिं य पंचेहिं।

दुहा वा मोहणिञ्जेण, अट्टा संसारिणो जिया॥१॥

अर्थात् - राग-द्वेष, चार कषाय, पांच इंद्रियों के विषयों एवं दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय से संसारी जीव आर्त (दुःखी-पीड़ित) है।

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि आर्त एवं दुर्लभबोधि जीव अपने स्वार्थ के लिये पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करते हैं। अब आगे के सूत्र में सूत्रकार स्पष्ट करते हैं कि पृथ्वीकायिक जीव कैसे व कितने हैं -

(११)

संति पाणा पुढो सिया, लज्जमाणा पुढो पास।

कठिन शब्दार्थ - संति - हैं, पाणा - प्राणी, सिया - श्रिता-आश्रित हैं, लज्जमाणा-लज्जमान - लज्जित होने वाले।

भावार्थ - पृथ्वीकायिक जीव पृथक् - पृथक् शरीर में आश्रित रहते हैं अर्थात् वे प्रत्येक शरीरी होते हैं अतः इनके आरम्भ से लज्जित होने वाले, हिंसा करने में लज्जा का अनुभव करने वाले आत्म-साधकों (साधुओं) को तू पृथक् देख। अर्थात् पृथ्वीकायिक आदि का आरंभ करने वाले साधुओं से उन्हें भिन्न समझ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में पृथ्वीकाय को प्रत्येक शरीरी कहा गया है। जैसे तिल की पपड़ी में अनेकों तिल होते हैं वैसे ही पृथ्वीकाय में स्थित जीव भिन्न-भिन्न शरीर में रहते हैं। साधारण वनस्पति की तरह इसके एक शरीर में अनंत जीव नहीं रहते। इसके एक शरीर में एक ही जीव रहता है। इसलिये पृथ्वीकाय को प्रत्येक शरीरी कहा गया है। पृथ्वीकाय एक जीव के आश्रित नहीं अपितु असंख्यात जीवों का पिण्ड है। पृथ्वीकाय में असंख्यात जीव हैं।

जो पृथ्वीकाय का आरम्भ स्वयं नहीं करते हैं, दूसरों से भी नहीं करवाते हैं तथा आरम्भ करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करते हैं वे ही सच्चे अनगर हैं। ऐसे आत्मसाधकों को पृथ्वीकाय आदि का आरंभ करने वाले साधुओं से पृथक् समझने का सूत्रकार का निर्देश है।

(१२)

अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्म-समारंभेणं पुढविसत्थं समारंभेमाणे अणणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ।



कठिन शब्दार्थ - अणगारा मोत्ति - 'हम अनगार हैं'-इस प्रकार, एगे - कोई एक, पवयमाणा - बोलते हुए, जं इणं - जो इस, विरूवरूवेहिं - नाना प्रकार के, सत्थेहिं - शस्त्रों के द्वारा, पुढविकम्मसमारंभेणं - पृथ्वीकाय के आरम्भ द्वारा, पुढविसत्थं - पृथ्वीकाय रूप शस्त्र का, समारंभेमाणे - आरम्भ करते हुए, अणेगरूवे - अनेक प्रकार के, विहिंसइ - हिंसा करता है।

भावार्थ - 'हम अनगार - गृहत्यागी हैं' ऐसा कथन करते हुए कुछ वेषधारी साधु नाना प्रकार के शस्त्रों से पृथ्वी सम्बन्धी हिंसा-क्रिया में लग कर पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करते हैं तथा पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा के साथ उसके आश्रय में रहने वाले अन्य अनेक प्रकार के प्राणियों की हिंसा करते हैं।

विवेचन - जो साधु वेषधारी अपने आप को अनगार (मुनि) कहते हुए भी गृहस्थ के समान पृथ्वीकाय आदि का आरम्भ-समारम्भ करते हैं, करवाते हैं और करने वाले का अनुमोदन करते हैं वे वास्तव में अनगार नहीं हैं। ऐसे साधुओं का अनुकरण नहीं करना चाहिये।

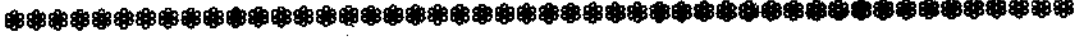
जो वस्तु, जिस जीवकाय के लिए मारक होती है वह उसके लिये शस्त्र है। निर्युक्तिकार ने गाथा ६५-६६ में पृथ्वीकाय के शस्त्र इस प्रकार बताये हैं -

१. कुदाली आदि भूमि खोदने के उपकरण।
२. हल आदि भूमि विदारण के उपकरण।
३. मृगशृंग ४. काठ-लकड़ी तृण आदि ५. अग्निकाय
६. उच्चार-प्रसवण (मल-मूत्र)
७. स्वकाय शस्त्र जैसे - काली मिट्टी का शस्त्र पीली मिट्टी आदि।
८. परकायशस्त्र जैसे - जल आदि।
९. तदुभय शस्त्र जैसे - मिट्टी मिला जल।
१०. भाव शस्त्र - असंयम।

हिंसा के कारण

(१३)

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया। इमस्स चेव जीवियस्स, परिवंदण-



माणण-पूयणाए, जाइमरणमोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं, से सयमेव पुढविसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणइ। तं से अहियाए, तं से अबोहिए।

कठिन शब्दार्थ - अहियाए - अहित के लिये, अबोहिए - अबोधि के लिए।

भावार्थ - इस पृथ्वीकाय के आरम्भ के विषय में निश्चय ही भगवान् श्री महावीर स्वामी ने परिज्ञा फरमाई है। इस जीवन के लिये, अर्थात् इस जीवन को नीरोग और चिरंजीवी बनाने के लिये और परिवन्दन-प्रशंसा के लिये, मान के लिए तथा पूजा-प्रतिष्ठा के लिये, जन्म-मरण से छूटने के लिए और दुःखों का नाश करने के लिए वह स्वयं पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है तथा हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है। यह हिंसा उसके अहित के लिए होती है, उसकी अबोधि के लिए होती है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि अज्ञानी जीव किन किन कारणों से पृथ्वीकाय का आरम्भ करते हैं। यह आरम्भ उस जीव के अहित के लिए होता है अर्थात् उसका हित नहीं होता है तथा यह हिंसा उस जीव के लिए अबोधि अर्थात् ज्ञान-बोधि, दर्शन-बोधि और चारित्र-बोधि की अनुपलब्धि के लिए कारणभूत होती है अतः विवेकी पुरुष को पृथ्वीकाय के आरम्भ से बचना चाहिये।

(१४)

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा खलु भगवओ, अणगाराणं वा अंतिए, इहमेगेसिं णायं भवइ-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।

इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्म-समारंभेण पुढविसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ।

कठिन शब्दार्थ - संबुज्झमाणे - समझता हुआ, आयाणीयं - आदानीय-ग्रहण करने योग्य-सम्यग्दर्शन, संयम, विनय, समुट्ठाय - समुत्थाय - सम्यक् रूप से उद्यत, सोच्चा - सुन कर, गंथे - ग्रंथ (ग्रंथि) - कर्म बंध का कारण, मोहे - मोह, मारे - मृत्यु, णरए - नरक, इच्चत्थं-इच्चेवमट्ठं - वंदन, पूजन और सम्मान आदि के लिए, गढिए - मूर्च्छित (आसक्त)।

भावार्थ - वह साधक हिंसा के उक्त दुष्परिणामों को समझता हुआ संयम साधना में तत्पर हो जाता है। कितनेक मनुष्यों को भगवान् के समीप अथवा अनगार मुनियों के समीप धर्म सुन कर यह ज्ञात होता है कि 'यह पृथ्वीकाय का आरम्भ (जीव हिंसा) ग्रंथ - ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है और यही नरक है।'

फिर भी विषयभोगों में आसक्त जीव अपने वन्दन, पूजन और सम्मान आदि के लिए नाना प्रकार के शस्त्रों से पृथ्वीकाय के आरम्भ में संलग्न होकर पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है तथा पृथ्वीकायिक हिंसा के साथ तदाश्रित अन्य अनेक प्रकार के प्राणियों की भी हिंसा करता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'गंधे' शब्द का अर्थ टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने इस प्रकार किया है -

'गंधिज्जइ तेण तओ तन्नि व तो तं मयं गंधो'

(विशेषा० १३८३, अभि० राजेन्द्र ३/७६३)

अर्थात् - जिसके द्वारा, जिससे तथा जिसमें बंधा जाता है, वह ग्रंथ है।

उत्तराध्ययन, आचारांग, स्थानांग आदि सूत्रों में कषाय को ग्रंथ या ग्रन्थि कहा है। अभिधान राजेन्द्र कोष भाग ३/७६३ में आत्मा को बांधने वाले कषाय या कर्म को भी ग्रंथ कहा गया है। प्रस्तुत सूत्र में हिंसा को ग्रन्थ या ग्रन्थि कहा है क्योंकि यह कर्मबन्ध का मूल कारण है।

पृथ्वीकायिक आदि जीवों को वेदना का अनुभव

(१५)

से बेमि-अप्येगे अंधमब्भे, अप्येगे अंधमच्छे, अप्येगे पायमब्भे, अप्येगे पायमच्छे, अप्येगे गुप्फमब्भे, अप्येगे गुप्फमच्छे, अप्येगे जंघमब्भे, अप्येगे जंघमच्छे, अप्येगे जाणुमब्भे, अप्येगे जाणुमच्छे, अप्येगे उरुमब्भे, अप्येगे उरुमच्छे, अप्येगे कडिमब्भे, अप्येगे कडिमच्छे, अप्येगे णाभिमब्भे, अप्येगे णाभिमच्छे, अप्येगे उयरमब्भे, अप्येगे उयरमच्छे, अप्येगे पासमब्भे, अप्येगे पासमच्छे, अप्येगे पिट्टमब्भे, अप्येगे पिट्टमच्छे, अप्येगे उरमब्भे, अप्येगे उरमच्छे, अप्येगे हिययमब्भे, अप्येगे हिययमच्छे, अप्येगे थणमब्भे, अप्येगे थणमच्छे,

अप्येगे खंधमब्धे, अप्येगे खंधमच्छे, अप्येगे बाहुमब्धे, अप्येगे बाहुमच्छे, अप्येगे हत्थमब्धे, अप्येगे हत्थमच्छे, अप्येगे अंगुलिमब्धे, अप्येगे अंगुलिमच्छे, अप्येगे णहमब्धे अप्येगे णहमच्छे, अप्येगे गीवमब्धे, अप्येगे गीवमच्छे, अप्येगे हणुमब्धे, अप्येगे हणुमच्छे, अप्येगे होट्टमब्धे, अप्येगे होट्टमच्छे, अप्येगे दंतमब्धे, अप्येगे दंतमच्छे, अप्येगे जिब्धमब्धे, अप्येगे जिब्धमच्छे, अप्येगे तालुमब्धे, अप्येगे तालुमच्छे, अप्येगे गलमब्धे, अप्येगे गलमच्छे, अप्येगे गंडमब्धे, अप्येगे गंडमच्छे, अप्येगे कण्णमब्धे, अप्येगे कण्णमच्छे, अप्येगे णासमब्धे, अप्येगे णासमच्छे, अप्येगे अच्छिमब्धे, अप्येगे अच्छिमच्छे, अप्येगे भमुहमब्धे, अप्येगे भमुहमच्छे, अप्येगे णिडालमब्धे, अप्येगे णिडालमच्छे, अप्येगे सीसमब्धे, अप्येगे सीसमच्छे, अप्येगे संपमारए, अप्येगे उह्वए।

कठिन शब्दार्थ - से बेमि - हे शिष्यो! मैं बतलाता हूं, अप्येगे - अप्येकः-कोई, अंधमब्धे - जन्मांध (मूक, बधिर, पंगु पुरुष) को भेदन करे, अंधमच्छे - जन्मान्ध पुरुष को छेदन करे, पायमब्धे - पैरों का भेदन करे, पायमच्छे - पैरों का छेदन करे, गुप्फमब्धे - गुल्फों (टखनों) का भेदन करे, गुप्फमच्छे - गुल्फों का छेदन करे, जंधमब्धे - जंधा (पिंडली) का भेदन करे, जंधमच्छे - जंधा का छेदन करे, जाणुमब्धे - घुटनों का भेदन करे, जाणुमच्छे - घुटनों का छेदन करे, उरुमब्धे-उरुमच्छे - उरु का भेदन करे-छेदन करे, कडिमब्धे-कडिमच्छे-कटिभाग (कमर) का भेदन करे-छेदन करे, णाभिमब्धे णाभिमच्छे - नाभि का भेदन करे, छेदन करे, उयरमब्धे उयरमच्छे - उदर (पेट) का भेदन करे, छेदन करे, पासमब्धे पासमच्छे-पाश्वर्धभाग (पसवाड़े) का भेदन करे, छेदन करे, पिट्टमब्धे पिट्टमच्छे - पीठ का भेदन करे, छेदन करे, उरमब्धे उरमच्छे - छाती का भेदन-छेदन करे, हिययमब्धे हिययमच्छे - हृदय का भेदन-छेदन करे, थणमब्धे थणमच्छे - स्तनों का भेदन करे-छेदन करे, खंधमब्धे-खंधमच्छे-स्कंध (कंधे) का भेदन-छेदन करे, बाहुमब्धे-बाहुमच्छे - बाहु-भुजा का भेदन-छेदन करे, हत्थमब्धे-हत्थमच्छे - हाथ का भेदन करे, हाथ का छेदन करे, अंगुलिमब्धे-अंगुलिमच्छे - अंगुली का भेदन-छेदन करे, णहमब्धे-णहमच्छे - नखों का भेदन-छेदन करे, गीवमब्धे-गीवमच्छे - ग्रीवा (गर्दन का आगे का भाग) का भेदन-छेदन करे, हणुमब्धे-हणुमच्छे - दाढी

का भेदन-छेदन करे, होड्डमब्धे-होड्डमच्छे - ओष्ठों का भेदन-छेदन करे, दंतमब्धे-दंतमच्छे - दांतों का भेदन-छेदन करे, जिब्धमब्धे-जिब्धमच्छे - जीभ का भेदन-छेदन करे, तालुमब्धे-तालुमच्छे - तालु का भेदन-छेदन करे, गलमब्धे-गलमच्छे - गले (गर्दन के पीछे का भाग) का भेदन-छेदन करे, गंडमब्धे-गंडमच्छे - गाल का भेदन-छेदन करे, कण्णमब्धे-कण्णमच्छे - कान का भेदन-छेदन करे, णासमब्धे-णासमच्छे - नाक का भेदन-छेदन करे, अच्छिमब्धे-अच्छिमच्छे - आंख का भेदन-छेदन करे, भमुहमब्धे-भमुहमच्छे - भ्रुकुटि का छेदन भेदन करे, णिडालमब्धे-णिडालमच्छे - ललाट का भेदन-छेदन करे, सीसमब्धे-सीसमच्छे - शिर का भेदन-छेदन करे, संपमारए - मूर्च्छित कर दे, उद्वए - उपद्रव करे।

भावार्थ - मैं कहता हूं - जैसे कोई किसी जन्मान्ध - जन्म से इन्द्रिय विकल - बहरा, गूंगा, पंगु तथा अवयवहीन-मनुष्य को मूसल भाला आदि से भेदन करे, तलवार आदि से छेदन करे, उसे जैसी पीड़ा होती है वैसी ही पीड़ा पृथ्वीकायिक जीवों को होती है।

जैसे कोई व्यक्ति किसी के पैरों का भेदन करे, चोट पहुंचाए, पैरों का छेदन करे, गुल्फों का भेदन छेदन करे, जंघा का भेदन छेदन करे, घुटनों का भेदन छेदन करे, उरु का भेदन छेदन करे, कटिभाग - कमर का भेदन छेदन करे, नाभि का भेदन छेदन करे, पेट का भेदन छेदन करे, पार्श्वभाग-पसवाड़े का भेदन छेदन करे, पीठ का भेदन छेदन करे, छाती का भेदन छेदन करे, हृदय का भेदन छेदन करे, स्तनों का भेदन छेदन करे, कन्धे का भेदन छेदन करे, बाहु-भुजा का भेदन छेदन करे, हाथ का भेदन छेदन करे, अंगुली का भेदन छेदन करे, नखों का भेदन छेदन करे, ग्रीवा (गर्दन का आगे का भाग) का भेदन छेदन करे, दाढ़ी का भेदन छेदन करे, ओष्ठों का भेदन छेदन करे, दांतों का भेदन छेदन करे, जीभ का भेदन छेदन करे, तालु का भेदन छेदन करे, गले (गर्दन के पीछे का भाग) का भेदन छेदन करे, गाल का भेदन छेदन करे, कान का भेदन छेदन करे, नाक का भेदन छेदन करे, आंख का भेदन छेदन करे, भ्रुकुटि का भेदन छेदन करे, ललाट का भेदन छेदन करे, शिर का भेदन छेदन करे तो उस प्राणी को जैसा दुःख होता है वैसा ही पृथ्वीकाय के जीवों को भी दुःख होता है।

जैसे कोई किसी को गहरी चोट पहुंचा कर मूर्च्छित कर दे अथवा प्राण-वियोजन कर दे, तो उसे जैसी वेदना होती है वैसी ही पृथ्वीकायिक जीवों की वेदना समझनी चाहिये।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में पृथ्वीकायिक जीवों की सचेतनता और मनुष्य शरीर के समान ही होने वाले दुःख का स्पष्टीकरण किया गया है।

प्रथम अध्ययन - द्वितीय उद्देशक - पृथ्वीकायिक आदि जीवों को वेदना का अनुभव १६

पृथ्वीकायिक जीवों में अव्यक्त चेतना होती है उनमें हलन चलन आदि क्रियाएं स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होती है अतः यह शंका होना स्वाभाविक है कि पृथ्वीकाय के जीव न देखते हैं, न सुनते हैं न सूँघ सकते हैं, न चल सकते हैं, फिर कैसे माना जाय कि वे जीव हैं? और उन्हें छेदन भेदन से पीड़ा होती है?

इस शंका का समाधान सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में निम्न तीन दृष्टान्त देकर किया है -

प्रथम दृष्टान्त - जैसे कोई मनुष्य जन्म से अंधा, बहरा, मूक या पंगु है। कोई पुरुष उसका भाले के अग्रभाग से भेदन करता है अथवा तलवार आदि अन्य शस्त्रों से उसका छेदन करता है तो वह उस पीड़ा को न तो वाणी से व्यक्त कर सकता है, न आक्रन्दन ही कर सकता है, न उस दुःख से बचने के लिए वह कहीं भाग ही सकता है, न अन्य किसी चेष्टा से उस पीड़ा को व्यक्त ही कर सकता है तो क्या यह मान लिया जाय कि वह जीव नहीं है या उसे छेदन-भेदन से पीड़ा नहीं होती है? नहीं, ऐसा नहीं होता, उसे वेदना का संवेदन तो होता है पर उसे वह अभिव्यक्त नहीं कर सकता।

इसी प्रकार पृथ्वीकाय के जीवों को छेदन भेदन में वेदना तो होती है किंतु इन्द्रिय विकल होने के कारण वे उसे व्यक्त नहीं कर सकते।

द्वितीय दृष्टान्त - जैसे किसी स्वस्थ मनुष्य के पैर, गुल्फ, जानु, उरु, कमर, नाभि, उदर, पार्श्व, पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कंधा, भुजा, हाथ, अंगुली, नख, ग्रीवा, ठोड़ी, ओष्ठ, दांत, जिह्वा, तालु, गाल, गण्ड, कर्ण, नासिका, आंख, भ्रू, ललाट, शिर आदि अवयवों को कोई निर्दयी पुरुष एक साथ छेदन भेदन करता है तो वह मनुष्य न भली प्रकार देख सकता है, न सुन सकता है, न बोल सकता है, न चल सकता है किंतु इससे यह तो नहीं माना जा सकता कि उसमें चेतना नहीं है या उसे वेदना नहीं हो रही है। इसी प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों में व्यक्त चेतना का अभाव होने पर भी उनमें प्राणों का स्पंदन है अतः उन्हें कष्टानुभूति होती है और उनकी यह कष्टानुभूति अव्यक्त होती है।

तृतीय दृष्टान्त - जैसे मूर्च्छित मनुष्य की चेतना बाहर से लुप्त होते हुए भी उसकी अंतरंग चेतना लुप्त नहीं होती उसी प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों की चेतना मूर्च्छित व अव्यक्त होती है किंतु वे अन्तर चेतना से शून्य नहीं होते अतः उन्हें वेदना तो होती ही है।

इसी बात को भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशक ३५ में इस प्रकार स्पष्ट किया है -



पुढवीकाइए णं भंते! अक्कंते समाणे केरिसियं वेयणं पच्चणुब्भवमाणे विहरइ?
 गोयमा! से जहाणामाए-केइ पुरिसे बलवं जाव णिउणसिप्पोवगाए एणं पुरिसं
 जुण्णं जराजञ्जरियदेहं जाव दुब्बलं किलंतं जमलपाणिणा मुद्धाणंसि अभिहणिञ्जा,
 से णं गोयमा! पुरिसे तेणं पुरिसेणं जमल पाणिणा मुद्धाणंसि अभिहए समाणे
 केरिसियं वेयणं पच्चणुब्भवमाणे विहरइ? अणिद्धं समणाउसो! तस्स णं गोयमा!
 पुरिसस्स वेयणाहिंतो पुढविकाइए अक्कंते समाणे एतो अणिद्धतरियं चैव अकंततरियं
 चैव जाव अमणामतरियं चैव वेयणं पच्चणुभवमाणे विहरइ।

भावार्थ - हे भगवन्! पृथ्वीकायिक जीवों पर शस्त्र प्रयोग करने पर उन जीवों को किस तरह की वेदना होती है?

गौतमस्वामी द्वारा पूछे गये प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया -
 हे गौतम! एक हृष्टपुष्ट युवक किसी जर्जरित शरीर वाले वृद्ध पुरुष के मस्तिष्क पर मुष्टि का प्रहार करे तो उस वृद्ध पुरुष को वेदना होती है?

हां भगवन्! उसे महावेदना होती है उसी प्रकार पृथ्वीकाय जीवों को उससे भी अनिष्टतर वेदना का अनुभव होता है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि पृथ्वीकाय सजीव है और शस्त्र आदि के प्रयोग से उसे वेदना होती है।

पृथ्वीकायिक जीवों के आरंभ का निषेध

(१६)

इत्थं सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिण्णाया भवंति। एत्थ सत्थं
 असमारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा परिण्णाया भवंति।

कठिन शब्दार्थ - इत्थं - इस, सत्थं - शस्त्र का, समारंभमाणस्स - समारम्भ करने वाले पुरुष को, इच्चेए - इस प्रकार के, अपरिण्णाया - अपरिज्ञात-अनजान, असमारंभमाणस्स-
 असमारम्भ-आरम्भ नहीं करने वाले पुरुष को, परिण्णाया - ज्ञात।

भावार्थ - इस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों पर शस्त्र का समारम्भ करने वाला पुरुष वास्तव में इन आरम्भों-हिंसा संबंधी प्रवृत्तियों के कटु परिणामों एवं जीवों की वेदना-से अपरिज्ञात-

अनजान है। जो इन पृथ्वीकायिक जीवों पर शस्त्र का प्रयोग नहीं करता वह इन आरम्भों का ज्ञाता होता है।

विवेचन - पृथ्वीकाय जीव है, इसलिए उसका आरम्भ करना पाप का कारण है, यह जब तक जीव नहीं जानता है तब तक उसका त्याग नहीं कर सकता है। जो पुरुष पृथ्वीकाय के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानता है वही पृथ्वीकाय के आरंभ का त्यागी हो सकता है। आरंभ में लगा पुरुष हिंसा संबंधी प्रवृत्तियों के कटु परिणामों से अनजान होता है। जो हिंसा संबंधी प्रवृत्तियों एवं जीवों की वेदना का ज्ञाता होता है वह हिंसा से मुक्त होता है।

(१७)

तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं पुढविसत्थं समारंभेजा, णेवण्णेहिं पुढविसत्थं समारंभावेजा, णेवण्णे पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणेजा।

जस्स एए पुढविकम्मसमारंभा परिण्णायया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे ति बेमि।

॥ पढमं अज्झयणं बीओ उद्देशो ॥

भावार्थ - बुद्धिमान् पुरुष पृथ्वीकाय के आरम्भ-समारम्भ को कर्मबन्ध का कारण जान कर स्वयं पृथ्वीकाय का समारम्भ न करे, न दूसरों से पृथ्वीकाय का समारम्भ करवाए और पृथ्वीकाय का समारम्भ करने वालों का अनुमोदन भी न करे।

जिसने पृथ्वीकाय के समारम्भ को जान लिया है और त्याग दिया है वही मुनि परिज्ञातकर्मा होता है - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र का सार यही है कि मुमुक्षु पृथ्वीकायिक जीवों पर किये जाने वाले शस्त्र प्रयोग से जो उन्हें वेदना होती है तथा उससे आरम्भ-समारम्भ करने वाले व्यक्ति को जो कर्मबन्ध होता है उसे समझे और तीन करण तीन योग से पृथ्वीकायिक हिंसा का त्याग करे।

त्तिबेमि अर्थात् - श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू! जिस प्रकार मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से सुना था उसी प्रकार मैं तुम्हें कहता हूँ।

॥ इति प्रथम अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥



पठमं अज्जुयणं तडओ उद्देश्यो

प्रथम अध्ययन का तीसरा उद्देशक

प्रथम अध्ययन के दूसरे उद्देशक में पृथ्वीकायिक जीवों का वर्णन करने के बाद सूत्रकार इस तृतीय उद्देशक में अपृथ्वीकायिक जीवों का वर्णन करते हैं। अपृथ्वीकायिक जीवों को अभयदान देने वाला साधक कैसा होता है उसका लक्षण इस उद्देशक के प्रथम सूत्र में इस प्रकार बताया है -

अनगार कौन?

से बेमि, से जहावि अणगारे उज्जुकडे, णियागपडिवण्णे अमायं कुव्वमाणे वियाहिए।

कठिन शब्दार्थ - उज्जुकडे - ऋजुकृत-सरलता युक्त, णियागपडिवण्णे - नियाग प्रतिपन्न-मोक्षमार्ग को प्राप्त, अमायं - अमाया - कपट रहित, कुव्वमाणे - करता हुआ, अणगारे-अनगार - घर रहित, वियाहिए - कहा गया है।

भावार्थ - मैं कहता हूँ - जो ऋजुकृत - सरल आचरण वाला हो, नियाग प्रतिपन्न - रत्नत्रयी रूप मोक्षमार्ग को प्राप्त हो तथा जो अमायी - कपट रहित हो, वह अनगार कहा गया है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में अनगार के लक्षण बताये गये हैं। अनगार शब्द का शाब्दिक अर्थ है-घर रहित। किंतु घर का त्याग करने मात्र से ही कोई अनगार नहीं बन जाता। वास्तविक अनगार की योग्यता को बताते हुए सूत्रकार ने निम्न तीन विशेषणों का प्रयोग किया है-

१. उज्जुकडे (ऋजुकृत) - उज्जुकडे शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने कहा है - "ऋजुः-अकुटिलः संयमो दुष्प्रणिहितमनोवाक्काय निरोधः सर्व सत्त्वसंरक्षण प्रवृत्तत्वावयैकरूपः" अर्थात् - सरल, कुटिलता से रहित, संयम मार्ग में प्रवृत्त, दुष्कार्य में प्रवृत्त मन, वचन और काय का निरोधक, समस्त प्राण, भूत, जीव, सत्त्व के संरक्षण में प्रवृत्तमान साधक को 'ऋजु' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि संयम मार्ग में प्रवृत्तमान साधक को अनगार कहा है।



उत्तराध्ययन सूत्र के तीसरे अध्ययन की बारहवीं गाथा में प्रभु फरमाते हैं कि - "सोही उज्जुभूयस्स धम्मो सुद्धस्स धिड्डइ"

- ऋजु आत्मा की शुद्धि होती है। शुद्ध हृदय में ही धर्म ठहरता है, इसलिये ऋजुता धर्म का - साधुता का मुख्य आधार है। ऋजु आत्मा मोक्ष के प्रति सहज भाव से समर्पित होती है इसलिए अनगार का दूसरा विशेषण है -

२. नियाग पडिवण्णे (नियाग प्रतिपन्न) - जो अपने स्वार्थ को साधने के लिए, यश-ख्याति पाने के लिये, भौतिक सुख या स्वर्ग आदि को पाने की अभिलाषा से इन्द्रिय एवं मन पर नियंत्रण करते हैं वे वास्तव में अनगार नहीं कहे जा सकते। इसी बात को सूत्रकार ने 'नियाग पडिवण्णे' विशेषण से स्पष्ट किया। टीकाकार ने इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है-

"नियाग-सम्यग्दर्शनं ज्ञानं चारित्रात्मकं मोक्षमार्गं प्रतिपन्नो नियाग प्रतिपन्नः।"

अर्थात् - सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से युक्त मोक्ष मार्ग पर गतिशील साधक ही नियाग-प्रतिपन्न कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जो केवल कर्मों की निर्जरा के लक्ष्य से शुद्ध आत्म-स्वरूप प्रकट करने के लिये रत्नत्रयी की साधना करता है वह 'नियाग प्रतिपन्न' है।

३. अमायं - अनगार का तीसरा विशेषण है - अमायी अर्थात् माया रहित, छल कपट नहीं करने वाला। आगम में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि "माई मिच्छादिद्धी अमाई सम्मदिद्धी" - माया एवं छल कपट युक्त व्यक्ति मिथ्यादृष्टि कहा गया है जबकि अमायी सम्यग्दृष्टि होता है। अतः संसार के कार्यों में ही नहीं अपितु धर्मप्रवृत्ति में छलकपट करना दोष माना गया है।

अमाय का एक अर्थ होता है - संगोपन नहीं करना, छुपाना नहीं। अतः साधना मार्ग में जो अपनी शक्ति को छुपाता नहीं, शक्तिभर जुटा रहता है, वह माया रहित होता है।

ऋजुकृत में वीर्याचार की शुद्धि, नियाग प्रतिपन्नता में ज्ञानाचार एवं दर्शनाचार की शुद्धि तथा अमाय में तपाचार की शुद्धि परिलक्षित होती है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में साधना एवं साध्य की शुद्धि का निर्देश भी किया गया है।

अनगार के यथार्थ स्वरूप को बताने के बाद आगमकार साधना मार्ग पर प्रविष्ट साधक के कर्तव्य का वर्णन करते हुए फरमाते हैं -



साधक का कर्त्तव्य

(१८)

जाए सद्भाए णिक्खंतो, तमेव अणुपालिया वियहित्तु * विसोत्तियं।

कठिन शब्दार्थ - जाए - जिस, सद्भाए - श्रद्धा से, णिक्खंतो - निष्क्रान्तः-घर से निकला है, दीक्षा धारण की है, अणुपालिया - पालन करे, वियहित्तु-विजहिता - छोड़ कर, विसोत्तियं- शंका को।

भावार्थ - जिस श्रद्धा अर्थात् निष्ठा एवं वैराग्य भावना के साथ दीक्षा अंगीकार की है, शंका का त्याग कर उसी श्रद्धा के साथ संयम का पालन करे।

विवेचन - दीक्षा धारण करते समय दीक्षार्थी के परिणाम बहुत उच्च होते हैं। बाद में उन परिणामों में वृद्धि करने वाला कोई भाग्यवान् व्यक्ति ही होता है किन्तु कितनेक व्यक्तियों के परिणाम गिर जाते हैं इसलिये आगमकार उपदेश देते हैं कि यदि तुम्हारे परिणाम बढ़े नहीं तो उन्हें घटने तो नहीं देना चाहिये किन्तु जिन उच्च परिणामों से दीक्षा ली है उन्हीं परिणामों के साथ जीवन पर्यन्त संयम का पालन करना चाहिए।

(१९)

पणया वीरा महावीहिं।

लोगं च आणाए अभिसमेच्छा अकुओभयं।

कठिन शब्दार्थ - पणया - प्रणत-समर्पित, वीरा - वीर पुरुष, महावीहिं - महावीथी-संयम रूप राजमार्ग - महापथ को, लोगं - लोक को अर्थात् अप्काय को, अभिसमेच्छा - सम्यक् प्रकार से जान कर, आणाए - आशा से, अकुओभयं - अकुतोभय-जिससे किसी को भय नहीं हो अर्थात् संयम।

भावार्थ - वीर पुरुष संयम रूप राजमार्ग (महापथ) के प्रति प्रणत अर्थात् समर्पित होते हैं।

तीर्थंकर भगवान् के उपदेशानुसार अप्काय रूप लोक को अर्थात् अप्काय के जीवों का स्वरूप सम्यक् रूप से जान कर उत्तम पुरुष समस्त भयों से रहित संयम का पालन करे।

* पाठान्तरं - विजहिता



विवेचन - अहिंसा एवं संयम के प्रशस्त पथ को प्रस्तुत सूत्र में महावीथी - महापथ कहा है क्योंकि यह पथ सर्वदा, सर्वत्र सब के लिए एक समान है। इस संयम रूप राजमार्ग पर चलने वालों के लिए देश, काल, सम्प्रदाय व जाति की कोई सीमा या बंधन नहीं है। शाश्वत सुख के स्थान मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक सभी जन इस पथ पर चले हैं, चलते हैं और चलेंगे फिर भी यह कभी संकीर्ण नहीं होता अतः यह महावीथी - महापथ है। अनगार इस महापथ के प्रति सम्पूर्ण भाव से समर्पित होते हैं।

परीषह, उपसर्ग और कषायों को जीतने में समर्थ वीर पुरुष मोक्ष प्राप्ति के लिए संयम अंगीकार करते हैं। यहां संयम को 'अकुतोभय' कहा है जिसका अभिप्राय यह है कि संयम स्वीकार करने वाले पुरुष से सभी प्राणियों को अभयदान मिल जाता है। अतः बुद्धिमान् पुरुष ऐसे संयम का निरन्तर पालन करे।

यहां अप्काय का वर्णन चल रहा है इसलिए यहां 'लोक' शब्द से अप्काय रूप लोक लिया गया है।

अप्काय की सजीवता

(२०)

से बेमि-णेव सयं लोगं अब्भाइक्खिज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खिज्जा।
जे लोयं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से
लोयं अब्भाइक्खइ।

कठिन शब्दार्थ - अत्ताणं - आत्मा का, अब्भाइक्खिज्जा - अभ्याख्यान-अपलाप करे, अब्भाइक्खइ - अभ्याख्यान करता है।

भावार्थ - मैं कहता हूँ कि बुद्धिमान् मनुष्य (मुनि) स्वयं, लोक-अप्कायिक जीवों के अस्तित्व का अपलाप न करे तथा न अपनी आत्मा का अपलाप करे। जो पुरुष लोक का यानी अप्कायिक जीवों के अस्तित्व का अपलाप करता है वह आत्मा का अपलाप करता है और जो आत्मा का अपलाप करता है वह लोक यानी अप्काय के जीवों के अस्तित्व का अपलाप करता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में अपनी आत्मा एवं अप्कायिक जीवों की आत्मा के साथ तुलना करके अप्काय में चेतना-सजीवता है इस बात को सिद्ध किया है।



मूल में 'अभ्याख्यान' शब्द आया है जिसके कई अर्थ होते हैं। आगमों में अभ्याख्यान शब्द के निम्न अर्थ प्रयुक्त हुए हैं -

- अभ्याख्यान अर्थात् दोषाविष्करण - दोष प्रकट करना (भगवती ५/६)
- असद् दोष का आरोपण करना - (प्रज्ञापना पद २२, प्रश्नव्याकरण० २)
- दूसरों के समक्ष निंदा करना (प्रश्न० २)
- असत्य अभियोग लगाना (आचारांग १/३)

अपकाय के जीवों के अस्तित्व को न मानना उनका अभ्याख्यान करना है क्योंकि किसी के अस्तित्व को नकारना, सत्य को असत्य, असत्य को सत्य, जीव को अजीव, अजीव को जीव कहना विपरीत कथन है। अपकाय को चेतन न मान कर जड़ मानना, मिथ्या भाषण करना है तथा जीव को अजीव बताना उस पर असत्य अभियोग लगाने के समान है।

इस प्रकार जो पुरुष अपकाय के जीवों के अस्तित्व का अपलाप करता है वह आत्मा के अस्तित्व का अपलाप करता है, स्वयं की सत्ता को नकारता है। जिस प्रकार स्व का अस्तित्व स्वीकार्य है उसी प्रकार अपकायिक जीवों का अस्तित्व भी स्वीकारना चाहिये।

(२१)

लज्जमाणा पुढो, पास अणगारा मो ति एगे पवथमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणोगरूवे पाणे विहिसइ।

कठिन शब्दार्थ - उदयकम्मसमारंभेणं - अपकाय (जल) के आरंभ-समारम्भ द्वारा, उदयसत्थं - अपकाय रूप शस्त्र का।

भावार्थ - आत्म-साधक अपकाय की हिंसा करने में लज्जा का अनुभव करते हैं तू उन्हें पृथक् देख! अर्थात् अपकाय का आरंभ करने वाले साधुओं से उन्हें भिन्न समझ।

कुछ साधु वेषधारी 'हम अनगर-गृहत्यागी हैं' ऐसा कथन करते हुए भी नाना प्रकार के शस्त्रों से अप् (जल) सम्बन्धी हिंसा में लग कर अपकायिक जीवों का आरम्भ-समारम्भ करते हैं तथा अपकायिक जीवों की हिंसा के साथ तदाश्रित, अन्य अनेक प्रकार के जीवों की भी हिंसा करते हैं।



विवेचन - जो अप्काय का स्वयं आरम्भ-समारम्भ नहीं करते हैं, दूसरों से नहीं करवाते हैं और आरम्भ-समारम्भ करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करते हैं। वे ही सच्चे अनगार हैं। ऐसे आत्मसाधकों को अप्काय का आरम्भ करने वाले वेषधारी साधकों से पृथक् समझने का सूत्रकार का निर्देश है।

जो वेषधारी साधु अपने आप को अनगार कहते हुए भी गृहस्थ के समान अप्काय का आरम्भ समारम्भ करते हैं, वे वास्तव में अनगार नहीं हैं। ऐसे साधुओं का अनुकरण नहीं करना चाहिये।

जो वस्तु, जिस जीवकाय के लिये मारक होती है वह उसके लिए शस्त्र है। निर्युक्तिकार ने गाथा ११३-११४ में अप्काय के शस्त्र इस प्रकार बताये हैं -

१. उत्सेचन - कुएं से जल निकालना
२. गालन - जल छानना
३. धोवन - जल से बर्तन आदि धोना
४. च्चकायशस्त्र - एक स्थान का जल दूसरे स्थान के जल का शस्त्र है
५. परकायशस्त्र - मिट्टी, तेल, क्षार, शर्करा, अग्नि आदि
६. तदुभयशस्त्र - जल से भीगी मिट्टी आदि और
७. भावशस्त्र - असंयम।

अप्कायिक हिंसा के कारण

(२२)

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाइमरणमोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं, से सयमेव उदयसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा उदयसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा उदयसत्थं समारंभंते समणुजाणइ, तं से अहियाए तं से अबोहीए।

भावार्थ - इस अप्काय के आरम्भ के विषय में निश्चय ही भगवान् महावीर स्वामी ने परिज्ञा (विवेक) फरमाई है। इस जीवन के लिये अर्थात् इस जीवन को नीरोग और चिरंजीवी बनाने के लिये, परिवन्दन-प्रशंसा के लिये, मान के लिये, पूजा प्रतिष्ठा के लिये, जन्म मरण से छूटने के लिये और दुःखों का नाश करने के लिये वह स्वयं अप्कायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है। यह हिंसा उसके अहित के लिए होती है, उसकी अबोधि के लिए होती है।



विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि अज्ञानी जीव किन किन कारणों से अप्काय का आरंभ-समारम्भ करते हैं। यह आरम्भ उस जीव के लिये अहितकारी और दुःखदायक होता है तथा अबोधि अर्थात् ज्ञान-बोधि, दर्शन बोधि और चारित्र बोधि की अनुपलब्धि के कारणभूत होता है अतः विवेकी पुरुष को अप्काय के आरम्भ से बचना चाहिये।

(२३)

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुद्वाय सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवइ, एस खलु गंधे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए। इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्म-समारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अणणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ॥२३॥

भावार्थ - वह साधक हिंसा के उक्त दुष्परिणामों को समझता हुआ संयम-साधना में तत्पर हो जाता है। कितनेक मनुष्यों को तीर्थंकर भगवान् के समीप अथवा अनंगार मुनियों के पास धर्म सुन कर यह ज्ञात हो जाता है कि "यह अप्काय का आरम्भ (जीव हिंसा) ग्रंथ-ग्रंथि है, यह मोह है, यह मृत्यु है और यही नरक है।" फिर भी विषय भोगों में आसक्त जीव अपने वन्दन, पूजन और सम्मान आदि के लिए नाना प्रकार के शस्त्रों से अप्काय के आरम्भ में संलग्न होकर अप्कायिक जीवों की हिंसा करता है तथा अप्कायिक जीवों की हिंसा के साथ तदाश्रित अन्य अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की भी हिंसा करता है।

विवेचन - शंका - प्रस्तुत सूत्र में अप्काय के आरम्भ को मोह, मार (मृत्यु) और नरक क्यों कहा है?

समाधान - अप्काय आदि जीवों का आरम्भ, ग्रन्थ, मोह, मृत्यु और नरक का कारण है। इन कारणों से नरक आदि गति की प्राप्ति होती है। इसलिये कारण में कार्य का उपचार करके अप्काय के आरम्भ को ग्रन्थ, मोह, मृत्यु और नरक कहा है।

अप्काय सजीव है

(२४)

से बेमि-संति पाणा उदयणिस्सिया जीवा अणेगे, इहं च खलु भो! अणगाराणं उदयजीवा वियाहिया। सत्थं चेत्थं अणुवीइ पास। पुढो सत्थं पवेइयं।

कठिन शब्दार्थ - उदयणिस्त्रिया - अप्काय के आश्रित - अप्काय के आश्रय में रहने वाले, अणेगे - अनेक, उदयजीवा - जल रूप जीव, अणुवीड - विचार कर, सत्थं - शस्त्र, पवेइयं - कहे हैं।

भावार्थ - मैं कहता हूँ कि अप्काय के आश्रय में रहने वाले अनेक प्राणी एवं जीव हैं। हे शिष्य! इस जैन दर्शन में निश्चय ही जल रूप जीव कहे गये हैं। अप्काय के जो शस्त्र हैं उन पर चिन्तन करके देख! भगवान् ने अप्काय के अनेक (पृथक्-पृथक्) शस्त्र कहे हैं।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि अप्काय (जल) सजीव है और जल के आश्रित अनेक प्रकार के छोटे बड़े (त्रस-स्थावर) जीव रहते हैं। क्योंकि जैन दर्शन के अलावा अन्य दर्शन जल को सजीव नहीं मानते हैं। अप्काय को सजीव मानना जैन दर्शन की मौलिक मान्यता है। जैनागमों में जल के तीन भेद बताये गये हैं - १. सचित्त - जीव सहित २. अचित्त - जीव रहित (निर्जीव) और ३. मिश्र - सचित्त और अचित्त का मिश्रण।

अग्नि एवं स्वकाय, परकाय आदि शस्त्रों के सम्पर्क से सचित्त जल अचित्त (निर्जीव) हो जाता है। जिस जल का वर्ण, गंध, रस और स्पर्श बदल गया हो वह जल अचित्त माना जाता है। ऐसे अचित्त जल को ही जैन साधु अपने उपयोग में लेते हैं, सचित्त और मिश्र जल को नहीं।

कुछ प्रतियों में "पुढो सत्थं पवेइयं" के स्थान पर "पुढोऽपासं पवेइयं" पाठान्तर भी मिलता है। जिसका अभिप्राय है - "शस्त्र परिणत जल ग्रहण करना अपाश-अबन्धन है, कर्मबन्ध का कारण नहीं है।"

(२५)

अदुवा अदिण्णादाणां।

भावार्थ - अप्काय की हिंसा, सिर्फ हिंसा ही नहीं अदत्तादान चोरी भी है।

विवेचन - जैसे हमें अपना शरीर प्रिय है वैसे ही प्रत्येक प्राणी को अपना शरीर, अपना जीवन प्रिय होता है, वह उसे अपनी इच्छा से छोड़ना नहीं चाहता। जल, जलकाय के जीवों की सम्पत्ति है। वे उसे देते नहीं हैं। किंतु अज्ञानी जीव उनसे जबरदस्ती से छीनते हैं। अतः जल के जीवों का प्राण हरण करना हिंसा तो है ही साथ ही उनके प्राणों की चोरी भी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि किसी भी जीव की हिंसा, हिंसा के साथ साथ अदत्तादान भी है। अतः सचित्त जल का उपभोग करने वाला हिंसा के साथ अदत्तादान का भी दोषी है।



(२६)

कप्पइ णे कप्पइ णे पाउं, अदुवा विभूसाए, पुढो सत्थेहिं विउट्टंति एत्थऽवि तेसिं णो णिकरणाए।

कठिन शब्दार्थ - कप्पइ - कल्पता है, णे - हम को, पाउं - पीना, विभूसाए - विभूषा के लिए, सत्थेहिं - शस्त्रों से, विउट्टंति - हिंसा करते हैं, णो णिकरणाए - निर्णय (निश्चय) करने में समर्थ नहीं हैं।

भावार्थ - अन्यतीर्थी (आजीवक एवं शैवमत वाले) कहते हैं कि - हमें सचित्त (कच्चा) जल पीना कल्पता है अथवा कच्चे जल से हाथ पैर धोना, स्नान करना एवं वस्त्र आदि धोना कल्पता है। इस प्रकार अन्यतीर्थी नाना प्रकार के शस्त्रों द्वारा जलकाय के जीवों की हिंसा करते हैं। इस विषय में उनके द्वारा मान्य सिद्धान्त - शास्त्र भी निश्चय करने में समर्थ नहीं हैं क्योंकि वे राग द्वेष रहित आप्त पुरुषों द्वारा रचे हुए नहीं हैं। अतः अपने शास्त्र का प्रमाण देकर जलकाय की हिंसा करने वाले साधु हिंसा के पाप से विरत नहीं हो सकते हैं।

विवेचन - अन्यतीर्थियों का अपने शास्त्र के अनुसार यह कथन कि “पीने के लिये अथवा विभूषा के लिए सचित्त जल का प्रयोग हमें कल्पता है” अज्ञान मूलक एवं मिथ्या है। क्योंकि उनके शास्त्र आप्त पुरुषों द्वारा रचित नहीं होने के कारण प्रामाणिक नहीं है। इसलिये सचित्त जल प्रयोग को निर्दोष नहीं कहा जा सकता है।

अपूकायिक जीवों के आरम्भ का निषेध

(२७)

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा परिण्णाया भवंति। एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा परिण्णाया भवंति।

तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं उदयसत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं उदयसत्थं समारंभावेज्जा उदयसत्थं समारंभंतेऽवि अण्णे ण समणुजाणेज्जा।

जस्सेए उदयसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति वेमि।

॥ पढमं अज्झयणं तइओद्देसो समत्तो ॥



भावार्थ - इस प्रकार अप्कायिक जीवों पर शस्त्र का समारम्भ करने वाला पुरुष वास्तव में इन आरम्भों-हिंसा संबंधी प्रवृत्तियों के कटु परिणामों एवं जीवों की वेदना से अपरिज्ञात-अनजान है। जो इन अप्कायिक जीवों पर शस्त्र का प्रयोग नहीं करता वह इन आरम्भों का ज्ञाता होता है।

बुद्धिमान् पुरुष अप्काय के आरम्भ-समारम्भ को कर्मबन्ध का कारण जान कर स्वयं अप्काय का समारम्भ न करे, न दूसरों से अप्काय का समारम्भ करवाएँ और अप्काय का समारम्भ करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करे।

जिसने अप्काय के समारम्भ को जान कर त्याग दिया है वही मुनि परिज्ञातकर्मा होता है - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - अप्काय जीव है, इसलिए उसका आरम्भ करना पाप का कारण है, यह जब तक जीव नहीं जानता है तब तक उसका त्याग नहीं कर सकता है। जो हिंसा संबंधी प्रवृत्तियों एवं जीवों की वेदना का ज्ञाता होता है वह हिंसा से मुक्त होता है। प्रस्तुत उद्देशक का सार यही है कि अप्कायिक जीवों पर किये जाने वाले शस्त्र प्रयोग से उन जीवों को वेदना होती है और यह कर्मबन्ध का कारण है ऐसा जान कर मुमुक्षु प्राणी तीन करण तीन योग से अप्कायिक जीवों की हिंसा का त्याग करे।

'त्तिबेमि' अर्थात् श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू! जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से सुना था उसी प्रकार मैं तुम्हें कहता हूँ।

॥ इति प्रथम अध्ययन का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

पटमं अज्झयणं चउत्थो उद्देशओ

प्रथम अध्ययन का चतुर्थ उद्देशक

प्रथम अध्ययन के तृतीय उद्देशक में अप्कायिक जीवों की सजीवता का बोध करा कर उनको अभयदान देने की प्रेरणा की गयी है। प्रस्तुत चतुर्थ उद्देशक में सूत्रकार तेजस्काय (अनिकाय) की सजीवता का वर्णन करते हैं जिसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -



अग्निकाय की सजीवता

(२८)

से बेमि-णेव सयं लोयं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोयं अब्भाइक्खइ।

भावार्थ - मैं कहता हूँ कि बुद्धिमान् पुरुष (मुनि) स्वयं लोक यानी अग्निकाय के जीवों के अस्तित्व का अपलाप न करे तथा न अपनी आत्मा का अपलाप करे। जो पुरुष लोक का यानी अग्निकायिक जीवों के अस्तित्व का अपलाप करता है वह आत्मा का अपलाप करता है और जो आत्मा का अपलाप करता है वह लोक - तेजस्कायिक जीवों के अस्तित्व का अपलाप करता है।

विवेचन - यहाँ 'लोक' शब्द से अग्निकाय रूप 'लोक' लिया गया है। प्रस्तुत सूत्र में अपनी आत्मा एवं अग्निकायिक जीवों की आत्मा के साथ तुलना करके तेजस्काय-अग्निकाय में चेतना-सजीवता है, इस बात को सिद्ध किया है। किसी सचेतन की सचेतना अस्वीकार करना अर्थात् उसे अजीव मानना अभ्याख्यान दोष है, उसकी सत्ता पर झूठा दोषारोपण करना है तथा दूसरे की सत्ता का अपलाप - अस्वीकार अपनी आत्मा का ही अपलाप है।

उष्णता और प्रकाश, ये दोनों गुण अग्नि की सजीवता के परिचायक हैं। इसके अलावा अग्नि वायु के बिना जीवित नहीं रह सकती। भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशक १ में कहा भी है- 'ण विणा वाउणाएणं अगणिकाए उज्जालइ' यदि अग्नि निर्जीव होती तो अन्य निर्जीव पदार्थों की तरह वह भी वायु के अभाव में अपने अस्तित्व को स्थिर रख पाती। किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः अग्नि की सजीवता स्पष्ट प्रमाणित होती है।

तेजस्काय की सजीवता को प्रमाणित करके अब आगमकार अग्नि के आरंभ से निवृत्त होने का उपदेश देते हुए कहते हैं -

(२९)

जे दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे, से असत्थस्स खेयण्णे, जे असत्थस्स खेयण्णे, से दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे।



कठिन शब्दार्थ - दीहलोगरत्थस्स - दीर्घलोक शस्त्र (अग्निकाय) का, खेयण्णे - क्षेत्रज्ञ - जानकार-स्वरूप को जानने वाला, असत्थस्स - अशस्त्र अर्थात् संयम का।

भावार्थ - जो दीर्घलोक शस्त्र - अग्निकाय के स्वरूप को जानता है वह अशस्त्र - संयम का स्वरूप भी जानता है। जो संयम का स्वरूप जानता है वह दीर्घलोक शस्त्र - अग्निकाय का स्वरूप भी जानता है।

विवेचन - संसार में जितने भी एकेन्द्रिय प्राणी हैं उन सब से वनस्पति अर्थात् वृक्ष ही बड़ा होता है। क्योंकि वनस्पति की अवगाहना एक हजार योजन झाड़ेरी है। शेष चार स्थावरों की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र ही है। इसलिए उसे 'दीर्घलोक' कहा है। अग्नि उसे जला डालती है अतः अग्नि को 'दीर्घलोक शस्त्र' कहा गया है। वनस्पति के लिए अग्नि शस्त्र रूप है। उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३५ गाथा १२ में तो कहा है -

'णत्थि जोइसमं सत्थे तम्हा जोइं ण दीवाए'

अर्थात् अग्नि के समान अन्य कोई तीक्ष्ण शस्त्र नहीं है। संयम ही एक ऐसी वस्तु है जिससे किसी भी प्राणी का घात नहीं होता है अतः उसे 'अशस्त्र' कहा है। निर्युक्तिकार ने अग्निकाय के शस्त्रों का उल्लेख इस प्रकार किया है -

१. मिट्टी या धूलि - इससे वायु निरोधक वस्तु कंबल आदि भी समझना चाहिये।

२. जल ३. आर्द्र वनस्पति ४. त्रसप्राणी ५. स्वकाय शस्त्र - एक अग्नि दूसरी अग्नि का शस्त्र है ६. परकाय शस्त्र - जल आदि ७. तदुभयमिश्रित - जैसे तुष-मिश्रित अग्नि दूसरी अग्नि का शस्त्र है ८. भाव शस्त्र - असंयम, यहाँ असंयम को भावशस्त्र बताया है अतः उसका विरोधी संयम - अशस्त्र अर्थात् जीव मात्र का रक्षक है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'खेयण्णे' शब्द के संस्कृत में दो रूप बनते हैं - १. क्षेत्रज्ञः और २. खेदज्ञः। दोनों शब्दों का अर्थ करते हुए टीकाकार लिखते हैं -

'क्षेत्रज्ञो निपुणः अग्निकायं वर्णादितो जानातीत्यर्थः। खेदज्ञो वा खेदः तद्व्यापारः सर्वं सत्वानां दहनात्मकः पाकाद्यनेक शक्ति कलापोपचितः प्रवरमणिरिव जाज्वल्यमानो लब्धाग्नि व्यपदेशो यतीनामनारम्भणीयः तमेवंविधं खेदं अग्नि व्यापारं जानातीति खेदज्ञः।'

अर्थात् - अग्नि को वर्णादि रूप से जानने वाले को क्षेत्रज्ञः कहते हैं और अग्नि के दहनादि रूप व्यापार का नाम खेद है और उसका परिज्ञाता खेदज्ञ कहलाता है।



जो अग्नि के स्वरूप का ज्ञाता होता है वही संयम का आराधक होता है और जो संयम के स्वरूप को भलीभांति जानता है वही अग्निकाय के आरम्भ से निवृत्त होता है। इस तरह अशस्त्र रूप संयम और अग्निकाय रूप शस्त्र के आरम्भनिवृत्ति का घनिष्ठ संबंध प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट किया है।

अग्नि शस्त्र और संयम अशस्त्र है

(३०)

वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं, संजएहिं सया जत्तेहिं सया अप्पमत्तेहिं।

कठिन शब्दार्थ - वीरेहिं - वीर पुरुषों (तीर्थकरों) ने, सया - सदा, अभिभूय - परीषह उपसर्ग और ज्ञानावरणीय आदि घाती कर्मों को अभिभव - जीत कर, दिट्ठं - देखता है, संजएहिं - संयमी, जत्तेहिं - यतनाशील - अतिचार रहित मूलगुण और उत्तरगुण के पालन में यत्न करने वाले, अप्पमत्तेहिं - अप्रमत्त - प्रमाद रहित।

भावार्थ - सदा अप्रमत्त और सदा यतनाशील संयमी वीर पुरुषों (तीर्थकरों, सामान्य केवलियों) ने परीषह उपसर्ग और ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को जीत कर यह देखा है अर्थात् अग्नि को शस्त्र रूप और संयम को अशस्त्र रूप देखा है।

विवेचन - वीर पुरुषों अर्थात् सर्वज्ञ सर्वदर्शी केवलज्ञानियों ने यह फरमाया है कि अग्नि समस्त प्राणियों का घातक शस्त्र है और संयम समस्त प्राणियों का रक्षक अशस्त्र है। अतः मुमुक्षु प्राणियों को अग्नि के आरम्भ का त्याग कर शुद्ध संयम का पालन करना चाहिए।

(३१)

जे पमत्ते गुणट्टिए से हु दंडे त्ति पवुच्चइ।

तं परिण्णाय मेहावी इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाणं।

कठिन शब्दार्थ - पमत्ते - प्रमत्त-प्रमादी, गुणट्टिए - गुणार्थी-अग्नि के रन्धन, पाचन, आतप, प्रकाश आदि गुणों का अर्थी, दंडे - दण्ड - हिंसक, पवुच्चइ - कहा जाता है, परिण्णाय- जानकर, मेहावी - मेधावी-बुद्धिमान् पुरुष, पुव्वमकासी - पहले किया था, पमाणं - प्रमाद से।



भावार्थ - जो पुरुष प्रमादी है अग्नि के रांधना-पकाना आदि गुणों का अर्थी है वह निश्चय ही हिंसक - प्राणियों को दण्ड देने वाला कहा जाता है।

बुद्धिमान् पुरुष अग्नि काय के आरम्भ को समस्त प्राणियों का घातक जान कर यह निश्चय करे कि पहले प्रमाद के कारण मैंने जो अग्नि काय का आरम्भ किया था सो अब नहीं करूँगा।

विवेचन - मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा, ये पांच प्रमाद हैं। जो प्रमाद का सेवन करने वाला है तथा रसोई बनाने, प्रकाश करने और शीत निवारण आदि प्रयोजनों के लिए अग्नि काय का आरम्भ करता है तो वह जीवों का दण्ड (हिंसक) बन जाता है क्योंकि अग्नि के आरम्भ से छहों काय के जीवों का घात होता है।

इस प्रकार अग्नि काय के आरम्भ के बुरे परिणामों को जान कर बुद्धिमान् पुरुष उसका सर्वथा त्याग कर दे।

(३२)

लज्जमाणा पुढो पास-अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे, अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ।

कठिन शब्दार्थ - अगणिकम्म समारंभेणं - अग्नि काय के आरम्भ के द्वारा, अगणिसत्थं- अग्नि काय रूप शस्त्र का।

भावार्थ - आत्म साधक अग्नि काय का आरम्भ करने में लज्जा का अनुभव करते हैं तू उन्हें पृथक् देख! अर्थात् अप्काय का आरम्भ करने वाले साधुओं से उन्हें भिन्न समझ।

कुछ साधु वेषधारी “हम अनगार-गृहत्यागी हैं” ऐसा कथन करते हुए भी नानाप्रकार के शस्त्रों से अग्नि संबंधी हिंसा में लग कर अग्नि कायिक जीवों का आरम्भ-समारम्भ करते हैं तथा अग्नि कायिक जीवों की हिंसा के साथ तदाश्रित अन्य अनेक प्रकार के जीवों की भी हिंसा करते हैं।

विवेचन - जो अग्नि काय का स्वयं आरम्भ-समारम्भ नहीं करते हैं, दूसरों से नहीं करवाते हैं और आरम्भ समारम्भ करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करते हैं वे ही सच्चे अनगार हैं। ऐसे आत्म साधकों को अग्नि काय का आरम्भ करने वाले वेशधारी साधकों से पृथक् समझने का सूत्रकार का निर्देश है।



जो वेशधारी साधु अपने आप को अनगार कहते हुए भी गृहस्थ के समान अग्निकाय का आरम्भ समारम्भ करते हैं वे वास्तव में अनगार नहीं हैं। ऐसे साधुओं का अनुकरण नहीं करना चाहिये।

अग्निकायिक हिंसा के कारण

(३३)

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाइमरणमोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव अगणिसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा अगणिसत्थं समारंभावेइ अण्णे वा अगणिसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ। तं से अहियाए, तं से अबोहिए।

भावार्थ - इस अग्निकाय के आरम्भ के विषय में निश्चय ही भगवान् महावीर स्वामी ने परिज्ञा (विवेक) फरमाई है। इस जीवन के लिए अर्थात् इस जीवन को नीरोग और चिरंजीवी बनाने के लिए परिवन्दन-प्रशंसा के लिए, मान के लिए, पूजा प्रतिष्ठा के लिए जन्म मरण से छूटने के लिए और दुःखों का नाश करने के लिए वह स्वयं तेजस्कायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है। यह हिंसा उसके लिए अहित के लिए होती है, उसकी अबोधि के लिए होती है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि अज्ञानी जीव किन किन कारणों से अग्निकाय का आरम्भ समारम्भ करते हैं। यह आरम्भ उस जीव के लिए अहितकारी और दुःखदायक होता है तथा अबोधि अर्थात् ज्ञान बोधि, दर्शन बोधि और चारित्र बोधि की अनुपलब्धि के कारणभूत होता है अतः विवेकी पुरुष को अग्निकाय के आरम्भ से बचना चाहिए।

(३४)

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा, खलु भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवइ एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।

इच्चत्थं गट्टिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्म-समारंभेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ।



भावार्थ - वह साधक हिंसा के उक्त दुष्परिणामों को समझता हुआ संयम साधना में तत्पर हो जाता है, कितनेक मनुष्यों को तीर्थंकर भगवान् के समीप अथवा अनगर मुनियों के पास धर्म सुन कर यह ज्ञात हो जाता है कि 'यह अग्निकाय का आरम्भ (जीव हिंसा) ग्रन्थ-ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है और यही नरक है।' फिर भी विषय भोगों में आसक्त जीव अपने वन्दन, पूजन और सम्मान आदि के लिए नाना प्रकार के शस्त्रों से अग्निकाय के आरम्भ में संलग्न होकर अग्निकायिक जीवों की हिंसा करता है तथा अग्निकायिक जीवों की हिंसा के साथ तदाश्रित अन्य अनेक प्रकार के छोटे-बड़े (त्रस-स्थावर) जीवों की भी हिंसा करता है।

विवेचन - अग्निकायिक जीवों का आरम्भ ग्रन्थ, मोह, मृत्यु और नरक का कारण है। इन कारणों से नरक आदि गति की प्राप्ति होती है। इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके अग्निकाय के आरम्भ को ग्रन्थ, मोह, मृत्यु और नरक कहा गया है।

(३५)

से बेमि, संति पाणा, पुढविणिस्सिया, तणणिस्सिया, पत्तणिस्सिया, कट्टणिस्सिया, गोमयणिस्सिया, कयवरणिस्सिया, संति संपाइमा पाणा, आहच्च संपयंति। अगणिं च खलु पुट्टा, एगे संधायमावज्जंति, जे तत्थ संधायमावज्जंति ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति।

कठिन शब्दार्थ - पुढवीणिस्सिया - पृथ्वीनिश्रिता:-पृथ्वी के आश्रय में रहने वाले, तणणिस्सिया - तृणनिश्रिता:-तृण के आश्रय में रहने वाले, पत्तणिस्सिया - पत्रनिश्रिता:-पत्तों के आश्रय में रहने वाले, कट्टणिस्सिया - काष्ठनिश्रिता:-काठ के आश्रय में रहने वाले, गोमयणिस्सिया - गोबर के आश्रय में रहने वाले, कयवरणिस्सिया - कचरे के आश्रय में रहने वाले, संपाइमा - उड़ने वाले, आहच्च - कदाचित्, संपयंति - गिरते हैं, पुट्टा - स्पर्श करके, संधायमावज्जंति - संघात को प्राप्त होते हैं, घायल हो जाते हैं, परियावज्जंति-मूर्च्छित हो जाते हैं, उद्दायंति - मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

भावार्थ - मैं कहता हूँ कि - पृथ्वी, तृण, पत्र, काष्ठ, गोबर और कूड़े-कचरे के आश्रित बहुत से प्राणी रहते हैं। कुछ कीट पतंगों, पक्षी आदि संपात्तिम-उड़ने वाले प्राणी होते हैं जो अग्नि में गिर जाते हैं और अग्नि का स्पर्श पाकर वे शरीर संघात को प्राप्त होते हैं। मूर्च्छित हो जाते हैं तथा मूर्च्छित हो जाने के बाद वे प्राणी मृत्यु को भी प्राप्त हो जाते हैं।



विवेचन - पृथ्वीकाय तथा पृथ्वी के आश्रित और तृण, पत्र, काष्ठ, गोबर तथा कचरे के आश्रित जीव एवं पतंग, भ्रमर, मक्खी, मच्छर आदि उड़ने वाले जीव अग्नि का स्पर्श पाकर घायल हो जाते हैं, मूर्च्छित हो जाते हैं और जल कर भस्म हो जाते हैं। अतः अग्नि के आरम्भ को छह काय जीवों का घातक होने से पाप का कारण जान कर उसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

(३६)

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिण्णायया भवंति एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा परिण्णायया भवंति।

भावार्थ - इस प्रकार अग्निकायिक जीवों पर शस्त्र का समारम्भ करने वाला पुरुष वास्तव में इन आरम्भों - हिंसा संबंधी प्रवृत्तियों के कटु परिणामों एवं जीव की वेदना से अपरिज्ञात - अनजान है। जो इन अग्निकायिक जीवों पर शस्त्र का प्रयोग नहीं करता वह इन आरम्भों का ज्ञाता होता है।

विवेचन - अग्निकाय (तेजस्काय) जीव है इसलिए उसका आरम्भ करना पाप का कारण है, यह जब तक जीव नहीं जानता है तब तक उसका त्याग नहीं कर सकता है। जो पुरुष अग्निकाय के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानता है वही अग्निकाय के आरम्भ का त्यागी हो सकता है। आरम्भ में लगा पुरुष हिंसा संबंधी प्रवृत्तियों के कटु परिणामों से अनजान होता है तथा जो हिंसा संबंधी प्रवृत्तियों एवं जीवों की वेदना का ज्ञाता होता है वह हिंसा से मुक्त होता है।

अग्निकायिक जीव हिंसा का निषेध

(३७)

तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं अगणिसत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं अगणिसत्थं समारंभावेज्जा, अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे ण समणुज्जाणेज्जा। जस्स एए अगणिकम्पसमारंभा परिण्णायया भवंति, से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति वेमि।

॥ पढमं अज्झयणं चउत्थोहेसो समत्तो ॥

भावार्थ - बुद्धिमान् पुरुष तेजकाय (अग्निकाय) के आरम्भ-समारम्भ को कर्म बन्ध का



कारण जान कर स्वयं अग्निकाय का, समारम्भ न करे, न दूसरों से अग्निकाय का समारम्भ करवाएँ और अग्निकाय का समारम्भ करने वालों का अनुमोदन भी न करे।

जिसने अग्निकाय के समारम्भ को जान कर त्याग दिया है वही मुनि परिज्ञातकर्मा होता है - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र का सार यही है कि मुमुक्षु अग्निकायिक जीवों पर किये जाने वाले शस्त्र प्रयोग से जो उन्हें वेदना होती है और इससे जो कर्म बन्ध होता है उसे समझे और तीन करण तीन योग से अग्निकाय के आरम्भ का त्याग करे।

त्ति बेमि अर्थात् - श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य श्री जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् - जम्बू! जिस प्रकार मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से सुना था उसी प्रकार मैं तुम्हें कहता हूँ।

॥ इति प्रथम अध्ययन का चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

पटमं अज्झयणं पंचमो उद्देशो

प्रथम अध्ययन का पांचवां उद्देशक

प्रथम अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक में अग्निकाय का वर्णन करते हुए उसके आरम्भ-समारम्भ के त्याग की प्रेरणा की गयी है। इस पांचवें उद्देशक में वनस्पतिकाय का वर्णन किया जाता है। यद्यपि अग्निकाय के पश्चात् वायुकाय का वर्णन करना चाहिये था किन्तु वायुकाय अचाक्षुष-आंखों से नहीं दिखाई देने वाला होने से उसका ज्ञान कठिनता से होता है। वनस्पतिकाय तो सब को प्रत्यक्ष दिखाई देती है। उसका ज्ञान होना सरल है इसलिए सूत्रकार ने इस उद्देशक में पहले वनस्पतिकाय का वर्णन किया है। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

अनगार-लक्षण

(३८)

तं णो करिस्सामि समुट्ठाए मत्ता मइमं, अभयं विइत्ता, तं जे णो करए, एसोवरए, एत्थोवरए, एस अणगारे त्ति पवुच्चइ।



कठिन शब्दार्थ - समुद्राए - समुत्थाय-संयम अंगीकार करके, मत्ता - जीवादि पदार्थों के स्वरूप को जान कर, मडमं - मतिमान्, अभयं - अभय-सभी भयों से रहित-संयम को, विइत्ता - जान कर, करए - करता है, एस् - एष-वही, उवरए - उपरत-निवृत्त-त्यागी।

भावार्थ - श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे उत्तम बुद्धि वाले शिष्य! जीवादि पदार्थों के स्वरूप को जान कर प्रभु आज्ञा के अनुसार संयम अंगीकार करके एवं समस्त भयों से रहित संयम को जानकर यह संकल्प करे कि मैं वनस्पतिकाय का आरम्भ नहीं करूँगा। जो पुरुष वनस्पतिकाय का आरम्भ नहीं करता है वही पुरुष उपरत यानी सावद्य कर्म से निवृत्त है। ऐसा सर्व सावद्य कर्म से निवृत्त पुरुष इस जैन शासन में ही होता है, अन्यत्र नहीं होता है। ऐसा पुरुष ही अनगार कहलाता है।

विवेचन - जो वनस्पतिकाय का स्वयं आरम्भ नहीं करता है, दूसरों से नहीं करवाता है और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करता है वही अनगार कहा जाता है। जो इससे विपरीत आचरण करता है, वह अनगार नहीं है।

संसार एवं संसार परिभ्रमण का कारण

(३६)

जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे।

कठिन शब्दार्थ - गुणे - गुण - शब्दादि विषय, आवट्टे - आवर्त्त - संसार।

भावार्थ - जो गुण - शब्दादि विषय हैं वह आवर्त्त - संसार है। जो आवर्त्त - संसार है वही गुण है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में संसार क्या है? और संसार परिभ्रमण का कारण क्या है? इसका स्पष्टीकरण किया गया है। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन, इन पांचों इन्द्रियों के शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श, ये जो पांच विषय हैं, उन्हें 'गुण' कहते हैं तथा संसार को 'आवर्त्त' कहते हैं। कहा भी है -

'आवर्त्तन्ते-परिभ्रमन्ति प्राणिनो यत्र स आवर्त्तः-संसारः'

अर्थात् - जिसमें प्राणियों का आवर्त्त-परिभ्रमण होता रहे, उसे आवर्त्त-संसार कहते हैं।

यद्यपि आवर्त्त शब्द का अर्थ नदी आदि का भंवर भी होता है तथापि जैसे नदी आदि के भंवर में पड़ी हुई वस्तु निरन्तर भ्रमण करती रहती है इसी तरह संसार में पड़े हुए प्राणी भी

निरन्तर चारों गतियों में भ्रमण करते रहते हैं इसलिये यहाँ संसार के लिए आवर्त शब्द का प्रयोग किया गया है।

शब्दादि विषयों में जीवों की जो आसक्ति है वही संसार परिभ्रमण का कारण है। क्योंकि इनसे कर्म का बन्ध होता है और कर्म बन्ध के कारण आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है। इस तरह ये विषय अर्थात् गुण संसार का कारण है और शब्दादि गुणों से कर्म बन्धते हैं। कर्म से आत्मा में गुणों की परिणति होती है इस दृष्टि से गुण को संसार कहा गया है और दोनों जगह कारण में कार्य का आरोप होने से गुणों को संसार एवं संसार को गुण कहा गया है।

विषयासक्ति और अनासक्ति

(४०)

उहं-अहं-तिरियं-पाईणं पासमाणे रूवाइं पासइ, सुणमाणे सदाइं सुणेइ,
उहं-अहं-तिरियं पाईणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छइ, सद्देसु यावि एस लोए वियाहिए।
एत्थ अगुत्ते अणाणाए पुणो पुणो गुणासाए वंकसमायारे पमत्तेऽगारमावसे।

कठिन शब्दार्थ - उहं - ऊपर, अहं - नीचे, तिरियं - तिरछे, पाईणं - पूर्व आदि दिशाओं में, पासमाणे - देखता हुआ, रूवाइं - रूपों को, पासइ - देखता है, सुणमाणे - सुनता हुआ, सदाइं - शब्दों को, सुणेइ - सुनता है, मुच्छमाणे - राग करता हुआ, मुच्छइ-मूर्च्छित होता है, अगुत्ते - अगुप्त, अणाणाए - अनाज्ञायाम् - आज्ञा में नहीं, पुणो पुणो - बार-बार, गुणासाए - गुणास्वादः - गुणों - विषयों का आस्वाद, वंकसमायारे - वक्रसमाचार-कुटिल आचरण करने वाला - असंयममय जीवन वाला, अगारं - गृहस्थ वास में, आवसे - निवास करता है।

भावार्थ - ऊपर, नीचे, तिरछे, पूर्व आदि दिशाओं में देखता हुआ जीव रूपों को देखता है और सुनता हुआ शब्दों को सुनता है। ऊपर, नीचे, तिरछे पूर्व आदि दिशाओं में देखे जाने वाले रूपों में राग करता हुआ प्राणी उनमें मूर्च्छित होता है और इसी तरह शब्दों आदि में भी राग करता हुआ जीव बन्ध को प्राप्त होता है।

यह लोक अर्थात् रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द विषय कहे गये हैं। जो पुरुष इन विषयों में अगुप्त है वह भगवान् की आज्ञा में नहीं है।



बार-बार शब्दादि में आसक्त हो कर उनका उपभोग करने वाला पुरुष वंक समाचार-कुटिल आचरण करने वाला होता है और इनकी प्राप्ति के लिए वह असंयममय जीवन हिंसा, झूठ आदि पापों का सेवन करता है।

जो पुरुष प्रमत्त अर्थात् शब्दादि में आसक्त है वह गृहस्थवास में निवास करता है।

विवेचन - शब्दादि काम गुण संसार परिभ्रमण के कारण हैं। वे ऊपर, नीचे, तिरछे सर्वत्र व्याप्त है, कोई स्थान इन से खाली नहीं है। किन्तु आगमकार फरमाते हैं कि रूप एवं शब्द आदि का देखना सुनना स्वयं में कोई दोष नहीं है किन्तु उनमें आसक्ति अर्थात् राग या द्वेष होने से आत्मा उनमें मूर्च्छित हो जाता है। यह आसक्ति ही संसार है। इसलिए विवेकी पुरुषों को उस आसक्ति का त्याग कर देना चाहिये।

प्रस्तुत सूत्र में लोक शब्द से रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द लिये गये हैं। जो पुरुष इनमें आसक्त होकर राग द्वेष के वशीभूत होता है वह अगुप्त है और वह जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा में नहीं है।

दीक्षित होकर भी जो मुनि विषयासक्त बन जाता है और बार-बार विषयों का सेवन करता है। उसका यह आचरण वक्र-समाचार है, कपटाचरण है क्योंकि वेष से तो वह त्यागी दिखता है किन्तु वास्तव में वह प्रमादी है, गृहवासी है और जिन भगवान् की आज्ञा से बाहर है।

वनस्पतिकायिक जीव हिंसा

(४१)

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइकम्मसमारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ।

भावार्थ - आत्मसाधक वनस्पतिकाय का आरम्भ करने में लज्जा का अनुभव करते हैं, तू उन्हें पृथक् देख! अर्थात् वनस्पतिकाय का आरम्भ करने वाले साधुओं से उन्हें भिन्न समझ।

कुछ साधु वेषधारी “हम अनगार-गृहत्यागी हैं” ऐसा कथन करते हुए भी नाना प्रकार के शस्त्रों से वनस्पतिकाय संबंधी हिंसा में लग कर वनस्पतिकायिक जीवों का आरम्भ समारम्भ करते हैं तथा वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा के साथ तदाश्रित अन्य अनेक प्रकार की जीवों की भी हिंसा करते हैं।



विवेचन - जो वनस्पतिकाय का स्वयं आरम्भ-समारम्भ नहीं करते हैं, दूसरों से नहीं करवाते हैं और आरम्भ समारम्भ करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करते हैं वे ही सच्चे अनंगार हैं। ऐसे आत्मसाधकों को वनस्पतिकाय का आरम्भ करने वाले वेषधारी साधकों से पृथक् समझने का सूत्रकार का निर्देश है। जो वेषधारी साधु अपने आप को अनंगार कहते हुए भी गृहस्थ के समान वनस्पतिकाय का आरम्भ समारम्भ करते हैं, वे वास्तव में अनंगार नहीं हैं।

वनस्पतिकायिक हिंसा के कारण

(४२)

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया। इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-
माणण-पूयणाए, जाइमरण मोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वणस्सइसत्थं
समारंभइ, अण्णेहिं वा वणस्सइसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा वणस्सइसत्थं
समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहिए।

भावार्थ - इस वनस्पतिकाय के आरम्भ के विषय में निश्चय ही भगवान् महावीर स्वामी ने परिज्ञा (विवेक) फरमाई है। इस जीवन के लिये अर्थात् इस जीवन को नीरोग और चिरंजीवी बनाने के लिये, मान के लिये, पूजा प्रतिष्ठा के लिये, जन्म मरण से छूटने के लिये और दुःखों का नाश करने के लिये वह स्वयं वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है। यह हिंसा उसके अहित के लिये होती है, उसकी अबोधि के लिये होती है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि अज्ञानी जीव किन किन कारणों से वनस्पतिकाय का आरम्भ समारम्भ करते हैं। यह आरम्भ उस जीव के लिये अहितकारी और दुःखदायक होता है तथा अबोधि के लिये होता है। अतः विवेकी पुरुष को वनस्पतिकाय के आरम्भ से बचना चाहिये।

(४३)

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए सोच्चा भगवओ, अणगाराणं वा
अंतिए इहमेगेसिं णायं भवइ-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस

खलु णरए। इच्चत्थं गट्टिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइकम्म-
समारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ।

भावार्थ - वह साधक हिंसा के उक्त दुष्परिणामों को समझता हुआ संयम साधना में तत्पर हो जाता है। कितनेक मनुष्यों को तीर्थंकर भगवान् के समीप अथवा अनगर मुनियों के पास धर्म सुन कर यह ज्ञात हो जाता है कि “यह वनस्पतिकाय का आरम्भ (जीवहिंसा) ग्रंथ-ग्रंथि है, यह मोह है, यह मृत्यु है और यही नरक है।” फिर भी विषय भोगों में आसक्त जीव अपने वंदन, पूजन और सम्मान आदि के लिये नाना प्रकार के शस्त्रों से वनस्पतिकाय के आरम्भ में संलग्न होकर वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है तथा वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा के साथ तदाश्रित अन्य अनेक प्रकार के छोटे बड़े (त्रस-स्थावर) जीवों की भी हिंसा करता है।

विवेचन - वनस्पतिकायिक जीवों का आरम्भ ग्रंथ, मोह, मृत्यु और नरक का कारण है।

मनुष्य और वनस्पति में समानता

(४४)

से बेमि-इमंपि जाइधम्मयं, एयंपि जाइधम्मयं, इमंपि वुद्धिधम्मयं एयंपि
वुद्धिधम्मयं, इमंपि चित्तमंतयं एयंपि चित्तमंतयं, इमंपि छिण्णं मिलाइ, एयंपि
छिण्णं मिलाइ, इमंपि आहारगं, एयंपि आहारगं, इमंपि अणिच्चयं, एयंपि
अणिच्चयं, इमंपि असासयं, एयंपि असासयं, इमंपि चयोवचइयं, एयंपि
चयोवचइयं, इमंपि विपरिणामधम्मयं, एयंपि विपरिणामधम्मयं।

कठिन शब्दार्थ - जाइधम्मयं - जातिधर्म-उत्पत्ति धर्म वाला, वुद्धिधम्मयं - वृद्धि धर्म
वाला, चित्तमंतयं - चेतनता युक्त, चेतन, छिण्णं - छिन्न-काट देने पर, मिलाइ - म्लान हो
जाता है, सूख जाता है, आहारगं - आहार करता है, अणिच्चयं - अनित्य, असासयं -
अशाश्वत, चयोवचइयं - अपचय और उपचय को प्राप्त, विपरिणामधम्मयं - विपरिणाम
धर्म वाला - अनेक प्रकार के परिवर्तनों से युक्त, परिणामी।

भावार्थ - मैं कहता हूँ कि जैसे - यह मनुष्य का शरीर उत्पत्ति (जन्म) धर्म वाला है
वैसे ही यह वनस्पतिकाय भी उत्पत्ति धर्म वाला है। जैसे यह मनुष्य का शरीर वृद्धिधर्म वाला है



वैसे ही यह वनस्पतिकाय भी वृद्धिधर्म वाला है। जैसे यह मनुष्य का शरीर चेतन है वैसे ही यह वनस्पतिकाय भी चेतन है। जैसे यह मनुष्य का शरीर छिन्न होने पर म्लान हो जाता है उसी प्रकार यह वनस्पति भी छिन्न होने पर म्लान हो जाती है, काट देने पर सूख जाती है। जैसे यह मनुष्य आहार करता है वैसे ही वनस्पति भी आहार करती है। जैसे यह मनुष्य का शरीर अनित्य है वैसे ही यह वनस्पतिकाय भी अनित्य है। जैसे यह मनुष्य का शरीर अशाश्वत है वैसे ही वनस्पतिकाय भी अशाश्वत है। जैसे यह मनुष्य का शरीर अपचय-हास और उपचय-वृद्धि को प्राप्त होता है वैसे ही यह वनस्पतिकाय भी चयोपचय (अपचय और उपचय) को प्राप्त होता है। जैसे मनुष्य का शरीर विपरिणामधर्मी-अनेक प्रकार के परिणामों (अवस्थाओं) वाला है उसी प्रकार वनस्पतिकाय भी अनेक प्रकार के परिणामों को प्राप्त होता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में वनस्पति की सजीवता को सिद्ध करने के लिये उसकी मनुष्य शरीर के साथ तुलना की गई है और यह स्पष्ट किया गया है कि जो गुणधर्म मनुष्य के शरीर में पाए जाते हैं वे ही गुणधर्म वनस्पति के शरीर में भी होते हैं।

बहुत से अन्यतीर्थी वनस्पतिकाय को सचेतन नहीं मान कर अचेतन मानते हैं और उसके छेदन-भेदन में हिंसा न होना बताते हैं किंतु उनकी यह मान्यता अज्ञानमूलक है। क्योंकि जैसे हमारे चेतनायुक्त शरीर में उत्पत्ति, वृद्धि, चेतना, चय, उपचय आदि धर्म पाये जाते हैं, वैसे ही वे सारे धर्म वनस्पतिकाय में भी पाये जाते हैं। अतः वनस्पति चेतन है, अचेतन नहीं।

जैनदर्शन में वनस्पति के संबंध में बहुत ही सूक्ष्म एवं व्यापक चिंतन किया गया है। जब सर जगदीशचन्द्र बोस ने वनस्पति में भी मानव के समान ही चेतनता की सिद्धि कर बताई है तब से जैनदर्शन का वनस्पति सिद्धान्त एक वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है।

वनस्पति विज्ञान (Botany) आज जीव-विज्ञान का प्रमुख अंग बन गया है। सभी जीवों को जीवन-निर्वाह करने, वृद्धि करने, जीवित रहने और प्रजनन (संतानोत्पत्ति) के लिए भोजन किंवा ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है। यह ऊर्जा सूर्य से फोटोन (Photon) तरंगों के रूप में पृथ्वी पर आती है। इसे ग्रहण करने की क्षमता सिर्फ पेड़-पौधों में ही है। पृथ्वी के सभी प्राणी पौधों से ही ऊर्जा (जीवन शक्ति) प्राप्त करते हैं। अतः पेड़-पौधों (वनस्पति) का मानव जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वैज्ञानिक व चिकित्सा-वैज्ञानिक मानव-शरीर के विभिन्न अवयवों का, रोगों का तथा आनुवंशिक गुणों का अध्ययन करने के लिए आज 'वनस्पति' (पेड़-पौधों) का, अध्ययन करते हैं। अतः वनस्पति-विज्ञान के क्षेत्र में आगमसम्मत वनस्पतिकायिक जीवों की मानव शरीर के साथ तुलना बहुत अधिक महत्त्व रखती है।



(४५)

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिण्णयाया भवंति। एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा परिण्णयाया भवंति। तं परिण्णयाय मेहावी णेव सयं वणस्सइसत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं वणस्सइसत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे वणस्सइसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते वणस्सइसत्थसमारंभा परिण्णयाया भवंति, से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि ॥४५॥

॥ पढमं अज्झयणं पंचमोद्देशो समत्तो ॥

भावार्थ - इस प्रकार वनस्पतिकायिक जीवों पर शस्त्र का समारम्भ करने वाला पुरुष वास्तव में इन आरम्भों - हिंसा संबंधी प्रवृत्तियों के कटु परिणामों एवं जीव की वेदना से अपरिज्ञात - अनजान है। जो इन वनस्पतिकायिक जीवों पर शस्त्र का प्रयोग नहीं करता, वह इन आरम्भों का ज्ञाता होता है।

बुद्धिमान् पुरुष वनस्पतिकाय के आरम्भ-समारम्भ को कर्मबन्ध का कारण जान कर स्वयं वनस्पतिकाय का समारम्भ न करे, न दूसरों से वनस्पतिकाय का समारम्भ करवाए और वनस्पतिकाय का समारम्भ करने वालों का अनुमोदन भी न करें।

जिसने वनस्पतिकाय के समारम्भ को जान कर त्याग दिया है, वही मुनि परिज्ञातकर्मा होता है - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - वनस्पतिकाय जीव (सचेतन) है इसलिये उसका आरम्भ करना पाप का कारण है। यह जब तक जीव नहीं जानता है तब तक उसका त्याग नहीं कर पाता है। जो पुरुष वनस्पतिकाय के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानता है वही वनस्पतिकाय के आरम्भ का त्यागी हो सकता है। आरम्भ में लगा पुरुष हिंसा संबंधी प्रवृत्तियों के कटु परिणामों से अनजान होता है तथा जो हिंसा संबंधी प्रवृत्तियों एवं जीवों की वेदना का ज्ञाता होता है वह हिंसा से मुक्त होता है।

प्रस्तुत सूत्र का सार यही है कि मुमुक्षु वनस्पतिकायिक जीवों पर किये जाने वाले शस्त्र प्रयोग से जो उन्हें वेदना होती है और इससे जो कर्मबन्ध होता है उसे समझें और तीन करण तीन योग से वनस्पतिकाय के आरम्भ का त्याग करें।

‘त्ति बेमि’ अर्थात् श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू! जिस प्रकार मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से सुना था उसी प्रकार मैं तुम्हें कहता हूँ।

॥ इति प्रथम अध्यायन का पांचवां उद्देशक समाप्त ॥



पठमं अज्झयणं छट्ठी उद्देशो

प्रथम अध्ययन का छठा उद्देशक

पांचवें उद्देशक में वनस्पतिकाय का वर्णन करते हुए उसके आरम्भ-समारम्भ के त्याग की प्रेरणा की गयी है। इसे छठे उद्देशक में त्रसकाय का वर्णन किया जाता है। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

(४६)

से बेमि, संतिमे तसा पाणा, तंजहा-अंडया, पोयया, जराउया, रसया, संसेयया*, संमुच्छिमा, उब्भिया, उववाइया, एस संसारेत्ति पवुच्चइ।

मंदस्स अविद्याणओ।

कठिन शब्दार्थ - संति - हैं, इमे - ये, तसा - त्रस, पाणा - प्राणी, अंडया - अण्डज, पोयया - पोतज, जराउया - जरायुज, रसया - रसज, संसेयया - संस्वेदज, संमुच्छिमा - सम्मुच्छिम, उब्भिया - उद्भिज्ज, उववाइया - औपपातिक, मंदस्स - मंद व्यक्ति का, अविद्याणओ - अविजानतः-अज्ञानी पुरुष।

भावार्थ - मैं कहता हूँ, ये त्रस प्राणी हैं यथा - १. अण्डज - अण्डे से उत्पन्न होने वाले कबूतर, मुर्गा आदि २. पोतज - जन्म के समय चर्म से आवृत होकर कोथली सहित उत्पन्न होने वाले अथवा बच्चा रूप से उत्पन्न होने वाले हाथी, चमगादड़ आदि ३. जरायुज - जम्बाल से वेष्टित होकर उत्पन्न होने वाले गाय, भैंस तथा मनुष्य आदि ४. रसज - विकृत रस में उत्पन्न होने वाले ५. संस्वेदज - पसीने से उत्पन्न होने वाले जूँ, खटमल आदि ६. सम्मुच्छिम - माता पिता के संयोग बिना उत्पन्न होने वाले कीड़ी मक्खी आदि ७. उद्भिज्ज - जमीन को फोड़ कर उत्पन्न होने वाले पतंग खंजरीट आदि ८. औपपातिक - उपपात-शय्या में उत्पन्न होने वाले देव, नैरयिक, ये सब संसार कहे जाते हैं।

मंद और अज्ञानी पुरुष की ही संसार में उत्पत्ति होती है।

* पाठान्तर - संसेइमा



विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में त्रसकायिक जीवों का कथन है। त्रस का अर्थ है - "त्रस्यन्तीति त्रसः-त्रसनात्-स्पन्दनात् त्रसाः जीवनात्-प्राणाधारणात् जीवाः त्रसा एव जीवाः त्रस जीवाः।"

अर्थात् - त्रस नाम कर्म के उदय से जो प्राणी त्रस पाकर उससे बचने के लिये चेष्टा करते हों, एक स्थान से दूसरे स्थान को आ जा सकते हों, उन्हें त्रस जीव कहते हैं। द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के प्राणी 'त्रस' होते हैं। उत्पत्ति स्थान की दृष्टि से अंडज आदि आठ प्रकार के त्रस कहे गये हैं। ये संसार में सदा विद्यमान रहते हैं। संसार इनसे कभी भी खाली नहीं होता क्योंकि इन प्राणियों का ही नाम संसार है।

१. मंदता - विवेक बुद्धि की अल्पता तथा २. अज्ञान - ये दो मुख्य कारण संसार परिभ्रमण के हैं। जो प्राणी हित और अहित का विचार करने में बालक के समान असमर्थ है वह 'मंद' कहलाता है और जो कुशास्त्र के श्रवण और कुसंग के कारण विपरीत बुद्धि वाला है वह 'अज्ञानी' है। ये मंद और अज्ञानी पुरुष ही बार बार संसार में उत्पन्न होते रहते हैं।

(४७)

णिज्झाइत्ता पडिलेहिता पत्तेयं परिणिव्वाणं, सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं, अस्सायं अपरिणिव्वाणं, महब्भयं दुक्खं ति बेमि।

कठिन शब्दार्थ - णिज्झाइत्ता - चिंतन करके, पडिलेहिता - देखकर, पत्तेयं - प्रत्येक, परिणिव्वाणं - परिनिर्वाण-सुख, अभय, सव्वेसिं - सर्व, पाणाणं - प्राणियों को, भूयाणं - भूतों को, जीवाणं - जीवों को, सत्ताणं - सत्त्वों को, अस्सायं - असाता, अपरिणिव्वाणं - अपरिनिर्वाण-दुःख, महब्भयं - महान् भय।

भावार्थ - चिंतन कर और सम्यक् प्रकार से देखकर मैं कहता हूँ कि प्रत्येक प्राणी परिनिर्वाण - सुख चाहता है। सब प्राणियों, सब भूतों, सब जीवों और सब सत्त्वों को असाता और अपरिनिर्वाण-दुःख, ये महाभयंकर और दुःखदायी हैं। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त प्राण, भूत, जीव और सत्त्व का अर्थ इस प्रकार है -

१. प्राण - विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चउरिन्द्रिय जीवों को प्राण कहते हैं।

२. भूत - वनस्पतिकाय को 'भूत' कहते हैं।

३. जीव - पंचेन्द्रिय प्राणियों को 'जीव' कहते हैं।



४. सत्त्व - पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय इन चार स्थावर जीवों को 'सत्त्व' कहते हैं।

जैसा कि श्लोक में कहा है -

प्राणाः द्वि त्रि चतुः प्रोक्ताः भूतास्तु तरवः स्मृताः।

जीवाः पञ्चेन्द्रियाः प्रोक्ताः शेषाः सत्त्वाः उदीरिताः॥

भगवती सूत्र शतक २ उद्देशक १ में इन शब्दों की व्याख्या इस प्रकार की है - दश प्रकार के प्राण युक्त होने से प्राण हैं, तीनों काल के रहने के कारण भूत है। आयुष्य कर्म के कारण जीता है अतः जीव है। विविध पर्यायों का परिवर्तन होते हुए भी आत्मद्रव्य की सत्ता में कोई अंतर नहीं आता, अतः सत्त्व है।

त्रसकाय हिंसा

(४८)

तसंति पाणा पदिसो दिसासु य। तत्थ-तत्थ पुढो पास, आउरा परितावेति संति पाणा पुढो सिया।

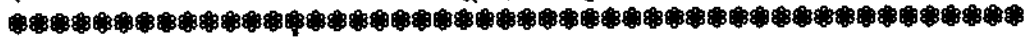
कठिन शब्दार्थ - दिसासु - दिशाओं में, पदिसु - विदिशाओं में, तसंति - त्रास पाते हैं, आउरा - आतुर; परितावेति - परिताप देते हैं।

भावार्थ - ये प्राणी दिशाओं और विदिशाओं में त्रस्त-भयभीत रहते हैं। तू देख! विषय-सुख के अभिलाषी आतुर मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रयोजनों से इन जीवों को परिताप देते रहते हैं। ये त्रसकायिक प्राणी पृथ्वी आदि के आश्रित भिन्न-भिन्न स्थानों में अर्थात् सर्वत्र हैं।

(४९)

लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकाय समारंभेणं तसकायसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ।

भावार्थ - संयमी साधक त्रसकाय की हिंसा में लज्जा का अनुभव करते हैं तू उन्हें पृथक् देख! अर्थात् त्रसकाय का आरम्भ करने वाले साधुओं से उन्हें भिन्न समझ।



कुछ साधु वेषधारी 'हम अनगार-गृहत्यागी है' ऐसा कथन करते हुए भी नाना प्रकार के शस्त्रों से त्रसकाय की हिंसा में लग कर त्रसकायिक जीवों का आरम्भ समारम्भ करते हैं तथा त्रसकायिक हिंसा के साथ तदाश्रित अन्य अनेक प्राणियों की भी हिंसा करते हैं।

विवेचन - जो त्रसकाय का स्वयं आरम्भ समारम्भ नहीं करते हैं दूसरों से नहीं करवाते हैं और आरम्भ समारम्भ करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करते हैं वे ही सच्चे अनगार हैं। ऐसे आत्म-साधकों को त्रसकाय का आरम्भ करने वाले वेषधारी साधकों से पृथक् समझने का सूत्रकार का निर्देश है। जो वेषधारी साधु अपने आप को अनगार कहते हुए भी त्रसकाय का आरम्भ समारम्भ करते हैं, वे वास्तव में अनगार नहीं हैं।

त्रसकायिक जीव हिंसा के कारण

(५०)

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया। इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-
माणण-पूयणाए, जाइमरणमोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं, सें सयमेव तसकायसत्थं
समारंभइ, अण्णेहिं वा तसकायसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा तसकायसत्थं
समारंभमाणे समणुजाणइ, तं सें अहियाए, तं से अबोहीए।

भावार्थ - इस विषय में निश्चय ही भगवान् ने परिज्ञा (विवेक) फरमाई है। इस जीवन के लिए अर्थात् इस जीवन को नीरोग और चिरंजीवी बनाने के लिए, परिवंदन प्रशंसा के लिए, मान के लिए, पूजा प्रतिष्ठा के लिए, जन्म मरण से छूटने के लिए और दुःखों का नाश करने के लिए वह स्वयं त्रसकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है। यह हिंसा उसके अहित के लिए होती है, उसकी अबोधि के लिए होती है।

(५१)

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ, अण्णाराणं वा
अंतिए इहमेगेसिं णायं भवइ-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस
खलु णारए। इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं
तसकायसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ।



भावार्थ - वह साधक हिंसा के दुष्परिणामों को समझता हुआ संयम साधना में तत्पर हो जाता है। कितनेक मनुष्यों को तीर्थकर भगवान् के समीप अथवा अनगर मुनियों के समीप धर्म सुनकर यह ज्ञात हो जाता है कि यह त्रसकाय का आरम्भ (जीवहिंसा) ग्रंथ-ग्रंथि है, यह मोह है, यह मृत्यु है और यही नरक है। फिर भी विषयासक्त जीव अपने वंदन, पूजन और सम्मान आदि के लिए नाना प्रकार के शस्त्रों से त्रसकाय के आरम्भ में संलग्न होकर त्रसकायिक जीवों की हिंसा के साथ तदाश्रित अन्य अनेक प्रकार की जीवों की भी हिंसा करता है।

त्रस जीवों की हिंसा के विविध कारण

(५२)

से बेमि-अप्पेगे अच्चाए वहंति, अप्पेगे अजिणाए वहंति अप्पेगे मंसाए वहंति, अप्पेगे सोणियाए वहंति, एवं हिययाए, पित्ताए वसाए-पिच्छाए-पुच्छाए-बालाए-सिंगाए-विसाणाए-दंताए-दाढाए-णहाए-णहारुणीए-अट्टीए-अट्टी-मिंजाए-अट्टाए-अणट्टाए-अप्पेगे हिंसिस्सु मेत्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसंति मेत्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसिस्संति मेत्ति वा वहंति।

कठिन शब्दार्थ - अच्चाए - अर्चना-देवता की बलि, विद्या मंत्र आदि की सिद्धि अथवा शरीर श्रृंगार के लिए, वहंति - मारते हैं, अजिणाए - चर्म के लिए, मंसाए - मांस के लिए, सोणियाए - शोणित-रक्त के लिए, हिययाए - हृदय के लिए, पित्ताए - पित्त के लिए, वसाए - वसा चर्बी के लिए, पिच्छाए - पंख के लिए, पुच्छाए - पूंछ के लिए, बालाए - केशों के लिए, सिंगाए - सींगों के लिए, विसाणाए - विषाण-सूअर के दांत विशेष के लिए, दंताए - दांतों के लिए, दाढाए - दाढ़ों के लिए, णहाए - नख के लिए, णहारुणीए - स्नायु के लिए, अट्टीए - हड्डी के लिए, अट्टिमिंजाए - अस्थिमज्जा के लिए, अट्टाए - अर्थ-प्रयोजन के लिए, अणट्टाए - अनर्थ-बिना प्रयोजन से, हिंसिसु - हिंसा की, हिंसंति - हिंसा करते हैं, हिंसिस्संति - हिंसा करेगा।

भावार्थ - मैं कहता हूँ कि कुछ मनुष्य अर्चा (देवता की बलि, विद्या मंत्र आदि की सिद्धि के लिए ३२ लक्षणवान् पूर्णांग पुरुष को अथवा शरीर श्रृंगार) के लिए त्रस प्राणियों की



हिंसा करते हैं। कोई चर्म के लिए शेर, चीता आदि त्रस प्राणियों को मारते हैं। कोई मांस के लिए सूअर आदि को, कोई खून के लिए त्रस जीवों की हिंसा करते हैं। इसी प्रकार कोई हृदय (कलेजा) के लिए, कोई पित्त के लिए मोर आदि को, चर्बी के लिए मगरमच्छ आदि को, पंख के लिए मोर, गृद्ध पक्षी आदि को, पूंछ के लिए रोझ (नील गाय) आदि को, केशों के लिए चमरी गाय आदि को, (सींगों के लिए मृग विशेष एवं बारह सींगे आदि को, विषाण-अन्धकार विनाशक दांत विशेष के लिए सूअर आदि को, दांत के लिए हाथी को, दाढ़ के लिए सूअर आदि को, नख के लिए व्याघ्र को, स्नायु के लिए गाय, भैंस आदि को, हड्डी के लिए शंख सीप आदि को और अस्थिमज्जा - हड्डी की चर्बी के लिए भैंसे और सूअर आदि को उपरोक्त प्रयोजनों के लिए अथवा बिना प्रयोजन भी त्रस प्राणियों का घात करते हैं।

कुछ व्यक्ति इन्होंने मेरे स्वजन आदि की हिंसा की थी। इस कारण प्रतिशोध (द्वेष) की भावना से हिंसा करते हैं। कुछ व्यक्ति यह मेरे स्वजन आदि की हिंसा कर रहा है अतः प्रतीकार की भावना से हिंसा करते हैं अथवा कुछ व्यक्ति यह मेरी अथवा मेरे स्वजन आदि की हिंसा करेगा इस कारण भावी आतंक या भय की संभावना से हिंसा करते हैं।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में स्वार्थी लोगों द्वारा त्रस जीवों की हिंसा करने के अनेक कारणों का वर्णन किया गया है। इस संसार में बहुत से विषयासक्त जीव अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रयोजनों से त्रस प्राणियों को मारते हैं किन्तु बहुत से अज्ञानी जीव ऐसे भी होते हैं जो निष्प्रयोजन केवल अपने चित्त विनोद के लिए तथा प्रमाद के कारण त्रस प्राणियों की हिंसा करते हैं। यह सब कर्म बन्ध का कारण है। विवेकी पुरुष को ऐसी हिंसा का त्याग करना चाहिये।

(५३)

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिण्णाया भवंति। एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा परिण्णाया भवंति।

भावार्थ - इस प्रकार त्रसकायिक जीवों पर शस्त्र का समारम्भ करने वाला पुरुष वास्तव में इन आरम्भों-हिंसा संबंधी प्रवृत्तियों के कटुपरिणामों एवं जीव की वेदना से अपरिज्ञात-अनजान है। जो इन त्रसकायिक जीवों पर शस्त्र प्रयोग नहीं करता, वह इन आरंभों का ज्ञाता होता है।

विवेचन - त्रसकाय का आरम्भ पाप का कारण है-यह जब तक जीव नहीं जानता है तब



तक उसका त्याग नहीं कर सकता है। जो पुरुष त्रसकाय के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानता है वही त्रसकाय के आरम्भ का त्यागी हो सकता है।

त्रसकाय हिंसा निषेध

(५४)

तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं तसकायसत्थं समारंभेज्जा , णेवण्णेहिं तसकायसत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे तसकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेए तसकायसत्थसमारंभा परिण्णायया भवंति। से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

॥ इइ छट्ठोद्देशो ॥

भावार्थ - बुद्धिमान् पुरुष त्रसकाय के आरम्भ-समारम्भ को कर्म बन्ध का कारण जान कर स्वयं त्रसकाय का समारम्भ न करे, न दूसरों से त्रस काय का समारम्भ करवाएं और त्रसकाय का समारम्भ करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करे।

जिसने त्रसकाय के समारम्भ को जान कर त्याग दिया है वही मुनि परिज्ञात कर्मा होता है- ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र का सार यही है कि मुमुक्षु त्रसकायिक जीवों पर किये जाने वाले शस्त्र प्रयोग से होने वाले कर्म बन्ध को समझे और तीन करण तीन योग से त्रसकाय के आरम्भ का त्याग करे।

त्ति बेमि अर्थात् श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य श्री जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू! जिस प्रकार मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से सुना था उसी प्रकार मैं तुम्हें कहता हूँ।

॥ इति प्रथम अध्ययन का छठा उद्देशक समाप्त ॥



पठमं अज्झयणं सत्तमो उद्देशो

प्रथम अध्ययन का सातवां उद्देशक

छठे उद्देशक में त्रसकाय का स्वरूप एवं उसके आरम्भ-समारंभ के त्याग की प्रेरणा की गयी है। अब इस सातवें और अंतिम उद्देशक में छह काय में शेष वायुकाय का वर्णन किया जाता है। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

वायुकायिक जीव हिंसा निषेध

(५५)

पहू एजस्स दुगुंछणाए, आयंकदंसी अहियंति णच्चा।

जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ। एयं तुलमण्णेसिं।

इह संतिगया दविया णावकंखंति जीविउं।

कठिन शब्दार्थ - पहू - समर्थ, एजस्स - वायुकाय के, दुगुंछणाए - जुगुप्सायाम्-आरम्भ से निवृत्त होने में, आयंकदंसी - आतंकदर्शी-दुःखों का ज्ञाता-द्रष्टा, अहियंति - अहितमिति - अहितकर, अज्झत्थं - अध्यात्म - अपने सुख-दुःखों को, तुलमण्णेसिं - अन्य जीवों को भी अपने तुल्य, संतिगया - शांतिगताः-शांति को प्राप्त, दविया - द्रविक - दया हृदय वाले अर्थात् संयमी मुनि, णावकंखंति- इच्छा नहीं करते हैं, जीविउं - जीवन की।

भावार्थ - जो पुरुष वायुकायिक जीवों की हिंसा को दुःखोत्पादक एवं अहितकर जानता है वही वायुकायिक जीवों की हिंसा से निवृत्त होने में समर्थ होता है।

जो अध्यात्म को जानता है वह बाह्य को भी जानता है और जो बाह्य को जानता है वह अध्यात्म को जानता है अथवा जो अपने सुख दुःख को जानता है वह बाहर के अर्थात् दूसरे प्राणियों के सुख दुःखों को भी जानता है और जो बाहर के यानी दूसरे प्राणियों के सुख दुःखों को जानता है वह अपने सुख दुःखों को भी जानता है। इस तरह दूसरे प्राणियों में भी अपने समान ही सुख दुःख समझना चाहिये।



इस जिनशासन में जो शांति प्राप्त और द्रविक अर्थात् दयार्द्र हृदय वाले संयमी मुनि हैं वे वायुकाय का आरम्भ करके जीना नहीं चाहते।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में वायुकायिक जीवों की हिंसा का निषेध किया गया है। यहाँ 'एज' शब्द वायुकाय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'एज' शब्द 'एजृकंपने' धातु से बना है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है - 'एजतीत्येजी वायुःकम्पनशीलत्वात्' अर्थात् कम्पनशील होने के कारण वायु को 'एज' कहते हैं। वायुकाय के आरम्भ से निवृत्त होने में वही व्यक्ति समर्थ है जो आतंकदर्शी (चार गतियों के दुःखों का जानने वाला एवं पाप कार्य से डरने वाला) है, वायुकाय जीवों की हिंसा से तीव्र घृणा होने पर ही वह हिंसा छुटती है। जैसे वमन की हुई वस्तु के प्रति घृणा होने से उसका पुनः सेवन नहीं किया जाता है। आरंभ को अहितकारी मानता है तथा सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझता है। अर्थात् जो पुरुष यह जानता है कि "जिस प्रकार मुझे सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है उसी प्रकार दूसरे समस्त प्राणियों को भी सुख प्रिय और दुःख अप्रिय हैं" वही पुरुष वायुकाय के आरम्भ का त्याग करने में समर्थ होता है।

सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की साधना से परम शांति को प्राप्त संयमी साधक वायुकायिक जीवों की हिंसा करके अपने जीवन को टिकाए रखने की आकांक्षा नहीं रखते। यानी उन्हें अपने जीवन की अपेक्षा दूसरों के जीवन की ज्यादा चिंता रहती है। वे अपने स्वार्थ के लिए दूसरों की हिंसा की आकांक्षा नहीं रखते हुए प्राणी जगत् की दया, रक्षा एवं अनुकम्पा करते हैं इसीलिये अहिंसा का इतना सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ स्वरूप जैन धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्म में नहीं मिलता है।

(५६)

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मोत्ति एणे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं, वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणोगरूवे पाणे विहिंसइ।

भावार्थ - संयमी साधक वायुकाय का आरम्भ करने में लज्जा का अनुभव करते हैं तू उन्हें पृथक् देख! अर्थात् वायुकाय का आरम्भ करने वाले साधुओं से उन्हें भिन्न समझ। कुछ वेषधारी 'हम अनगार-गृहत्यागी हैं' ऐसा कथन करते हुए भी नाना प्रकार के शस्त्रों से वायुकाय



संबंधी हिंसा में लग कर वायुकायिक जीवों का आरम्भ समारम्भ करते हैं वे वायुकायिक हिंसा के साथ तदाश्रित अन्य अनेक प्रकार के छोटे-बड़े (त्रस-स्थावर) जीवों की भी हिंसा करते हैं।

विवेचन - जो वायुकाय का स्वयं आरम्भ-समारम्भ नहीं करते हैं, दूसरों से नहीं करवाते हैं और करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करते हैं वे ही सच्चे अनगार हैं। ऐसे आत्म साधकों को वायुकाय का आरम्भ करने वाले वेषधारियों से पृथक् समझने का सूत्रकार का निर्देश है। जो वेषधारी साधु अपने-आप को अनगार कहते हुए भी गृहस्थ के समान वायुकाय का आरम्भ - समारम्भ करते हैं, वे वास्तव में अनगार नहीं हैं।

वायुकायिक हिंसा के कारण

(५७)

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं, से सयमेव वाउसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा वाउसत्थं समारंभावेइ अण्णे वा वाउसत्थं समारंभंते समणुजाणइ, तं से अहियाए तं से अबोहीए।

भावार्थ - इस वायुकाय के आरम्भ के विषय में निश्चय ही भगवान् महावीर स्वामी ने परिज्ञा (विवेक) फरमाई है। इस जीवन के लिए अर्थात् इस जीवन को नीरोग और चिरंजीवी बनाने के लिए परिवन्दन प्रशंसा के लिए, मान के लिए, पूजा प्रतिष्ठा के लिए, जन्म मरण से छूटने के लिए और दुःखों का नाश करने के लिए वह स्वयं वायुकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है। यह हिंसा उसके अहित के लिए होती है, उसकी अबोधि के लिए होती है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि अज्ञानी जीव किन किन कारणों से वायुकाय का आरम्भ समारम्भ करते हैं। यह आरम्भ उस जीव के लिए अहितकारी, दुःखदायक और अबोधि के लिए होता है। अतः विवेकी पुरुष को वायुकाय की हिंसा से बचना चाहिए।

(५८)

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए सोच्चा भगवओ अणगाराणं वा अंतिए

इहमेगेसिं णायं भवइ - एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए। इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिसइ।

भावार्थ - वह साधक हिंसा के उक्त दुष्परिणामों को समझता हुआ संयम साधना में तत्पर हो जाता है। कितनेक मनुष्यों को तीर्थकर भगवान् के समीप अथवा अनगार मुनियों के पास धर्म सुन कर यह ज्ञात हो जाता है कि “यह वायुकाय का आरम्भ (जीवहिंसा) ग्रंथ-ग्रंथि है, यह मोह है, यह मृत्यु है और यही नरक है।” फिर भी विषय भोगों में आसक्त जीव अपने वंदन पूजन और सम्मान के लिए नाना प्रकार के शस्त्रों से वायुकाय के आरम्भ में संलग्न होकर वायुकायिक जीवों की हिंसा करता है तथा वायुकायिक जीवों की हिंसा के साथ तदोश्रित अन्य अनेक प्रकार के जीवों की भी हिंसा करता है।

विवेचन - वायुकाय का आरम्भ ग्रंथ, मोह, मृत्यु और नरक का कारण है।

(५६)

से बेमि, संति संपाइमा पाणा, आहच्च संपयंति य फरिसं च खलु पुट्टा एगे संघायमावज्जंति। जे तत्थ संघायमावज्जंति, ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति, ते तत्थ उद्दयंति।

कठिन शब्दार्थ - संपाइमा - संपातिम-उड़ने वाले, संपयंति - गिर पड़ते हैं, संघायमावज्जंति - संघात को प्राप्त होते हैं-घायल हो जाते हैं, उद्दयंति - मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ - मैं कहता हूँ कि जो संपातिम-उड़ने वाले प्राणी होते हैं वे कदाचित् वायु का स्पर्श पाकर शरीर संघात को प्राप्त होते हैं, मूर्च्छित हो जाते हैं तथा मूर्च्छित हो जाने के बाद वे प्राणी मृत्यु को भी प्राप्त हो जाते हैं।

(६०)

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिण्णायया भवंति। एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा परिण्णायया भवंति।

भावार्थ - इस प्रकार वायुकायिक जीवों पर शस्त्र का समारम्भ करने वाला पुरुष वास्तव

में इन आरम्भों के कटु परिणामों से अनजान है। जो इन वायुकायिक जीवों पर शस्त्र प्रयोग नहीं करता है वास्तव में वही इन आरम्भों का ज्ञाता होता है।

विवेचन - वायुकाय, जीव है और वायुकाय का आरम्भ पाप का कारण है जब तक जीव यह नहीं जानता है तब तक उसका त्याग नहीं कर पाता है। जो वायुकाय के स्वरूप को अच्छी तरह जानता है वही वायुकाय के आरम्भ का त्यागी हो सकता है। आरम्भ में लगा पुरुष हिंसा संबंधि प्रवृत्तियों के कटु परिणामों से अनजान होता है।

(६१)

तं परिणाय मेहावी जेव सयं वाउसत्थं समारंभेजा जेवणोहिं वाउसत्थं
समारंभावेजा, जेवणजे वाउसत्थं समारंभंते समणुजाणेजा।

जस्सेए वाउसत्थ-समारंभा परिणायया भवंति से हु मुणी परिणायकम्मे
त्ति बेमि।

भावार्थ - बुद्धिमान् पुरुष वायुकाय के आरम्भ समारम्भ को कर्म बन्ध का कारण जान कर स्वयं वायुकाय का समारम्भ न करे, न दूसरों से वायुकाय का समारम्भ करवाएँ और वायुकाय का समारम्भ करने वालों का अनुमोदन भी न करे।

जिसने वायुकाय के समारम्भ को जान कर त्याग दिया है वही मुनि परिज्ञात कर्मा होता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र का सार यही है कि मुमुक्षु वायुकायिक जीवों पर किये जाने वाले शस्त्र प्रयोग से उन्हें जो वेदना होती है और इससे जो कर्म बन्ध होता है उसे समझे और तीन करण तीन योग से वायुकाय के आरम्भ का त्याग करे।

एक काय की हिंसा करने वाला छह काय

हिंसा का भागी

(६२)

एत्थं पि जाण उवाइयमाणा जे आयारे ण रमंति, आरंभमाणा विणयं वयंति,
छंदोवणीया, अज्झोववण्णा, आरंभसत्ता पकरंति संगं।



कठिन शब्दार्थ - जाण - जानो, उवाईयमाणा - उपादीयमानान्-कर्मों से आबद्ध होकर-पाप के भागी बन कर, आचारे - आचार में, ण रमंति - रमण नहीं करते हैं, आरंभमाणा - आरम्भ करते हुए, विणयं - विनय-संयमी, छंदोवणीया - छन्दसा उपनीता:-स्वेच्छानुसार आचरण करने वाले, अज्जोववणा- अध्युपपन्ना:-विषयों में आसक्त, आरम्भसत्ता- आरम्भ में आसक्त होकर, संगं पकरंति - आत्मा के साथ आठ कर्मों का संग करते हैं।

भावार्थ - वायुकाय आदि किसी एक काय का आरम्भ करने वाला प्राणी शेष कायों के आरम्भ से होने वाले पाप का भागी होता है अर्थात् एक काय की हिंसा करने वाला छह काया के जीवों की हिंसा करता है, ऐसा जानो। जो आचार में रमण नहीं करते हैं वे स्वेच्छाचारी अपने को संयमी कहते हुए भी विषय वासना एवं आरम्भ में आसक्त होकर सावध कर्म का अनुष्ठान करते हैं और अपनी आत्मा के साथ आठ कर्मों का संग करते हैं।

विवेचन - इस अध्ययन के पिछले उद्देशकों में यह स्पष्ट किया गया है कि पृथ्वीकाय आदि जीवों की हिंसा कर्म बंध का कारण है। प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट बताया गया है कि एक काय की हिंसा करने वाला छह काय की हिंसा का भागी होता है। जैसे कोई व्यक्ति पृथ्वीकाय की हिंसा करता है तो पृथ्वीकाय के आश्रित रहे हुए अन्य अपृकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रस जीवों की हिंसा होती है। एक काय की हिंसा करने वाला अन्य सभी कायों की हिंसा के प्रति भी निरपेक्ष (बेपरवाही वाला) होने से उसे छह काय की हिंसा करने वाला कहा जाता है। इस प्रकार छह काय के आरम्भ समारंभ से कर्मों का बन्ध होता है और परिणाम स्वरूप जीव संसार में परिभ्रमण करता है। अतः मुमुक्षु को षट्कायिक जीवों के आरम्भ से निवृत्त होना चाहिये।

कितनेक अन्यतीर्थी अपने आपको साधु कहते हैं किन्तु वे पंचाचार (ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार) में रमण नहीं करते फलस्वरूप स्वच्छंदाचारी बन कर, विषयवासना में आसक्त होकर अनेक जीवों की हिंसा करते हैं और कर्म बंध कर संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

(६३)

से वसुमं सव्वसमण्णागय-पण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावकम्मं णो अण्णेसिं ।

कठिन शब्दार्थ - वसुमं - वसुमान्-रत्नत्रयी रूप धन से सम्पन्न, सव्वसमण्णागय

पण्णाणेणं - अपनी बुद्धि को पूर्ण रूप से केन्द्रित कर के सूर्य की किरणों को केन्द्रित करने की तरह अथवा सभी प्रकार के विषयों के यथार्थ स्वरूप को अपनी प्रज्ञा से जान कर, अकरणिज्जं - अकरणीय।

भावार्थ - वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप धन से सम्पन्न सब प्रकार के विषयों का प्रज्ञापूर्वक चिंतन कर अपनी आत्मा से पाप कर्म को अकरणीय - नहीं करने योग्य जाने।

छहकाय जीव हिंसा निषेध

(६४)

तं परिणाय मेहावी णेव सयं छजीवणिकायसत्थं समारंभेजा, णेवण्णेहिं छजीवणिकायसत्थं समारंभावेजा, णेवण्णेहिं छजीवणिकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेजा।

जस्सेए छजीवणिकायसत्थसमारंभा परिणायया भवंति, से हु मुणी परिणाय-कम्मे ति बेमि।

॥ सत्तमोद्देशो समत्तो ॥

॥ पढमं अज्झयणं समत्तं ॥

भावार्थ - बुद्धिमान् पुरुष छह काय के आरम्भ-समारम्भ को कर्म बन्ध का कारण जान कर स्वयं छह काय के जीवों का समारम्भ न करे, न दूसरों से छह काय का समारम्भ करवाए और छह काय का समारम्भ करने वालों का अनुमोदन भी न करे।

जिसने छहकाय के समारम्भ को जान कर त्याग दिया है वही मुनि परिज्ञातकर्मा होता है, ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत अध्ययन का सार यही है कि मुमुक्षु प्राणी छह काय जीवों पर किये जाने वाले शस्त्र प्रयोग से उन्हें जो वेदना होती है और परिणाम स्वरूप जो कर्म बंध होता है उसे समझे तथा समझ कर तीन करण तीन योग से छह काय जीवों के आरम्भ-समारम्भ का त्याग करे।

॥ इति प्रथम अध्ययन का सातवां उद्देशक समाप्त ॥

॥ शस्त्र परिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन समाप्त ॥

लोगविजओ णामं बीयं अज्झयणं

लोक विजय नामक दूसरा अध्ययन

उत्थानिका - शस्त्र परिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन में पृथ्वीकाय आदि छहकाय जीवों का तथा उनके शस्त्रों का वर्णन किया गया है। षड्जीवनिकाय के स्वरूप को सम्यक् रूप से जानने वाला मुनि ही राग आदि कषायों पर और शब्दादि विषयों पर विजय प्राप्त कर सकता है। इसलिये 'लोकविजय' नामक इस दूसरे अध्ययन में उनको जीतने के उपायों का वर्णन किया जाता है। यहाँ 'लोक' शब्द से रागादि कषाय और शब्दादि विषय लिये गये हैं। इस अध्ययन में उनको जीतने के उपायों का वर्णन होने से इसका नाम भी 'लोकविजय' अध्ययन है। इस अध्ययन में छह उद्देशक हैं।

'सूत्र और अर्थ को जानने वाले मुमुक्षु पुरुष को माता पिता आदि स्वजन वर्ग में मोह नहीं करना चाहिये' इस बात का वर्णन प्रथम उद्देशक में किया गया है। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है-

बीयं अज्झयणं पढमोद्देशो

दूसरे अध्ययन का प्रथम उद्देशक

संसार का मूल - विषयासक्ति

(६५)

जे गुणे से मूलट्टाणे, जे मूलट्टाणे से गुणे।

इइ से गुणट्टी महया परियावेणं पुणो पुणो वसे पमत्ते, तंजहा-माया मे, पिया मे, भाया मे, भइणी मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूया मे, सुण्हा मे, सहि-सयण-संगंथ-संथुया मे, विवित्तोवगरण-परिवट्टण-भोयणच्छायणं मे, इच्चत्थं गढिए लोए वसे पमत्ते।



कठिन शब्दार्थ - जे - जो, गुणे - शब्दादि गुण हैं, से - वह, मूलद्वारेण - मूल स्थान, गुणद्वी - गुणार्थी-विषयों का अभिलाषी, महया - महान्, परियावेणं - परिताप से, वसे प्रमत्ते - प्रमाद में वसता है, मे - मेरी, माया - माता, पिता - पिता, भाया - भाई, भइणी - बहिन, भज्जा - स्त्री, पुत्ता - पुत्र, धूया - पुत्री, सुण्हा-ण्हुसा - पुत्र-वधू, सहि-सयण-संगंथ-संथुया - मित्र, स्वजन, संबंधी, परिचित हैं, विविक्तोवगरण परिवट्टण भोयणच्छायणं - विविक्तोपकरण परिवर्तन भोजनाच्छादनं - विविध प्रकार के उपकरण हाथी घोड़े आदि वाहन परिवर्तन, भोजन और वस्त्र आदि, इच्चत्थं - इत्येवमर्थं - इस प्रकार के अर्थों में, गङ्गिण लोए - आसक्त अज्ञानी जीव, वसे प्रमत्ते - प्रमत्त होकर निवास करता है।

भावार्थ - जो गुण (शब्दादि विषय) हैं वे ही कषाय रूप संसार के मूल स्थान हैं। जो मूल स्थान है वह गुण है। इस प्रकार विषयार्थी पुरुष महान् परिताप से पुनः-पुनः प्रमत्त होकर संसार में निवास करता है।

वह सोचता है कि - “मेरी माता है, मेरा पिता है, मेरा भाई है, मेरी बहिन है, मेरी स्त्री है, मेरे पुत्र हैं, मेरी पुत्री है, मेरी पुत्रवधू है, मेरे मित्र हैं, स्वजन हैं, संबंधी हैं, परिचित हैं मेरे विविध प्रकार के उपकरण (हाथी घोड़े रथ आदि) परिवर्तन (देने लेने की सामग्री), भोजन और वस्त्र हैं।”

इस प्रकार इन वस्तुओं को अपनी समझ कर, मेरे पन (ममत्व) में आसक्त हुआ अज्ञानी पुरुष प्रमत्त होकर निवास करता है।

विवेचन - प्रथम अध्ययन के पांचवें उद्देशक के सूत्र क्रमांक ३६ ‘जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे’ में गुण (पांच इन्द्रियों के विषय) को आवर्त कहा है और प्रस्तुत सूत्र में ‘गुण’ को ‘मूलस्थान’ कहा है। रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द, ये पांच गुण हैं। इनमें मनोज्ञ में राग और अमनोज्ञ में द्वेष उत्पन्न होता है। रागद्वेष की जागृति से कषाय की वृद्धि होती है अतः ये राग द्वेष ही संसार के मूल कारण हैं। इसी बात को दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ८ की गाथा ४० में इस प्रकार कहा है -

कौहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पब्बहुमाणा।
यत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंघंति मूलाइं पुण्ढभवस्स॥ ४०॥



अर्थात् क्रोध और मान शांत न किये हों तथा माया और लोभ बढ़ रहे हों तो आत्मा को मलिन बनाने वाले ये चारों कषाय पुनर्जन्म रूपी विष वृक्ष की जड़ों को संचिते हैं अर्थात् ये चारों कषाय जन्म मरण रूपी संसार को बढ़ाते हैं।

इस प्रकार शब्द आदि विषयों में आसक्त होना ही संसार वृद्धि का कारण है किंतु विषयासक्त पुरुष माता पिता स्वजन-संबंधी आदि में ममत्व स्थापित करके उनके सुख के लिए हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप कार्य करता है और दुःखी होता हुआ अपना संसार परिभ्रमण बढ़ाता है। इसी बात को सूत्रकार अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं -

(६६)

अहो य राओ य परितप्यमाणे, कालाकालसमुद्गाई संजोगट्टी, अट्टालोभी, आलुंपे, सहसाकारे, विणिविद्वचित्तं एत्थ सत्थे पुणो पुणो।

कठिन शब्दार्थ - अहो य राओ - रात दिन, परितप्यमाणे - परितप्यमानः-चिंता से संतप्त रहता हुआ, कालाकालसमुद्गाई - कालाकालसमुत्थायी-काल (समय) अकाल (बेसमय) प्रयत्नशील, संजोगट्टी - संयोगार्थी - संयोग का अभिलाषी, अट्टालोभी - धन का लोभी, आलुंपे - लूटपाट करने वाला (चोर या डाकू), सहसाकारे - सहसाकार-बिना सोचे विचारे पाप कार्य करने वाला, विणिविद्वचित्ते - विनिष्टचित्तः - विभिन्न विषयों में दत्तचित्त।

भावार्थ - वह प्रमत्त तथा आसक्त पुरुष रात दिन परितप्त - चिंता एवं तृष्णा से आकुल व्याकुल रहता है। काल या अकाल में (समय असमय) प्रयत्नशील रहता है। वह संयोग का अर्थी होकर, धन का लोभी बन कर चोर या डाकू बन जाता है। सहसाकारी - बिना विचारे कार्य करने वाला हो जाता है और विविध प्रकार की आशाओं-इच्छाओं में उसका चित्त फंसा रहता है। इन माता पिता आदि परिजनों या शब्दादि विषयों में आसक्त बना व्यक्ति अपनी इच्छा पूर्ति के लिये बार बार पृथ्वीकाय आदि छहकाय जीवों की हिंसा करता है।

विवेचन - ममत्व और प्रमाद के वशीभूत बना व्यक्ति अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये, धन जुटाने के लिये रात दिन प्रयत्न करता है, हर प्रकार के अनुचित उपाय अपनाता है और छह काय जीवों की हिंसा करता हुआ भारी कर्मा बन जाता है।

(६७)

अप्यं च खलु आउयं इहमेगेषिं माणवाणं, तंजहा-सोयपरिण्णणोहिं परिहाय-

माणेहिं, चक्खुपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं घाणपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, रसणापरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं फासपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, अभिक्कंतं च खलु वयं संपेहाए तओ से एगया मूढभावं जणयइ।

कठिन शब्दार्थ - अप्पं - अल्प (बहुत थोड़ी), आउयं - आयु, इह - इस संसार में, एगेसिं - कितनेक, माणवाणं - मनुष्यों की, सोयपरिण्णाणेहिं - श्रोत्र परिज्ञान (कान की शब्द सुनने की शक्ति) के, परिहायमाणेहिं - हीन (क्षीण) होने पर, चक्खुपरिण्णाणेहिं - चक्षु परिज्ञान (नेत्र की देखने की शक्ति) के, घाण परिण्णाणेहिं - घ्राण परिज्ञान के, रसणापरिण्णाणेहिं - रसना परिज्ञान-जिह्वा की रस ग्रहण करने की शक्ति के, फासपरिण्णाणेहिं-स्पर्श परिज्ञान के, अभिक्कंतं - बीती हुई, वयं - आयु, अवस्था को, संपेहाए - देख कर, मूढभावं - मूढभाव-मूढता को, जणयइ - प्राप्त होता है।

भावार्थ - इस संसार में कितनेक मनुष्यों का अल्प आयुष्य होता है। जैसे - श्रोत्र परिज्ञान (कान की शब्द सुनने की शक्ति) के हीन हो जाने, चक्षु परिज्ञान के हीन हो जाने, घ्राण परिज्ञान के हीन हो जाने, रसपरिज्ञान के हीन हो जाने और स्पर्श परिज्ञान के हीन हो जाने पर तथा बीती हुई आयु (यौवन अवस्था आदि) को देख कर, बुढ़ापा आने पर वह मनुष्य मूढभाव को प्राप्त हो जाता है।

विवेचन - श्रोत्र, नेत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा ही आत्मा प्रत्येक वस्तु का ज्ञान करता है और उन्हीं के द्वारा रूप रसादि विषयों को ग्रहण करता है परन्तु जब वृद्धावस्था आती है तब इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है तब वह मनुष्य विवेकशून्य हो जाता है क्योंकि हित की प्राप्ति और अहित का परित्याग इन्द्रियों की शक्ति रहते हुए ही हो सकता है किंतु वृद्धावस्था में सब इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है तब वृद्ध मनुष्य चिंता और अविवेक से मूढ बन जाता है। अतः विवेकी मनुष्य को चाहिए कि इन्द्रियों की शक्ति रहते हुए धर्माचरण में एक क्षण मात्र भी प्रमाद न करे ताकि वृद्धावस्था आने पर उसे चिंतित एवं मूढ न होना पड़े।

जीवन की अशरणता

(६८)

जेहिं वा सद्धिं संवसइ, तेविणं एगया णियगा पुब्बिं परिवयंति। सो वा ते

णियगे पच्छा परिवएज्जा, णालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा। तुमं पि तेसिं णालं ताणाए वा, सरणाए वा। से ण हासाए, ण किड्ढाए, ण रइए, ण विभूसाए।

कठिन शब्दार्थ - जेहिं - जिनके, सद्धि - साथ, संवसइ - रहता है, णियगा - निजक-स्वजन-स्नेही, परिवयंति - तिरस्कार करते हैं, निंदा करते हैं, परिवएज्जा - निंदा करता है, ताणाए - त्राणाय - त्राण के लिए, सरणाए - शरण देने में, णालं - समर्थ नहीं है, हासाए - हंसी के लिए, किड्ढाए - क्रीड़ा के लिए, रइए - रति के लिए, विभूसाए - विभूषा के लिए।

भावार्थ - वह जिनके साथ रहता है, वे स्वजन (पत्नी, पुत्र आदि) कभी उसका तिरस्कार करने लगते हैं उसे कटु एवं अपमानजनक वचन बोलते हैं। बाद में वह भी उन स्वजनों की निंदा करने लगता है। वे स्वजन तेरी रक्षा करने में या तुझे शरण देने में समर्थ नहीं हैं। तू भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हैं। वह वृद्ध पुरुष न हंसी-विनोद के योग्य रहता है, न खेलने के, न रति सेवन के और न ही श्रृंगार-विभूषा के योग्य रहता है।

विवेचन - वृद्धावस्था बड़ी दुःखरूप है। वृद्धावस्था के आने पर दूसरे लोग तो क्या किंतु अपने द्वारा पालन पोषण किये गये निज के पुत्र, पुत्री तथा पत्नी आदि आत्मीयजन भी उसकी निंदा करते हैं और कहते हैं कि यह बुद्धा कब मरेगा और कब इससे पिण्ड छूटेगा? इस प्रकार अनादर को प्राप्त हुआ बुद्धा दुःखी होकर उन्हें गालियां देता है। इस प्रकार वह वृद्ध पुरुष स्वयं भी दुःखी होता है और परिवार को भी दुःखी बनाता है। वृद्धावस्था में धर्म के अलावा कोई भी शरणदाता नहीं हो सकता है अतः वृद्धावस्था से पूर्व धर्म तथा संयम की शरण ले लेनी चाहिये।

‘त्राण’ का अर्थ रक्षा करने वाला है तथा ‘शरण’ का अर्थ आश्रयदाता है। ‘रक्षा’ रोग आदि से प्रतीकारात्मक है, ‘शरण’ आश्रय एवं संपोषण का सूचक है। आगमों में ‘ताणं-सरणं’ शब्द प्रायः साथ-साथ ही आते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में जीव की अशरणता एवं क्षण भंगुरता का वर्णन किया गया है।

प्रमाद-परिहार

(६६)

इच्चेवं समुट्ठिए अहोविहाराए अंतरं च खलु इमं संपेहाए धीरो मुहुत्तमवि णो पमायए। वओ अच्चेइ जोव्वणं च।



कठिन शब्दार्थ - इच्छेवं - इस प्रकार, समुद्धिए - सम्यक् प्रकार से उद्यत होकर, अहोविहाराए - अहो विहार-संयम के लिए, मुहुत्तमवि - मुहूर्त्त-क्षण भर भी, णो पमायए - प्रमाद न करे, जोष्वणं - यौवन।

भावार्थ - इस प्रकार चिंतन कर मनुष्य संयम साधना के लिए उद्यत हो जाये। धीर पुरुष आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल में उत्पत्ति आदि प्राप्त सुअवसर को देख कर धर्म कार्य में मुहूर्त्त भर भी प्रमाद न करे अर्थात् क्षण भर भी व्यर्थ नहीं जाने दे क्योंकि आयु शीघ्रता से बीत रही है और यौवन चला जा रहा है।

विवेचन - आयुष्य ओस बिंदु के समान चंचल है और यौवन तो पर्वत से उतरने वाली नदी के वेग के समान अति शीघ्रता पूर्वक व्यतीत होने वाला है अतः आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल आदि को प्राप्त करके बुद्धिमान् पुरुष को एक क्षण भर भी धर्मकार्य में प्रमाद नहीं करना चाहिये।

सामान्य मनुष्य की दृष्टि में संयम-आश्चर्यपूर्ण कठिन जीवन यात्रा होने से प्रस्तुत सूत्र में संयम के लिये 'अहोविहार' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(७०)

जीविए इह जे पमत्ता। से हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुंपित्ता, विलुंपित्ता, उद्दवित्ता, उत्तासइत्ता, अकडं करिस्साभित्ति मण्णमाणे।

कठिन शब्दार्थ - जीविए - जीवन में, हंता - प्राणियों का हनन करता है, छेत्ता - अंगों का छेदन करता है, भेत्ता - भेदन करता है, लुंपित्ता - ग्रंथि (गांठ) काटता है, विलुंपित्ता - पूरे परिवार या ग्राम आदि की हत्या करता है, उद्दवित्ता - विष और शस्त्र आदि से प्राण घात करता है, उत्तासइत्ता - भय और त्रास देता है, अकडं - अकृत - जो आज दिन तक किसी ने नहीं किया वह कार्य, करिस्साभित्ति - मैं करूँगा, मण्णमाणे - मानता हुआ।

भावार्थ - जो इस जीवन में प्रमत्त-प्रमाद युक्त है वह अन्य जीवों को मारता है, अंगों का छेदन भेदन करता है, लूटता है, ग्रामादि का घात करता है, प्राणियों का नाश करता है उन्हें त्रास देता है और इस प्रकार मानता है कि जो कार्य आज तक किसी ने नहीं किया, वह मैं करूँगा।

विवेचन - विषयभोगों में आसक्त प्रमत्त जीव त्रास और स्थावर सभी प्राणियों का नाना प्रकार से घात करता है।



(७१)

जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया णियगा तं पुब्धिं पोसेंति सो वा ते णियगे पच्छा पोसिज्जा। णालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा तुमंपि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा।

कठिन शब्दार्थ - पुब्धिं - पहले, पच्छा - बाद में, पोसेंति - पोषण करते हैं, पोसिज्जा - पोषण करता है।

भावार्थ - जिन पुत्र आदि आत्मीयजनों के साथ वह निवास करता है वे पहले कभी उसका पोषण करते हैं तत्पश्चात् वह धन आदि के द्वारा उन स्वजनों का पोषण करता है। इतना होने पर भी वे स्वजन तुम्हारे त्राण-रक्षा करने में और शरण देने में समर्थ नहीं है तथा तुम भी उनको त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो।

विवेचन - अज्ञानी जीव पुत्र कलत्रादि एवं कुटुम्ब परिवार के पालन पोषणार्थ धनोपार्जन करने के लिए नानाविध पापाचरण करता है किंतु वे उसके लिये त्राण-शरण रूप नहीं हो सकते।

(७२)

उवाइयसेसेण वा संणिहिसंणिचओ किज्जइ, इहमेगेंसि असंजयाणं भोयणाए। तओ से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति।

कठिन शब्दार्थ - उवाइयसेसेण - उपभोग में आने के बाद बचे हुए, संणिहिसंणिचओ-संनिधि और संचय, रोगसमुप्पाया - रोग समुत्पादाः-साध्य और असाध्य रोग, समुप्पज्जंति - उत्पन्न हो जाते हैं।

भावार्थ - उपभोग में आने के बाद बचे हुए धन तथा भोगोपभोग की जो सामग्री संचित करके रखी गयी है उसको असंयमी प्राणी अपने भोग के लिए सुरक्षित रखता है किंतु कभी ऐसा होता है कि भोग के समय उसके शरीर में रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

विवेचन - 'संनिधि-संचय' शब्दों का अर्थ - विनाशी द्रव्यों (दूध, दही आदि) की संनिधि होती है। अविनाशी द्रव्यों - लम्बे काल तक टिकने वाले घृत, शक्कर, गुड़ आदि द्रव्यों का संचय होता है।



(७३)

जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया णियगा तं पुब्बिं परिहरंति, सो वा ते णियए पच्छा परिहरिज्जा। णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा।

कठिन शब्दार्थ - परिहरंति - छोड़ देते हैं, परिहरिज्जा - छोड़ देता है।

भावार्थ - जिन पुत्र आदि आत्मीयजनों के साथ वह निवास करता है वे आत्मीयजन किसी समय पहले ही उसे छोड़ देते हैं अथवा वह पुरुष बाद में उन आत्मीयजनों को छोड़ देता है अतः शास्त्रकार कहते हैं कि हे पुरुष! न तो वे तेरी त्राण और शरण में समर्थ है और न ही तू उनकी रक्षा करने और शरण देने के लिये समर्थ हो।

विवेचन - संसारी जीव नाना कष्ट उठा कर धन संचय करते हैं वे समझते हैं कि यह संग्रह किया हुआ द्रव्य भविष्य में हमारे तथा हमारे संबंधियों के काम में आवेगा तथा इस धन को यथेच्छ उपभोग करेंगे और इस धन से हम अपनी रक्षा कर सकेंगे, ऐसा सोच कर नाना प्रकार के कष्ट सहन करके धन का संग्रह करते हैं। वे न तो स्वयं भरपेट खाते हैं और न अपने परिवार वालों को ही खाने देते हैं परंतु इस तरह कष्टपूर्वक उपार्जन किया हुआ धन भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता। बहुत बार यह भी देखा जाता है कि भोगने के समय में उस पुरुष को रोग आकर घेर लेते हैं और वह उस संचित धन का भोग नहीं कर सकता। दूसरे लोग ही उस धन का उपभोग करते हैं। वह तो केवल परिश्रम और पाप का भागी होता है इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को धन की तृष्णा से अपने अमूल्य समय को नष्ट करना उचित नहीं है।

(७४)

जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं, अणभिव्कंतं च खलु वयं संपेहाए, खणं जाणाहि पंडिए।

कठिनशब्दार्थ - जाणित्तु - जान कर, दुक्खं - दुःखको, सायं - साता-सुखको, अणभिव्कंतं - बीती नहीं है, खणं - क्षण (समय), अवसर को, जाणाहि - जान, पंडिए - पंडित।

भावार्थ - प्रत्येक प्राणी के सुख और दुःख को अलग-अलग जान कर रोगादि कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिये। जो अवस्था अभी बीती नहीं है उसे देख कर हे पण्डित! तू क्षण (समय) को, अवसर को जान/समझ।



विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में साधक को सावधान करते हुए कहा गया है कि - संसार में जितने भी प्राणी हैं सभी अपने किये हुए कर्म के फलस्वरूप सुख और दुःख को अकेले ही भोगते हैं। कोई किसी के सुख-दुःख का भागी नहीं होता तथा कर्म फल अवश्य ही भोगना पड़ता है, बिना भोगे उससे छूटकारा नहीं होता। अतः साधक पुरुष को समभाव पूर्वक कष्टों को सहन कर लेना चाहिए।

आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल में जन्म, पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता और नीरोग शरीर की प्राप्ति होना धर्म सेवन का उत्तम अवसर है। इसे पाकर जो व्यर्थ नहीं गंवाता किंतु धर्माचरण करता है, वही पंडित है। अतः साधक को चाहिए कि वह प्राप्त क्षणों को प्रमाद में नष्ट न करे।

(७५)

जाव सोयपण्णाणा अपरिहीणा, णेत्तपण्णाणा अपरिहीणा, घाणपण्णाणा अपरिहीणा, जीहपण्णाणा अपरिहीणा फरिसपण्णाणा अपरिहीणा, इच्चेएहिं विरूवरूवेहिं पण्णाणेहिं अपरिहायमाणेहिं आयट्ठं सम्मं समणुवासिज्जासि त्ति बेमि।

॥ बीअं अज्झयणं पढमोद्देसो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - अपरिहीणा - अपरिहीन-हीन नहीं हुई, परिण्णाणेहिं - प्रज्ञानैः- प्रज्ञानों के - ज्ञान शक्तियों के, आयट्ठं - आत्मार्थ, सम्मं - सम्यक्तया, समणुवासिज्जासि- उद्योग (प्रयत्न) करे।

भावार्थ - जब तक श्रोत्र परिज्ञान यानी कानों की शब्द सुनने की शक्ति क्षीण नहीं हुई है, नेत्रों की रूप देखने की शक्ति क्षीण नहीं हुई है, नाक की गंध ग्रहण करने की शक्ति क्षीण नहीं हुई है, जिह्वा की रस ग्रहण करने की शक्ति क्षीण नहीं हुई है, स्पर्शनिन्द्रिय की शक्ति क्षीण नहीं हुई है इसी प्रकार जब तक नाना प्रकार की ज्ञान शक्तियाँ क्षीण नहीं हुई है तब तक अपने आत्मकल्याण के लिये सम्यक् प्रकार से प्रयत्न करना चाहिये।

विवेचन - शरीर एवं इन्द्रियों की स्वस्थता के रहते हुए साधक को आत्म-साधना में संलग्न हो जाना चाहिये, यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है।

॥ इति दूसरे अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥



बीयं अज्झयणं बीओ उद्देशो

द्वितीय अध्ययन का द्वितीय उद्देशक

लोकविजय नामक दूसरे अध्ययन के प्रथम उद्देशक में सूत्रकार ने पारिवारिक एवं भौतिक सुख साधनों आदि के मोह त्याग की प्रेरणा दी है। अब इस द्वितीय उद्देशक में सूत्रकार संयम मार्ग में आने वाली अरुचियों का वर्णन करते हुए उन पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा देते हैं। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

अरति त्याग

(७६)

अरइं आउट्टे से मेहावी, खणंसि मुक्के।

कठिन शब्दार्थ - अरइं - अरति (अरुचि) को, आउट्टे - निवृत्त होता है, त्याग करता है, खणंसि - क्षण भर में, मुक्के - मुक्त हो जाता है।

भावार्थ - वह बुद्धिमान् पुरुष है जो संयम में उत्पन्न हुई अरति का त्याग करता है। ऐसा व्यक्ति क्षण भर में ही मुक्त हो जाता है।

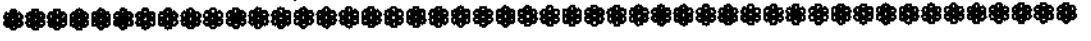
धिवेचन - संयम में रमण करना, आनंद अनुभव करना 'रति' है। इसके विपरीत चित्त की व्याकुलता, उद्देगपूर्ण स्थिति 'अरति' है। रति का त्याग करने वाला क्षण भर में-अल्प समय में ही सभी बंधनों से मुक्त हो जाता है।

सांसारिक विषय भोगों से मन को सर्वथा हटा कर एकान्त संयम में रति रखने वाला पुरुष जिस अपूर्व आनंद का अनुभव करता है वैसे चक्रवर्ती भी अनुभव नहीं कर सकता है।

(७७)

अणाणाए पुट्ठा वि एगे णियट्ठंति मंदा मोहेण पाउडा।

कठिन शब्दार्थ - अणाणाए - अनाज्ञया-आज्ञा से विपरीत, पुट्ठा वि - स्पृष्ट होकर, णियट्ठंति - पतित (भ्रष्ट) होते हैं, मंदा - मंद-अज्ञानी जीव, मोहेण - मोह से, पाउडा - प्रावृत्त-धिरे हुए।



भावार्थ - तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा से विपरीत आचरण करने वाले मोह से आवृत्त कितनेक मंद-अज्ञानी जीव परीषह उपसर्गों के आने पर संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं।

(७८)

“अपरिग्रहा भविस्सामो” समुद्गाए लब्धे कामे अभिगाहइ, अणाणाए मुणिणो, पडिलेहंति, एत्थ मोहे पुणो-पुणो सण्णा, णो हव्वाए णो पाराए।

कठिन शब्दार्थ - अपरिग्रहा - अपरिग्रही - परिग्रह से रहित, लब्धे - प्राप्त होने पर, अभिगाहइ - सेवन करते हैं, पडिलेहंति - देखने-ताकने लगते हैं, प्रवृत्त होते हैं, सण्णा - आसक्त होकर, णो हव्वाए - न इस पार के, णो पाराए - न उस पार के।

भावार्थ - कुछ व्यक्ति “हम अपरिग्रही बनेंगे” ऐसा संकल्प करके दीक्षित होते हैं किंतु कामभोगों के प्राप्त होने पर वे उन्हें भोगने लग जाते हैं। वे वेषधारी तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा के विपरीत विषयभोगों की प्राप्ति के उपायों में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार वे मोह में बारबार आसक्त हो कर न तो इधर के रहते हैं और न उधर के अर्थात् न तो गृहस्थ रहते हैं और न साधु ही। वे उभय जीवन से भ्रष्ट हो जाते हैं।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में अरति प्राप्त साधक की दयनीय मनोदशा का यथार्थ वर्णन किया गया है। हिताहित के विवेक से रहित कितनेक अज्ञानी जीव गृहस्थाश्रम छोड़ कर प्रव्रजित तो हो जाते हैं किंतु विषयभोगों के सामने आने पर वे उनमें फंस जाते हैं। वे न तो इधर के रहते हैं और न उधर के अर्थात् वे न तो गृहस्थ ही कहे जा सकते हैं और न साधु ही कहे जा सकते हैं। जैसे -

कोई प्यासा हाथी पानी पीने के लिये तालाब में गया। वह पानी तक पहुँचा नहीं और बीच में ही कीचड़ में फंस गया। वह कीचड़ से वापिस निकलने का प्रयत्न करने लगा परंतु जैसे जैसे वह निकलने का प्रयत्न करने लगा वैसे वैसे वह कीचड़ में अधिक फंसता गया। आखिर वहां उसकी मृत्यु हो गयी। इसी प्रकार कोई साधक मोहनीय कर्म के उदय से मोह की प्यास बुझाने के लिये विषयभोग रूपी जलाशय में गया। वह आसक्ति के कीचड़ में फंस गया। उसे भोगों की प्राप्ति हुई नहीं और उसके संयमी जीवन की मृत्यु हो गई। इस प्रकार वह कुल मर्यादा आदि की लज्जा या परवशता के कारण मुनि वेष को नहीं छोड़ता किंतु विषयभोगों की खोज करता है ऐसा पुरुष “उभय भ्रष्टो न गृहस्थो नापि प्रव्रजितः” - उभयभ्रष्ट होता है, क्योंकि वेष मात्र से तो वह मुनि है जबकि विचार और आचरण से गृहस्थ है।



लोभ परित्याग

(७६)

विमुक्ता हु ते जणा, जे जणा पारगामिणो लोभं अलोभेण दुगुंछमाणे लद्धे कामे णाभिगाहइ, विणा वि लोभं णिक्खम्म एस अकम्मे जाणइ पासइ। पडिलेहाए णावकंखइ, एस अणगारेत्ति पवुच्चइ।

कठिन शब्दार्थ - विमुक्ता - विमुक्त, पारगामिणो - पारगामी, लोभं - लोभ को, अलोभेण - अलोभ (संतोष) से, दुगुंछमाणे - घृणा (तिरस्कार) करते हुए, णाभिगाहइ - सेवन नहीं करते हैं, णिक्खम्म - दीक्षा ले कर, अकम्मे - अकर्म - कर्म मल से रहित, पडिलेहाए - प्रतिलेखना कर, णावकंखइ - नहीं चाहता है।

भावार्थ - जो कामभोगों के दलदल से पारगामी हैं अर्थात् जिन्होंने रत्नत्रयी को प्राप्त कर लिया है वे ही वास्तव में मुक्त हैं। अलोभ (निर्लोभता-संतोष) से लोभ को जीतता हुआ साधक कामभोगों के प्राप्त होने पर भी उनका सेवन नहीं करता है। जो लोभ से निवृत्त होकर दीक्षित होता है वह अकर्म/कर्म से रहित हो कर सब कुछ जानता देखता है। जो प्रतिलेखना कर विषय-कषायों आदि के परिणाम का विचार कर उनकी इच्छा नहीं करता है, वही अनगार कहलाता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि लोभ का त्याग करने वाला ही साधना पथ पर आगे बढ़ सकता है। यहां लोभ की तरह कषाय के अन्य तीन भेदों - क्रोध, मान, माया को भी समझ लेना चाहिये। लोभ को अलोभ से, क्रोध को क्षमा से, मान को मृदुता से और माया को ऋजुता से जीतना चाहिये। जैसा कि कहा है -

यथाहारपरित्यागः ज्वरितस्वीषधं तथा।

लोभस्यैवं परित्यागः असंतोषस्य भेषजम्॥

अर्थ - जिस प्रकार बुखार वाले व्यक्ति के लिये आहार त्याग (उपवास) करना औषधि है इसी प्रकार लोभ का त्याग करना तृष्णा (असंतोष) की औषधि है।

'विणा वि लोभं' का आशय है कि जो पुरुष लोभ रहित हो कर दीक्षित होते हैं वे भरत चक्रवर्ती की तरह शीघ्र ही केवलज्ञान केवलदर्शन को प्राप्त कर अव्याबाध सुखों के स्वामी बन

जाते हैं और जो लोभ सहित दीक्षा लेते हैं वे भी आगे चल कर अलोभ से लोभ को जीत कर कर्मावरण से मुक्त हो जाते हैं।

इस संसार में कितने ही प्राणी ऐसे हैं जो साधु के वेश को धारण करके भी इस लोक या परलोक के सुख के लोभ में पड़ जाते हैं। वे अपने को साधु कहने की धृष्टता करते हैं किंतु वास्तव में वे साधु नहीं हैं। जो लोभ को जीत कर अकर्मा बनने की चेष्टा करते हैं वे ही सच्चे साधु एवं अनगर हैं।

अर्थलोभी की वृत्ति

(८०)

अहो य राओ प्ररितप्पमाणे कालाकाल-समुट्ठाई, संजोगट्ठी, अट्ठालोभी, आलुंप्पे, सहसाकारे, विणिविट्ठंचित्ते एत्थ, सत्थे पुणो-पुणो ॥८०॥

भावार्थ - वह विषयों में आसक्त पुरुष रात दिन परितप्त - चिंता एवं तृष्णा से आकुल-व्याकुल रहता है। काल या अकाल में धन आदि के लिये सतत प्रयत्नशील रहता है। वह संयोग का अर्थी होकर धन का लोभी बन कर चोर या डाकू बन जाता है। सहसाकारी - बिना विचारे कार्य करने वाला हो जाता है और विविध प्रकार की आशाओं-इच्छाओं में उसका चित्त फंसा रहता है तथा अपनी इच्छा पूर्ति के लिये वह बार-बार शस्त्र प्रयोग करता है। पृथ्वीकाय आदि छह काय जीवों की हिंसा करता है।

हिंसा के विविध प्रयोजन

(८१)

से आयबले, से णाइबले, से सयणबले*, से मित्तबले, से पिच्चबले, से देवबले, से रायबले, से चोरबले, से अतिहिबले, से किविणबले, से समणबले, इच्चेएहिं विरूवरूवेहिं कज्जेहिं दंडसमायाणं संपेहाए भया कज्जइ। पावमुक्खुत्ति मण्णमाणे अदुवा आसंसाए।

* 'सयणबले' पाठ किन्हीं प्रतियों में मिलता है। अतः यहाँ पर यह मूल पाठ में रखा गया है।

कठिन शब्दार्थ - आयबले - आत्मबल (शरीर बल) के लिए, णाइबले - ज्ञातिबल के लिए, सयणबले - स्वजन बल के लिए, मित्रबले - मित्र बल के लिए, पिच्चबले - प्रेत्य बल के लिए, देवबले - देव बल के लिए, रायबले - राज बल के लिए, अतिहिबले- अतिथि बल के लिए, किविणबले - कृपण बल के लिए, समणबले - श्रमण बल के लिए, कज्जेहिं - कार्यों से, दंडसमायाणं - दण्ड देता है, प्राणियों की घात करता है, भया - भय से, पावमुक्खो - पाप से मुक्ति, मण्णमाणो- मानता हुआ, आसंसाए-आशंसा से-आशा से।

भावार्थ - वह आत्मबल (शरीर बल) के लिए - बलवान् बनने के लिए, ज्ञाति बल वृद्धि के लिए, स्वजन बल के लिए, मित्रबल के लिए, प्रेत्यबल-परभव (परलोक) में बलवान् होने के लिए, देव बल के लिए, राज बल के लिए, चोरबल के लिए, अतिथि बल के लिए, कृपण बल के लिए, श्रमण बल के लिए, इस प्रकार नाना प्रकार के कार्यों से प्राणियों की हिंसा करता है। यदि मैं इन प्राणियों की घात नहीं करूंगा तो मेरे मनोरथ पूर्ण नहीं होंगे, ऐसा सोच कर अथवा इस भय से हिंसा आदि करता है। कोई पाप से मुक्ति पाने की भावना से यज्ञ बलि आदि द्वारा जीव हिंसा करते हैं। कोई आशंसा से यानी भावी शुभफल की आशा से जीव घात करते हैं।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र हिंसा के विविध प्रयोजनों का वर्णन किया गया है। अर्थ लोलुप मनुष्य इहलौकिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए जीव हिंसा आदि अनेकविध पापाचरण करता है।

हिंसा-त्याग

(८२)

तं परिण्णाय मेहावी, णेव सयं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभिज्जा, णेवण्णं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभाविज्जा, एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभंतंवि अण्णं ण समणुजाणिज्जा ।

भावार्थ - यह जानकर मेधावी पुरुष उपरोक्त प्रयोजनों के लिए स्वयं प्राणियों की हिंसा न करे, न इन कार्यों के लिए दूसरों से भी हिंसा करावें तथा हिंसा करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करे।



आर्य मार्ग

(८३)

एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, जहेत्थ कुसले णोवल्लिप्पिज्जासि त्ति वेमि ॥८३॥

॥ बीअं अज्झयणं बीओद्देसो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - एस मग्गे - यह मार्ग, आरिएहिं - आर्य पुरुषों-तीर्थंकरों ने, पवेइए- फरमाया है, कुसले - कुशल-बुद्धिमान् पुरुष, णोवल्लिप्पिज्जासि - लिप्त न हो।

भावार्थ - यह मार्ग आर्य पुरुषों - तीर्थंकरों ने फरमाया है। अतः कुशल-बुद्धिमान् पुरुष जीव हिंसा रूप व्यापार में लिप्त न हों। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - तीन करण और तीन योग से प्राणियों की हिंसा का त्याग और रत्नत्रयी (सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र) रूप भाव मोक्षमार्ग आर्य पुरुषों के द्वारा कहा गया है, इसलिये यही आदर करने योग्य हैं। बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह इस आर्य मार्ग को अंगीकार करके आत्मकल्याण में प्रवृत्ति करे।

आर्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है -

“आराद्यातः सर्वहेयधर्मभ्य इत्यार्याः-संसारार्णवतटवर्तिनिः क्षीण घाति कर्माशाः संसारोदर विवर्तित्तिभावविदः तीर्थकृतस्तैः 'प्रकर्षण' सदेवमनुजायां पर्वदि सर्वस्वभाषानु-गामिन्या वाचा यौगपद्याशेषसंशीतिच्छेन्न्या प्रकर्षण वेदितः-कथितः प्रतिपादित इतियावत्।”

अर्थात् - जो आत्मा पापकर्म से सर्वथा अलिप्त है, जिसने घाती कर्म को क्षय कर दिया है, पूर्ण ज्ञान एवं दर्शन से युक्त है, ऐसे तीर्थंकर एवं सर्वज्ञ सर्वदर्शी पुरुषों को आर्य कहा गया है और उनके द्वारा प्ररूपित पथ को आर्य मार्ग कहते हैं। यानी जो मार्ग प्राणी मात्र के लिए हितकर, हिंसा आदि दोष से दूषित नहीं है, सब के लिए सुखशांतिप्रद है वह आर्यमार्ग है।

॥ इति दूसरे अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥



बीयं अज्झयणं तइओद्वेसो

द्वितीय अध्ययन का तृतीय उद्देशक

लोकविजय नामक दूसरे अध्ययन के दूसरे उद्देशक में सूत्रकार ने धन, वैभव, परिवार आदि में रही हुई आसक्ति और लोभ को जीतने के विषय में वर्णन किया है। अब इस तीसरे उद्देशक में मान को जीतने के विषय में कथन किया जाता है। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

गोत्रवाद का त्याग

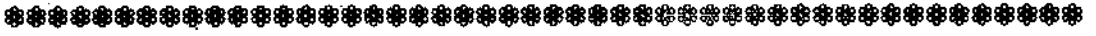
(८४)

से असइं उच्चागोए, असइं णीयागोए। णो हीणे, णो अइरित्ते णो पीहए,
इइ संखाए को गोयावाई? को माणावाई? कंसि वा एगे गिज्झे।

कठिन शब्दार्थ - असइं - अनेक बार, उच्चागोए - उच्च गोत्र में, णीयागोए - नीच गोत्र में, हीणे - हीन, अइरित्ते - अतिरिक्त-विशेष-उच्च-वृद्धि, पीहए - स्पृहा-इच्छा, संखाए - जानकर, गोयावाई - गोत्रवादी, माणावाई - मानवादी, गिज्झे - आसक्त।

भावार्थ - यह जीव अनेक बार उच्च गोत्र में और अनेक बार नीच गोत्र में जन्म ले चुका है इसलिए नीच गोत्र में हीनता नहीं और उच्च गोत्र में विशिष्टता नहीं, ऐसा जान कर उच्च गोत्र की स्पृहा - इच्छा न करे। इस उक्त तथ्य को जान लेने पर कौन पुरुष गोत्रवादी होगा अर्थात् उच्च गोत्र का मद कर सकता है तथा कौन मानवादी होगा अर्थात् अभिमान कर सकता है अथवा कौन किसी एक स्थान या गोत्र में आसक्त हो सकता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में गोत्रवाद का निरसन करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि यह जीव अनेक बार उच्च गोत्र और नीच गोत्र प्राप्त कर चुका है फिर कौन ऊँचा और कौन नीचा? ऊँच-नीच की भावना मात्र एक अहंकार (मद) है। अहंकार कर्म बंध का कारण है अतः गोत्र मद का त्याग कर देना चाहिये।



प्रमादजन्य दोष

(८५)

तम्हा पंडिए णो हरिसे, णो कुप्पे, भूएहिं जाण पडिलेह सायं।

समिए एयाणुपस्सी, तंजहा-अंधत्तं, बहिरत्तं, मूयत्तं, काणत्तं, कुंटत्तं, खुज्जत्तं, वडभत्तं, सामत्तं, सबलत्तं, सह पमाएणं, अणेगरूवाओ जोणीओ, संधायइ, विरूवरूवे फासे पडिसंवेदयइ।

कठिन शब्दार्थ - हरिसे - हर्षित, कुप्पे (कुज्जे) - कुपित, भूएहिं - भूतो (जीवों) के विषय में, जाण - जान, पडिलेह - अनुप्रेक्षा - सूक्ष्मता पूर्वक विचार कर, सायं - सुख, समिए - समित - समिति से युक्त, सम्यग्दृष्टि संपन्न, एयाणुपस्सी - यह देखने वाला, अंधत्तं- अंधापन, बहिरत्तं - बहरापन, मूयत्तं - गूंगापन, काणत्तं - काणापन, कुंटत्तं - हाथ आदि की वक्रता - टेढ़ापन, खुज्जत्तं - कुब्जत्व - कुबडा होना, वडभत्तं - वामन(बौना)पन, सामत्तं - श्यामता-कालापन, सबलत्तं - चित्तकबरापन, अणेगरूवाओ - नाना प्रकार की, जोणीओ - योनियों में, संधायइ - दौडता है - जन्म लेता है, फासे - स्पर्शों - दुःखों का, पडिसंवेदयइ - संवेदन करता है।

भावार्थ - इसलिए पंडित (विवेकशील) पुरुष उच्च गोत्र प्राप्त होने पर हर्षित न हो तथा नीच गोत्र प्राप्त होने पर कुपित (दुःखी) न हो। प्रत्येक जीव को सुखप्रिय है, यह तू देख, इस पर सूक्ष्मतापूर्वक विचार कर।

जो समित (समिति युक्त, सम्यग्दृष्टि संपन्न) है वह जीवों के इष्ट-अनिष्ट कर्म विपाक को इस प्रकार देखता है जैसे कि - अंधापन, बहरापन, गूंगापन, कानापन, हाथ आदि की वक्रता (लंगड़ापन), कुबड़ापन, बौनापन, कालापन, चित्तकबरापन (कुष्ठ होना) आदि की प्राप्ति प्रमाद (कर्म) से होती है। प्रमाद (कर्म) के कारण ही जीव नाना प्रकार की योनियों में जन्म लेता है और नाना प्रकार के स्पर्शों - दुःखों को भोगता है।

विवेचन - संसार की विभिन्नता और विचित्रता का कारण जीव के स्वकृत कर्म है। द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से अंधा, बहरा, गूंगा आदि होना पूर्व जन्म के भारी कर्मों का ही फल है। विषयभोगादि प्रमाद में फंस कर प्राणी अनेक प्रकार की योनियों में परिभ्रमण करता रहता है।



(८६)

से अबुज्झमाणे हओवहए जाइमरणमणुपरियट्टमाणे।

कठिन शब्दार्थ - अबुज्झमाणे - अबुध्यमानः-अज्ञानी जीव, हओवहए - हतोपहत - शारीरिक दुःखों से पीडित तथा उपहत - मानसिक पीड़ाओं से पीडित, जाइमरणं - जन्म मरण के चक्र में, अणुपरियट्टमाणे - भटकता रहता है।

भावार्थ - कर्मस्वरूप के बोध से रहित वह अज्ञानी जीव शारीरिक एवं मानसिक दुःखों तथा अपयश को प्राप्त करता हुआ जन्म मरण के चक्र में बारबार भटकता रहता है।

परिग्रहजन्य दोष

(८७)

जीवियं पुढो पियं इहमेगेसिं माणवाणं खित्तवत्थुममायमाणणं।

कठिन शब्दार्थ - जीवियं - असंयम जीवन, पुढो - पृथक्-पृथक्, पियं - प्रिय, खित्तवत्थुममायमाणणं - खेत मकान आदि में ममत्व रखने वाला।

भावार्थ - जो मनुष्य क्षेत्र - खुली भूमि तथा वास्तु - भवन, मकान आदि में ममत्व रखता है उसे यह असंयम जीवन ही प्रिय लगता है।

(८८)

आरत्तं विरत्तं मणिकुंडलं, सह हिरण्णेण इत्थियाओ परिगिज्झ तत्थेव रत्ता।

कठिन शब्दार्थ - आरत्तं विरत्तं - रंग बिरंगे वस्त्र आदि, मणिकुंडलं - मणियाँ, कानों के कुण्डल, सह - साथ, हिरण्णेण - सोना आदि के, इत्थियाओ - स्त्रियों को, परिगिज्झ-ग्रहण करके, तत्थेव - उन्हीं में, रत्ता - आसक्त रहता है।

भावार्थ - वे अज्ञानी जीव रंगे बिरंगे वस्त्र, मणि, कुण्डल, हिरण्य-स्वर्ण आदि के साथ स्त्रियों का परिग्रह कर उनमें आसक्त (अनुरक्त) रहते हैं।

(८९)

“ण इत्थ तवो वा, दमो वा, णियमो वा, दिस्सइ” संपुण्णं बाह जीविउकामे लालप्पमाणे मूढे विप्परियासमुवेइ।



कठिन शब्दार्थ - तपो - अनशन आदि तप, दमो - दम-इन्द्रिय-निग्रह, प्रशमभाव, णियमो - नियम-अहिंसादिव्रत, जीविउकामे - असंयम जीवन की इच्छा करता हुआ, लालप्पमाणे - भोगों के लिए प्रलाप करता हुआ, विप्परियासमुवेइ - विपर्यास - विपरीत भाव - सुख के बदले दुःख को प्राप्त करता है।

भावार्थ - भोगासक्त परिग्रही पुरुष, 'इस संसार में तप, दम और नियमों का कुछ भी फल दिखाई नहीं पड़ता है' इस प्रकार कहता हुआ बाल-अज्ञानी जीव असंयम जीवन की कामना करता है और विषय भोगों के लिए अत्यंत प्रलाप करता हुआ वह मूढ़ विपर्यास - सुख के बदले दुःख को प्राप्त करता है।

विवेचन - सम्यग्ज्ञान से रहित विषयासक्त प्राणी कर्मजन्य फल को नहीं जानते हैं अतः वे तप, संयम, नियम आदि पर विश्वास नहीं करके भौतिक सुख साधनों में ही आसक्त रहते हैं और उन्हीं में सुख की अनुभूति करते हुए विपरीत बुद्धि को प्राप्त होते हैं।

(६०)

इणमेव णावकंखंति, जे जणा धुवचारिणो।

जाइमरणं परिणाय, चरे संकमणे दढे।

कठिन शब्दार्थ - णावकंखंति - इच्छा नहीं करते हैं, धुवचारिणो - ध्रुवचारी-मोक्ष साधक - रत्नत्रयी का सम्यक् आचरण करने वाले, जाइमरणं - जन्म और मरण को, परिणाय - जान कर, संकमणे - संयम-चारित्र में, दढे - दृढ़ होकर।

भावार्थ - जो पुरुष ध्रुवचारी-मोक्ष साधक हैं वे ऐसे असंयमी जीवन की चाहना नहीं करते हैं अतः जन्म मरण के चक्र को जानकर संयम में दृढ़ता पूर्वक विचरे।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'ध्रुवचारिणो' का अर्थ है - 'ध्रुवो मोक्षस्तत्कारणं च ज्ञानादि ध्रुवं तदाचरितुंशीलं येषां ते' अर्थात् - ध्रुव नाम मोक्ष का है अतः उस के साधन भूत ज्ञानादि साधन भी ध्रुव कहलाते हैं। उनका सम्यक्त्या आचरण करने वाला 'ध्रुवचारी' कहलाता है। इसके अतिरिक्त 'ध्रूतचारिणो' पाठान्तर भी मिलता है। इसका अर्थ है - "धुनातीति ध्रूतं चारित्रं तच्चारिणः" अर्थात् कर्म रज को धुनने-झाड़ने वाले साधन को 'ध्रूत' कहते हैं। सम्यक् चारित्र से कर्म रज की निर्जरा होती है। अतः सम्यक् चारित्र को ध्रूत कहा है और उसकी आराधना करने वाले मुनि को 'ध्रूतचारी' कहा गया है।



(६१)

णत्थि कालस्स णागमो।

भावार्थ - काल का अनागमन नहीं है अर्थात् मृत्यु का समय अनिश्चित है। मृत्यु किसी भी क्षण आ सकती है।

अहिंसा का प्रतिपादन

(६२)

सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा।

कठिन शब्दार्थ - पियाउया - आयुष्य प्रिय है, सुहसाया - सुख चाहने वाले, दुक्खपडिकूला - दुःख प्रतिकूल, अप्पियवहा - वध अप्रिय, पियजीविणो - जीवन प्रिय है, जीविउकामा - जीवन की इच्छा करने वाले।

भावार्थ - सब प्राणियों को अपना आयुष्य प्रिय है। सभी प्राणी सुख भोगना चाहते हैं। दुःख सबको प्रतिकूल है। सभी को वध अप्रिय है। सभी को अपना जीवन प्रिय है। वे जीवित रहना चाहते हैं।

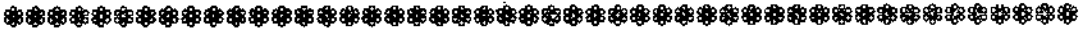
प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि सभी जीव जीना चाहते हैं। सभी को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है अतः किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए। इसी बात को दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ६ गाथा ११ में इस प्रकार कहा है -

“सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं ण मरिञ्जिउं।”

‘पियाउया’ के स्थान पर ‘पियायया’ पाठान्तर भी मिलता है जिसका अर्थ है - ‘प्रिय आयतः’ अर्थात् जिन्हें अपनी आत्मा प्रिय है, वे जगत् के सभी प्राणी। कोई भी आत्मा अपने पर होने वाले आघात को नहीं चाहता है अतः साधक को चाहिये वह किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाए।

(६३)

सव्वेसिं जीवियं पियं।



भावार्थ - सब को जीवन प्रिय है।

(६४)

तं परिगिज्झ दुपयं चउप्पयं अभिजुंजिया णं, संसिंचियाणं, तिविहेण जा वि से तत्थ मत्ता भवइ-अप्पा वा बहुगा वा से तत्थ गट्टिए चिट्ठइ, भोयणाए।

कठिन शब्दार्थ - परिगिज्झ - ग्रहण करके, दुपयं - द्विपद - दास दासी आदि नौकरों को, चउप्पयं - चतुष्पद - गाय, बैल, ऊँट आदि पशुओं को, अभिजुंजिया - काम में लगा कर, संसिंचियाणं - धन का संग्रह संचय करके, मत्ता - मात्रा, भोयणाए - भोग के लिए।

भावार्थ - अज्ञानी जीव उस असंयम जीवन को ग्रहण करके द्विपद (मनुष्य दास, दासी आदि नौकरों) को तथा चतुष्पद (गाय, ऊँट, बैल आदि) को काम में लगा कर तीन करण तीन योग से धन का संग्रह-संचय करता है जब उसके पास अल्प या बहुत मात्रा में धन संग्रह हो जाता है तो वह उस धन में आसक्त होकर भोग के लिए उसका संरक्षण करता है।

धन अस्थिर और नाशवान् है

(६५)

तओ से एगया विविहं परिसिद्धं संभूयं महोवगरणं भवइ। तंपि से एगया दायाया वा विभयंति, अदत्तहारो वा से अवहरइ, रायाणो वा से विलुंपंति, णस्सइ वा से, विणस्सइ वा से, अगारदाहेण वा से डज्झइ।

कठिन शब्दार्थ - परिसिद्धं - परिशिष्ट - भोगने से बचा हुआ, संभूयं - संभूत - पर्याप्त, महोवगरणं - महान् उपकरण वाला, दायाया - दायाद-भाई बंधु पुत्र आदि, विभयंति- बांट लेते हैं, अदत्तहारो - चोर, अवहरइ - चुरा लेते हैं, विलुंपंति - छिन लेने हैं, णस्सइ- नष्ट हो जाती है, विणस्सइ - विनष्ट-विविध प्रकार से नष्ट हो जाती है, अगारदाहेण - घर के दाह (जलने) से, डज्झइ - जल जाता है।

भावार्थ - तत्पश्चात् किसी समय वह विविध प्रकार से भोगोपभोग करने के बाद शेष बची पर्याप्त धन सम्पत्ति से महान् उपकरण वाला बन जाता है किन्तु उस सम्पत्ति को कभी तो दायाद - पैतृक सम्पत्ति के भागीदार भाई, पुत्र आदि बांट लेते हैं, चोर चुरा लेते हैं अथवा राजा

उससे छिन लेते हैं या वह नष्ट-विनष्ट हो जाती है अथवा कभी घर में आग लग जाने से जल जाती है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि जो धन वैभव आज दिखाई दे रहा है वह कल विनष्ट हो सकता है। धन संपत्ति के नष्ट होने के अनेक कारण उपस्थित हो सकते हैं जैसे बेटे पोते आदि उस संपत्ति को बंट लेते हैं, चोर चुरा लेते हैं, राजा उसे छिन लेते हैं, आग लगने से धन जल कर समाप्त हो जाता है आदि। इस प्रकार संपत्ति के स्थिर रहने का कोई निश्चय नहीं है।

(६६)

इइ से परस्स अट्ठाए कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण संमूढे विप्परियासमुवेइ।

कठिन शब्दार्थ - परस्स अट्ठाए - दूसरों के लिए, कूराइं - क्रूर, कम्माइं - कर्म, पकुव्वमाणे- करता हुआ, संमूढे - सम्मूढ-विवेक शून्य, विप्परियासमुवेइ - विपर्यास भाव को।

भावार्थ - इस प्रकार वह अज्ञानी पुरुष दूसरों के लिए क्रूर कर्म करता हुआ उस पाप से उत्पन्न दुःख से मूढ बन कर विपर्यास भाव को प्राप्त हो जाता है, कर्तव्याकर्तव्य के विवेक से हीन हो जाता है।

विवेचन - अज्ञानी पुरुष धनोपार्जन के निमित्त नाना प्रकार का आरंभ करते हैं किन्तु वह धन उनके लिए त्राण और शरण रूप नहीं होता।

(६७)

मुणिणा हु एयं पवेइयं।

भावार्थ - मुनि-तीर्थंकर देव ने यह प्रतिपादन किया है कि अज्ञानी (मूढ) जीव क्रूर कर्म करके सुख के स्थान पर बार-बार दुःख प्राप्त करता है।

(६८)

अणोहंतरा एए, णो य ओहं तरित्तए, अतीरंगमा एए, णो य तीरं गमित्तए।
अपारंगमा एए णो य पारं गमित्तए।



कठिन शब्दार्थ - अणोहंतरा - अनोघंतर-संसार सागर को तैरने में असमर्थ, ओहं - ओघ-संसार समुद्र को, तरित्तए - तैरने में समर्थ, अतीरंगमा - अतीरंगम - तीर को प्राप्त नहीं कर पाए, अपारंगमा - अपारंगमा - पार पहुँचने में समर्थ नहीं, पारं गमित्तए - पार को प्राप्त करने में समर्थ।

भावार्थ - वे मूढ़ मनुष्य (अन्यतीर्थी) अनोघंतर है अर्थात् संसार प्रवाह को तैरने में समर्थ नहीं होते। वे अतीरंगम हैं, तीर-किनारे तक पहुँचने में समर्थ नहीं होते। वे अपारंगम हैं, पार - संसार के उस पार - मोक्ष तक पहुँचने में समर्थ नहीं होते।

विवेचन - तीर्थंकर प्रभु ने स्पष्ट कहा है कि सावद्य आरम्भ में जीवन व्यतीत करने वाले पुरुष कभी संसार सागर को पार नहीं कर सकते हैं।

(६६)

आयाणिज्जं च आयाय, तंमि ठाणे ण चिद्धइ।

वितहं पप्पखेयणणे तंपि ठाणंमि चिद्धइ।

कठिन शब्दार्थ - आयाणिज्जं - आदानीय - सत्यमार्ग, संयम पथ, पांच आचार को, आयाय - ग्रहण करके, ठाणे - स्थान में, वितहं - वितथ, अखेयणणे - अखेदज्ञ - अकुशल असंयम मार्ग-मिथ्या उपदेश का, पप्प - प्राप्त कर।

भावार्थ - वह मूढ़ सर्वज्ञोक्त मार्ग (संयम पथ) को प्राप्त करके भी उसमें स्थित नहीं हो पाता और वह अकुशल पुरुष असत्मार्ग को प्राप्त कर उसी में ठहर जाता है अर्थात् असंयम मार्ग में ही रमण करता है।

विवेचन - टीकाकार ने आदानीय का अर्थ पांच प्रकार का आचार भी किया है तब उसका भावार्थ होता है कि परिग्रही मनुष्य पंच आचार में स्थित नहीं हो सकता। टीकाकार ने उपरोक्त सूत्र का एक अन्य अर्थ भी इस प्रकार किया है -

आदानीय अर्थात् ग्रहण करने योग्य संयम मार्ग में जो प्रवृत्त है वह उस मूल स्थान (संसार) में नहीं ठहरता जो अक्षेत्रज्ञ अज्ञानी, मूढ़ है वह असत्य मार्ग का अवलम्बन ले कर उस स्थान (संसार) में ठहरता है।

(१००)

उद्देशो पासगस्स णत्थि।

कठिन शब्दार्थ - उद्देशो - उपदेश, पासगस्स - पश्यकस्य-द्रष्टा, विवेकी तत्त्वज्ञ पुरुषों के लिए।

भावार्थ - जो मनुष्य तत्त्वज्ञ/द्रष्टा/विवेकी है उसके लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं होती।

(१०१)

बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं
अणुपरियट्टइ त्ति बेमि ॥१०१॥

॥ बीअं अज्झयणं तइओद्देशो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - णिहे - राग युक्त, कामसमणुण्णे - कामभोगों में आसक्त, असमियदुक्खे - दुःख का शमन नहीं करता, दुक्खाणमेव - दुःखों के, आवट्टं - आवर्त-चक्र में, अणुपरियट्टइ - परिभ्रमण करता है।

भावार्थ - अज्ञानी पुरुष जो राग के बंधन में बंधा है, काम भोगों में आसक्त है वह कभी दुःख का शमन नहीं कर पाता। वह दुःखी होकर दुःखों के आवर्त में बार-बार भटकता रहता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - जो वस्तु स्वरूप को देखने वाला है उसे 'पश्यक' कहते हैं अथवा केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को जानने वाले तीर्थंकर भगवान् और उनकी आज्ञा में चलने वाले पुरुष 'पश्यक' कहलाते हैं। इन सब के लिए उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं है। वे स्वतः ही अहित से निवृत्ति और हित में प्रवृत्ति करते हैं।

रागादि से मोहित और विषय भोगों में आसक्त अज्ञानी पुरुष शारीरिक और मानसिक दुःखों से सदा पीड़ित होता हुआ संसार चक्र में परिभ्रमण करता रहता है। इसलिए विवेकी पुरुष को रागादि तथा विषय भोगों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

॥ इति दूसरे अध्ययन का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥



बीअं अज्झयणं चउत्थोद्देशो

द्वितीय अध्ययन का चौथा उद्देशक

लोक विजय नाम द्वितीय अध्ययन के तृतीय उद्देशक में विषयभोगों में आसक्त नहीं रहने का उपदेश दे कर इस चतुर्थ उद्देशक में सूत्रकार भोगों की भयंकरता का वर्णन करते हुए भोगासक्त जीवों की दुर्दशा का वर्णन करते हैं। इस उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

विषयासक्त प्राणी की दुर्दशा

(१०२)

तओ से एगयां रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति।

कठिन शब्दार्थ - रोगसमुप्पाया - रोग-उत्पात, समुप्पज्जंति - उत्पन्न हो जाते हैं।

भावार्थ - विषयभोग में आसक्त रहने से उस विषयासक्त पुरुष को कभी रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(१०३)

जेहिं वा सद्धिं संवसइ, ते वा णं एगया णियया पुब्बिं परिवयंति। सो वा ते णियए पच्छा परिवइज्जा, णालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा, तुमं पि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा।

कठिन शब्दार्थ - संवसइ - रहता है, णियया - निजक-स्वजन-स्नेही, परिवयंति - तिरस्कार एवं निंदा करते हैं।

भावार्थ - वह जिनके साथ रहता है रोगग्रस्त होने पर वे ही स्वजन पहले उसका तिरस्कार एवं निंदा करने लगते हैं बाद में वह भी उनका तिरस्कार एवं निंदा करने लगता है। ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि वे स्वजन आदि तुझे त्राण देने में, शरण देने में समर्थ नहीं हैं और तुम भी उनके लिए त्राण या शरण रूप नहीं हो सकते हो।

विवेचन - विषय-भोग, दुःख रूप हैं। उनमें आसक्त प्राणी को अनेक प्रकार के रोग



उत्पन्न हो जाते हैं। जिन माता-पिता, स्त्री, पुत्रादि के लिए मनुष्य जी जान लड़ा कर तथा अनेकों कष्टों की परवाह न करके धन का उपार्जन करता है वे आत्मीयजन उस मनुष्य की रोगावस्था में त्राण-शरण रूप नहीं हो सकते।

(१०४)

जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं।

भावार्थ - प्रत्येक प्राणी को अपना-अपना दुःख और सुख भोगना पड़ता है ऐसा जान कर रोगों से नहीं घबराए और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे।

(१०५)

भोगामेव अणुसोयंति इहभेगेसिं माणवाणं, तिविहेण, जावि से तत्थ मत्ता भवइ-अप्पा वा, बहुया वा, से तत्थ गढिए चिट्ठइ, भोयणाए।

कठिन शब्दार्थ - अणुसोयंति - शोक करते हैं, माणवाणं - मनुष्यों को।

भावार्थ - कुछ मनुष्य भोगों के विषय में ही सोचते रहते हैं। तीन करण तीन योग से अल्प या बहुत मात्रा में एकत्रित की हुई धन संपत्ति के उपभोग के लिए वह मनुष्य अत्यंत आसक्त रहता है।

(१०६)

तओ से एगया विपरिसिद्धं संभूयं महोवगरणं भवइ, तंपि से एगया दायाया विभयंति, अदत्तहारो वा से हरइ, रायाणो वा से विलुंपंति, णस्सइ वा से, विणस्सइ वा से, अगारदाहेण वा से डज्जइ।

भावार्थ - तदनन्तर किसी समय धनोपार्जन करते हुए उस पुरुष के लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से भोग के बाद बची हुई विपुल सम्पत्ति के कारण वह महान् उपकरण (वैभव) वाला हो जाता है किन्तु कभी ऐसा समय आता है जब उस संपत्ति को दायद - भाई बन्धु आदि बांट लेते हैं अथवा चोर उसे चुरा लेते हैं राजा उसे छीन लेते हैं अथवा अन्य प्रकार से उसकी संपत्ति नष्ट-विनष्ट हो जाती है, गृह दाह आदि से जलकर भस्म हो जाती है।



(१०७)

इइ से बाले परस्स अट्टाए कूराणि कम्माणि पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ।

भावार्थ - इस प्रकार दूसरों के लिए क्रूर कर्म करता हुआ वह बाल अज्ञानी उस पाप से उत्पन्न दुःख से मूढ बन कर विपर्यास भाव को प्राप्त होता है-कर्तव्याकर्तव्य के विवेक से हीन हो जाता है।

विवेचन - अज्ञानी पुरुष धनोपार्जन के लिए नाना प्रकार का आरम्भ करता है किन्तु वह धन उसके लिए त्राण शरण रूप नहीं होता। वह अपने कृत कर्मों के कारण विविध प्रकार के दुःखों को भोगता है।

(१०८)

आसं च छंदं च विगिंच धीरे।

कठिन शब्दार्थ - आसं - आशा को, छंदं - स्वच्छंदता को, विगिंच - त्याग दो, धीरे - हे धीर पुरुष!

भावार्थ - हे धीर पुरुष! तुम आशा और स्वच्छंदता (मनमानी करने) का त्याग कर दो।

विवेचन - हिताहित के ज्ञान में दक्ष धीर पुरुष को लक्ष्य करके शास्त्रकार कहते हैं कि हे धीर! तुम आशा को यानी विषय तृष्णा एवं स्वेच्छाचारिता को छोड़ दो। क्योंकि आशा से केवल दुःख ही प्राप्त होता है परन्तु भोग प्राप्त नहीं होते।

भोगेच्छा, दुःख का कारण

(१०९)

तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु।

भावार्थ - उस भोगेच्छा रूप शल्य का सर्जन तुमने स्वयं ने किया है।

(११०)

जेण सिया तेण णो सिया।

भावार्थ - जिस भोग सामग्री से तुझे सुख होता है उससे सुख नहीं भी होता है।



(१११)

इणमेव णावबुज्झंति, जे जणा मोहपाउडा।

भावार्थ - जो लोग मोह से आवृत्त (ढके हुए) हैं, वे इस तथ्य को नहीं जानते हैं कि पौद्गलिक साधनों से कभी सुख मिलता है और कभी नहीं।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि भोगेच्छा जीवन को दुःखमय बनाती है। आत्मा स्वयं विषय तृष्णा रूपी बाण को अपने हृदय में डाल कर दुःख भोगता है। कर्मों का परिणाम विचित्र है कि जिन पौद्गलिक साधनों से मनुष्य को सुखों की प्राप्ति होती है उन्हीं साधनों से दूसरे को सुख नहीं मिलता है किन्तु मोह मूढ़ अज्ञानी जीव कर्मों की इस विचित्रता को नहीं समझ पाता है।

(११२)

थीभि लोए पव्वहिए ते भो वयंति-“एयाइं आययणाइं”।

कठिन शब्दार्थ - थीभि - स्त्रियों से, पव्वहिए - प्रव्यथित-पीड़ित, आययणाइं - आयतन-भोग की सामग्री।

भावार्थ - यह लोक स्त्रियों से पीड़ित (पराजित) है। हे शिष्य! वे स्त्री मोहित जीव कहते हैं कि ये स्त्रियाँ आयतन - भोग की सामग्री है।

(११३)

से दुक्खाए-मोहाए-माराए-णरगाए-णरगतिरिक्खाए।

भावार्थ - किन्तु उनका यह मंतव्य (कथन) दुःख के लिए, मोह के लिए, मृत्यु के लिए, नरक के लिए और नरक से निकल कर तिर्यच योनि के लिए होता है।

(११४)

सययं मूढे धम्मं णाभिजाणइ।

भावार्थ - सतत मूढ़ जीव धर्म को नहीं जानता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि अज्ञानी जीव स्त्री आदि भोग साधनों को ही अपने जीवन का लक्ष्य समझते हैं। स्त्री काम रूप है इसलिए कामी पुरुष स्त्रियों से



पराजित हो जाते हैं और वे स्त्रियों को भोग सामग्री मानने की गलत धारणा से ग्रस्त हो जाते हैं। स्त्री को आयतन - भोग सामग्री मानकर उसके शोग में लिप्त हो जाना आत्मा के लिए घातक और अहितकर है। इसे बताने के लिए ही सूत्रकार ने ये विशेषण दिये हैं - यह दुःख का कारण है। मोह, मृत्यु, नरक और तिर्यच गति में भव भ्रमण का कारण है।

(११५)

उदाहु वीरे, अप्पमाओ महामोहे।

भावार्थ - श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने कहा है - महामोह रूप स्त्रियों में अप्रमत्त (प्रमत्त नहीं) बने।

(११६)

अलं कुसलस्स पमाएणं, संति मरणं संपेहाए, भेउरधम्मं संपेहाए।

कठिन शब्दार्थ - संतिमरणं - शांति (मोक्ष) और मरण (संसार) को, भेउरधम्मं - भंगुर धर्मा (नाशवान्)।

भावार्थ - कुशल (बुद्धिमान्) पुरुष को प्रमाद नहीं करना चाहिये। शांति (मोक्ष) और मरण अर्थात् संसार के स्वरूप को विचार कर तथा शरीर को भंगुरधर्मा-नश्वर जान कर प्रमाद नहीं करे।

(११७)

णालं पास अलं तव एएहिं, एयं पास मुणी? महड्ढभयं।

भावार्थ - ये भोग, इच्छा की तृप्ति करने में समर्थ नहीं है। यह देख! तुम को इन भोगों से क्या प्रयोजन है? हे मुनि! ये भोग महान् भय रूप है, इस बात को तुम देखो।

अहिंसा का उपदेश

(११८)

णाइवाइज्ज कंचणं।

भावार्थ - किसी भी प्राणी की हिंसा न करो।



(११६)

एस वीरे पसंसिए जे ण णिविज्जइ आयाणाए।

कठिन शब्दार्थ - पसंसिए - प्रशंसा की जाती है, आयाणाए - संयम से, णिविज्जइ- घबराता है, खेद का अनुभव करता है।

भावार्थ - वह वीर प्रशंसनीय होता है जो संयम से नहीं घबराता है अर्थात् संयम में सतत लीन रहता है।

भिक्षाचरी में समभाव

(१२०)

“ण मे देइ” ण कुप्पिज्जा, थोवं लद्धुं ण खिसिए, पडिसेहिओ परिणमिज्जा।

कठिन शब्दार्थ - कुप्पिज्जा - क्रोध करे, थोवं - अल्प, लद्धुं - प्राप्त होने पर, खिसिए - निंदा न करे, पडिसेहिओ - प्रतिषेध - मना करने पर, परिणमिज्जा - लौट जाय।

भावार्थ - “यह गृहस्थ मुझे भिक्षा नहीं देता” ऐसा सोच कर उस पर क्रोध न करे। अथवा थोड़ा आहार मिलने पर उसकी निंदा न करे। गृहस्वामी-दाता द्वारा निषेध करने पर उसके घर से वापस लौट जाय।

(१२१)

एयं मोणं समणुवासिज्जासि त्ति बेमि।

॥ बीअं अज्झयणं चउत्थोद्देसो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - मोणं - मौन का - मुनि धर्म का, समणुवासिज्जासि - समनुवासये:- सम्यक् प्रकार से पालन करे।

भावार्थ - इस प्रकार मौन का - मुनि धर्म का सम्यक् प्रकार से पालन करे। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - विषय भोगों को जीत लेने वाला पुरुष सच्चा वीर कहलाता है। उसकी प्रशंस इन्द्रादि देव भी करते हैं।



संयम पालन में तत्पर साधु किसी गृहस्थ के घर पर भिक्षा आदि के निमित्त जाय तब उस गृहस्थ के पास दान योग्य सम्पूर्ण सामग्री के होते हुए भी यदि वह साधु को दान न देवे तो साधु उस पर क्रोध न करे। यदि वह गृहस्थ थोड़ा दान दे तो साधु उसकी निंदा न करे तथा यदि कोई गृहस्थ अपने घर में आने से साधु को मना कर दे तो साधु उसके घर से तुरन्त लौट जाय। यह मुनि का आचार है और मुनि को इस आचार का दृढ़ता के साथ पालन करना चाहिये।

जीवन यापन के लिए भोजन आवश्यक है। मुनि भिक्षा वृत्ति के द्वारा आहारादि को प्राप्त करता है। भिक्षावृत्ति त्याग का साधन है, किन्तु यदि वह भिक्षा आसक्ति, उद्वेग तथा क्रोध आदि आवेशों के साथ ग्रहण की जाय तो वह भिक्षा त्याग के स्थान पर भोग बन जाती है। श्रमण की भिक्षा वृत्ति भोग न बने इसलिए भिक्षाचर्या में मन को शांत, प्रसन्न और संतुलित रखने का उपदेश किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में मुनिवृत्ति - मुनित्व की साधना को 'मौन' कहा गया है। क्योंकि -
 "मुनेरिदं मौनं-मुनिभिर्मुमुक्षुभिराचरितम्॥"

॥ इति दूसरे अध्ययन का चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

बीअं अज्झयणं पंचमोद्देशो

द्वितीय अध्ययन का पांचवाँ उद्देशक

द्वितीय अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक में सूत्रकार ने 'भोग रोग का घर है' यह बताते हुए भोगों के त्याग का उपदेश दिया है। इस पांचवें उद्देशक में गृहस्थों के घर से निर्दोष आहार आदि ग्रहण करने की विधि तथा मूर्च्छा-ममत्व त्याग का वर्णन किया गया है। इस उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

कर्म समारंभ का कारण

(१२२)

जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्मसमारंभा कज्जंति, तंजहा-

अप्यणो से पुत्ताणं, धूयाणं, सुण्हाणं णाईणं, धाईणं, राईणं, दासाणं, दासीणं, कम्मकराणं, कम्मकरीणं, आएसाए, पुढो पहेणाए, सामासाए, पायरासाए, सण्णिहि-सण्णिचओ कज्जइ, इहमेगेसिं माणवाणं भोयणाए।

कठिन शब्दार्थ - कम्मसमारंभा - कर्म समारम्भ, कज्जन्ति - करते हैं, पुत्ताणं - पुत्रों के लिए, धूयाणं - पुत्रियों के लिए, सुण्हाणं - पुत्र वधुओं के लिए, णाईणं - ज्ञातिजनों के लिए, धाईणं - धाई के लिए, राईणं - राज के लिए, दासाणं - दासों के लिए, दासीणं - दासियों के लिए, कम्मकराणं - कर्मचारियों के लिए, कम्मकरीणं - कर्मचारिणियों के लिए, आएसाए - अतिथियों के लिए, पुढो पहेणाए - विभिन्न लोगों को देने के लिए, सामासाए - सायंकालीन भोजन के लिए, पायरासाए - प्रातःकालीन भोजन के लिए, सण्णिहि - सण्णिचओ-सन्निधि (दूध दही आदि पदार्थों का संग्रह) सन्निचय (चीनी, गुड़, अन्न आदि पदार्थों का संग्रह)।

भावार्थ - असंयमी अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के शस्त्रों द्वारा लोक के लिए (अपने एवं दूसरों के लिए) कर्म समारंभ करते हैं। जैसे कि - अपने पुत्रों, पुत्रियों, पुत्रवधुओं, ज्ञातिजनों, धाई, राजा, दासों, दासियों, कर्मचारियों, कर्मचारिणियों, अतिथियों आदि के लिए तथा विभिन्न लोगों को देने के लिए, सायंकालीन एवं प्रातःकालीन भोजन के लिए। इस प्रकार वे कितनेक मनुष्यों के भोजन के लिए सन्निधि और सन्निचय-खाद्य पदार्थों का संग्रह करते हैं।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने 'मनुष्य कर्म समारंभ में क्यों प्रवृत्त होता है?' इसके अनेक कारणों का उल्लेख किया है।

किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति एवं अनिष्ट पदार्थ संयोग को नष्ट करने के लिए प्राणतिपात - हिंसा आदि दोषों की मन में कल्पना करना, उनका चिंतन करना 'समारम्भ' कहलाता है। अपने द्वारा चिंतित विचारों को साकार रूप देने के लिए तद्रूप साधनों या शस्त्रों का संग्रह करना 'समारम्भ' है तथा उक्त विचारों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए उन शस्त्रों का प्रयोग करना 'आरम्भ' कहलाता है।

इस प्रकार विभिन्न कार्यों के लिए सारम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त जीव आठ कर्मों का बन्ध करता है।



अनगार के तीन विशेषण

(१२३)

समुद्रिण अणगारे आरिए आरियपण्णे, आरियदंसी, अयं संधित्ति, अदक्खु, से णाडए, णाडआवए, णाडयंते समणुजाणड।

कठिन शब्दार्थ - आरिए - आर्य, आरियपण्णे - आर्य प्रज्ञ - आर्य बुद्धि वाला, आरियदंसी - आर्यदर्शी, संधि - संधि - भिक्षा काल अथवा सुअवसर।

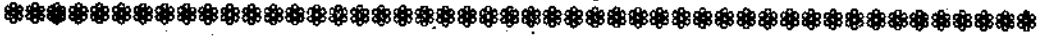
भावार्थ - संयम साधना में तत्पर आर्य, आर्यप्रज्ञ और आर्यदर्शी अनगार प्रत्येक क्रिया उचित समय पर ही करता है। ऐसा साधु भिक्षा के समय को देख कर भिक्षा के लिए जावे। वह सदोष आहार स्वयं ग्रहण न करे, दूसरों से भी ग्रहण न करावे और ग्रहण करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करे।

विवेचन - गृहस्थ अपने लिए अथवा अपने संबंधियों के लिए अनेक प्रकार का भोजन तैयार करते हैं। भोग निवृत्त गृह त्यागी श्रमण के लिए शरीर निर्वाहनार्थ भोजन की आवश्यकता होती है अतः अनगार, गृहस्थों के लिए बने हुए भोजन में से निर्दोष भोजन यथासमय यथाविधि प्राप्त करे।

गृहस्थ के घर जिस समय-भिक्षा प्राप्त हो सकती है, उस अवसर का ज्ञान अनगार के लिए होना बहुत आवश्यक है। अलग-अलग देश और काल में भिक्षा का समय अलग-अलग होता है। जिस देश काल में भिक्षा का जो उपयुक्त समय हो, वही भिक्षाकाल माना जाता है। दशवैकालिक सूत्र के पांचवें पिण्डैषणा नामक अध्ययन में भिक्षाचरी का काल, विधि दोष आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। जिज्ञासुओं को वहाँ से देख लेना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में अनगार के लिए प्रयुक्त तीन विशेषणों का अर्थ इस प्रकार है -

१. आर्य - श्रेष्ठ आचरण वाला अथवा गुणी। शीलकाचार्य के अनुसार आर्य का अर्थ है - जिसका अंतःकरण निर्मल हो।
२. आर्यप्रज्ञ - जिसकी बुद्धि परमार्थ की ओर प्रवृत्त हो, वह आर्यप्रज्ञ है।
३. आर्यदर्शी - जिसकी दृष्टि गुणों में सदा रमण करे अथवा न्यायमार्ग का द्रष्टा आर्यदर्शी कहलाता है।



श्रमण के उपर्युक्त तीनों विशेषण बहुत सार्थक हैं।

निर्दोष आहार ग्रहण

(१२४)

सव्वामगंधं परिण्णाय णिरामगंधो परिव्वए।

कठिन शब्दार्थ - सव्वामगंधं - सर्व प्रकार के अशुद्ध और आधाकर्मादि दोषों से दूषित अग्रहणीय आहार को, **णिरामगंधो -** निर्दोष आहार के लिए।

भावार्थ - साधु सर्व प्रकार के अशुद्ध और आधाकर्म आदि दोषों से दूषित अग्रहणीय आहार को ज्ञपरिज्ञा से जान कर तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा त्याग कर निर्दोष आहार ग्रहण करता हुआ संयम में विचरे।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'सव्वामगंधं' और 'णिरामगंधो' शब्दों में आये हुए 'आम' और 'गंध' शब्दों का अर्थ इस प्रकार है - "आम" का अर्थ है - अविशोधिकोटि नामक मूल गुण के दोष तथा 'गंध' का अर्थ है - विशोधिकोटि रूप उत्तर गुण के दोष। इस प्रकार मूल गुण और उत्तरगुण रूप दोषों से रहित चारित्र का पालन करना "णिरामगंधो" कहा जाता है। दोनों प्रकार के दोषों का होना "सव्वामगंधं" कहा जाता है। स्थानांग सूत्र के ६ वें स्थान में नव-कोटियों का वर्णन किया गया है वह इस प्रकार हैं।

१, २, ३ किण्ण कोटि - स्वयं खरीदना, दूसरों से खरीदवाना तथा खरीदने वालों का अनुमोदन करना।

४, ५, ६ हनन कोटि - स्वयं हिंसा करना, दूसरों से हिंसा करवाना तथा हिंसा करने वाले का अनुमोदन करना।

७, ८, ९ पचन कोटि - आहार आदि को स्वयं पकाना, दूसरों से पकवाना तथा पकाने वालों का अनुमोदन करना।

उपर्युक्त नव-कोटि में से किण्ण कोटि को विशोधिकोटि कहा जाता है। हनन कोटि और पचन कोटि को अविशोधिकोटि कहा जाता है। श्रमण निर्ग्रन्थों को उपर्युक्त नव कोटि से परिशुद्ध आहार आदि ग्रहण करना चाहिये।



(१२५)

अदिस्समाणे कयविककएसु, से ण किणे, ण किणावए, किणंतं ण समणुजाणइ ।

कठिन शब्दार्थ - अदिस्समाणे - अदृश्यमान - न देखा जाता हुआ, कयविककएसु - क्रय-विक्रय-खरीदने और बेचने में, किणे - खरीदे।

भावार्थ - क्रय विक्रय आदि कार्यों से निवृत्त साधु स्वयं कोई वस्तु न खरीदे, दूसरों से भी क्रय न करवाएँ और क्रय करने वाले का अनुमोदन भी न करे।

विवेचन - साधु क्रय विक्रय यानी कोई भी वस्तु खरीदना या बेचना, यह कार्य न करे किन्तु क्रय - विक्रय के साधन भूत द्रव्य से रहित होकर विचरे।

(१२६)

से भिक्खु कालण्णे-बलण्णे-मायण्णे-खेयण्णे-खणयण्णे-विणयण्णे-ससमयण्णे-परसमयण्णे-भावण्णे-परिग्रहं अममायमाणे, कालाणुट्ठाई, अपडिण्णे दुहओ छेत्ता, णियाइ॥१२६॥

कठिन शब्दार्थ - कालण्णे - कालज्ञ - काल को जानने वाला, बलण्णे - बलज्ञ - आत्म बल को जानने वाला, मायण्णे - मात्रज्ञ-मात्रा (परिमाण) को जानने वाला, खेयण्णे - खेदज्ञ - दूसरों के दुःख (पीड़ा) को जानने वाला, खणयण्णे - क्षणज्ञ-क्षण (अवसर-समय) को जानने वाला, विणयण्णे - विनयज्ञ-विनय को जानने वाला, ससमयण्णे - स्व समयज्ञ - स्व सिद्धान्त को जानने वाला, परसमयण्णे - पर समयज्ञ - पर सिद्धान्त को जानने वाला, भावण्णे - भावज्ञ-भावों को जानने वाला, अममायमाणे - मूर्च्छित न होता हुआ, कालाणुट्ठाई - कालानुष्ठायी - कालानुसार अनुष्ठान करने वाला, अपडिण्णे - अप्रतिज्ञ - किसी प्रकार का भौतिक संकल्प - निदान न करने वाला, छेत्ता - छेदन कर, णियाइ - नियति - नियम पूर्वक संयम के अनुष्ठान में रत रहता है।

भावार्थ - वह साधु कालज्ञ है, बलज्ञ है, मात्रज्ञ है, खेदज्ञ है (क्षेत्रज्ञ है) क्षणज्ञ है विनयज्ञ है, स्व, समयज्ञ है, पर, समयज्ञ है, भावज्ञ है। परिग्रह में ममत्व न करने वाला,

कालानुष्ठायी (उचित समय पर उचित कार्य करने वाला) और निदान नहीं करने वाला है। वह राग और द्वेष दोनों का छेदन कर नियम पूर्वक संयम के अनुष्ठान में रत रहे।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में आये हुए कालण्णे आदि शब्दों का विशेष अर्थ इस प्रकार है-

१. कालण्णे (कालज्ञ) - काल - प्रत्येक आवश्यक क्रिया के उपयुक्त समय को जानने वाला। समय पर अपना कर्तव्य पूरा करने वाला कालज्ञ होता है।

२. बलण्णे (बलज्ञ) - अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य को पहचानने वाला तथा शक्ति का तप, सेवा आदि में योग्य उपयोग करने वाला।

३. मायण्णे (मात्रज्ञ) - उपयोग में आने वाली प्रत्येक वस्तु भोजन, पानी आदि का परिमाण-मात्रा जानने वाला।

४. खेयण्णे (खेदज्ञ, क्षेत्रज्ञ) - दूसरों के दुःखों को जानने वाला खेदज्ञ एवं क्षेत्र अर्थात् जिस समय व जिस स्थान पर भिक्षा के लिए जाना हो उसका भलीभांति ज्ञान रखने वाला। आत्मा को 'क्षेत्र' कहते हैं अतः आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला।

५. खणयण्णे (क्षणज्ञ) - क्षण अर्थात् समय को जानने वाला।

शंका - काल और क्षण में क्या अंतर है?

समाधान - दीर्घ अवधि के समय को 'काल' कहते हैं जैसे दिन-रात, पक्ष आदि। छोटी अवधि का समय अथवा वर्तमान समय 'क्षण' कहलाता है।

६. विणयण्णे (विनयज्ञ) - बड़ों एवं छोटों के साथ किया जाने वाला व्यवहार 'विनय' कहलाता है, ऐसे व्यवहार का जो ज्ञाता हो वह 'विनयज्ञ' है अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य को विनय कहा गया है अतः रत्नत्रयी के सम्यक् स्वरूप को जानने वाला 'विनयज्ञ' है। विनय का एक अर्थ आचार भी होता है अतः आचार का सम्यक् ज्ञाता भी विनयज्ञ कहलाता है।

७. ससमयण्णे (ससमयज्ञ) - स्व-समय - स्व सिद्धान्त को जानने वाला।

८. परसमयण्णे (परसमयज्ञ) - परसमय - पर सिद्धान्त को जानने वाला।

९. भावण्णे (भावज्ञ) - व्यक्ति के भावों - चित्त के अव्यक्त आशय को उसके हाव-भाव-चेष्टा एवं विचारों से ध्वनित होते गुप्त भावों को समझने में कुशल व्यक्ति भावज्ञ कहलाता है।

१० परिग्रहं अममायमाणे - साधु संपूर्ण परिग्रह के त्यागी होते हैं। यहाँ शरीर और

उपकरण पर मूर्च्छा-ममत्व को 'परिग्रह' कहा है। अतः साधु शरीर और संयम के उपकरणों पर भी ममत्व भाव नहीं रखने वाला होवे।

११. कालाणुड्डाई (कालानुष्ठी) - योग्य समय पर योग्य पुरुषार्थ करने वाला।

१२. अपडिण्णे (अप्रतिज्ञ) - राग और द्वेष के कारण जो प्रतिज्ञा की जाती है वह पाप को उत्पन्न करने वाली है अतः साधु को किसी प्रकार का नियाणा (निदान) और ऐसी प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिये, जिससे स्व-पर की हानि हो।

(१२७)

वत्थं-पडिग्गहं-कंबलं-पायपुंछणं-उग्गहं च कडासणं, एएसु चेव जाणेज्जा।

कठिन शब्दार्थ - पडिग्गहं - प्रतिग्रह-पात्र, पायपुंछणं - पादप्रोच्छन-रजोहरण, उग्गहं-अवग्रह, कडासणं - कटासन-संस्तारक, जाणेज्जा - जाने।

भावार्थ - साधु वस्त्र, पात्र, कंबल, पादप्रोच्छन, अवग्रह (स्थान) और कटासन (संस्तारक) को जाने अर्थात् इनमें उपयोग रखे, सदोष का त्याग कर निर्दोष एवं शुद्ध होने पर ही ग्रहण करें।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि साधक वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण आसन आदि ग्रहण करते समय सम्यक् परीक्षण करे। यदि ये साधन सदोष प्रतीत हों, आधाकर्मादि दोषों से दूषित हों तो उनका परित्याग करके निर्दोष साधनों-उपकरणों की गवेषणा करे।

उग्गहं (अवग्रह) शब्द के दो अर्थ हैं - १. स्थान और २. आज्ञा लेकर ग्रहण करना। आज्ञा लेकर ग्रहण करने के अर्थ में भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशक २ में पांच प्रकार के अवग्रह कहे गये हैं-१. देवेन्द्र अवग्रह २. राज अवग्रह ३. गृहपति अवग्रह ४. शय्यातर अवग्रह और ५. साधर्मिक अवग्रह।

आहारादि की मात्रा

(१२८)

लद्धे आहारे, अणगारो मायं जाणेज्जा से जहेयं भगवया पवेइयं।

भावार्थ - आहार के प्राप्त होने पर साधु को उसकी मात्रा का ज्ञान होना चाहिए जैसा कि भगवान् ने फरमाया है।



विवेचन - आहार आदि पदार्थ ग्रहण करते समय केवल सदोषता-निर्दोषता का ज्ञान करना ही पर्याप्त नहीं है अपितु उसके परिमाण का भी ज्ञान आवश्यक है। सामान्यतया भोजन की मात्रा साधु के लिए बत्तीस कवल प्रमाण और साध्वी के लिए अट्ठाईस कवल प्रमाण आग्रामों में भगवान् ने बताई है। साधु साध्वी को इससे कुछ कम मात्रा में ही आहार करना चाहिये ताकि प्रमाद नहीं हो और रत्नत्रयी की सम्यक् साधना हो सके।

‘मात्रा’ शब्द को आहार के अतिरिक्त वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों के साथ भी जोड़ना चाहिये अर्थात् प्रत्येक ग्राह्य वस्तु की आवश्यकता को समझे और जितना आवश्यक हो उतना ही ग्रहण करे।

ममत्व-परिहार

(१२६)

लाभुत्ति ण मज्जिजा, अलाभुत्ति ण सोइज्जा, बहुंपि लद्धं ण णिहे,
परिग्गहाओ अप्पाणं अवसंकिज्जा, अण्णहा णं पासए परिहरिज्जा।

कठिन शब्दार्थ - लाभुत्ति - लाभ होने पर, मज्जिजा - मद (अहंकार) करे, अलाभुत्ति-लाभ नहीं होने पर, सोइज्जा - शोक करे, णिहे - संग्रह (संचय) करे, अवसंकिज्जा - दूर रखे, परिहरिज्जा - वर्जन (त्याग) करे।

भावार्थ - आहार आदि इच्छित मात्रा में प्राप्त हो जाने पर साधु गर्व न करे और लाभ न होने पर शोक न करे। यदि अधिक मात्रा में प्राप्त हो तो उसका संग्रह न करे। परिग्रह से अपने को दूर रखे। परिग्रह को अन्य प्रकार से देखे (जिस प्रकार गृहस्थ परिग्रह को ममत्व भाव से देखते हैं उस प्रकार से न देखे) और परिग्रह का त्याग करे।

विवेचन - ‘लाभुत्ति ण मज्जिजा.....’ सूत्र से सूत्रकार ने साधक को अभिमान, शोक और परिग्रह इन तीन मानसिक दोषों से बचने का निर्देश दिया है।

किसी समय साधु को पर्याप्त आहार आदि मिल जाय तो गर्व नहीं करे कि ‘मैं बड़ा ही भाग्यवान् हूँ’ तथा आहारादि न मिले तो यह शोक नहीं करे कि ‘मैं कैसा अभागा हूँ जो समस्त वस्तुओं को देने वाले दाता के विद्यमान होते हुए भी मैं कुछ प्राप्त नहीं कर सकता।’ किन्तु साधु लाभालाभ में समभाव रखे। यदि कभी साधु को आहार आदि अधिक मात्रा में मिल जाय तो उनका संचय-संग्रह (परिग्रह) नहीं करे।



साधु पाप के मूल कारण परिग्रह का सर्वथा त्याग करे और संयम के साधन भूत धर्मोपकरणों में मूर्च्छा ममत्व न रखे। साधु धर्मोपकरणों को अन्यथा बुद्धि से देखे अर्थात् उनको संयम पालन का साधन समझे किन्तु उनमें ममत्व बुद्धि न रखे।

(१३०)

एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, जहित्थ कुसले णोवलिंप्पिज्जासित्ति वेमि।

कठिन शब्दार्थ - आरिएहिं - आर्य पुरुषों द्वारा, णोवलिंप्पिज्जासि - उपलिप्त न हो।

भावार्थ - यह मार्ग आर्य - तीर्थकरों ने प्रतिपादित किया है जिससे कुशल पुरुष परिग्रह में लिप्त न हो। - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - तीर्थकरों द्वारा प्रतिपादित इस अनासक्ति के मार्ग पर चलने वाला कुशल पुरुष परिग्रह में लिप्त नहीं होता। यही निर्लेप जीवन जीने की कला है।

काम-विरति

(१३१)

काया दुरइक्कमा, जीवियं दुप्पडिबूहंगं, कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ, जूरइ, तिप्पइ, पिड्डइ, परितप्पइ।

कठिन शब्दार्थ - दुरइक्कमा - दुरतिक्रम - छोड़ना (जीतना) कठिन है, दुप्पडिबूहंगं - दुष्प्रतिबृंहणीयं - बढ़ाया नहीं जा सकता, सोयइ - शोक करता है, जूरइ - खेद करता है, तिप्पइ - रुदन करता है, पिड्डइ - दुःखी होता है, परितप्पइ - पश्चात्ताप करता है।

भावार्थ - काम को जीतना अत्यंत दुष्कर है। जीवन बढ़ाया नहीं जा सकता। कामभोगों की लालसा रखने वाला पुरुष निश्चय ही शोक करता है, खेद करता है, मर्यादा से भ्रष्ट होता है, दुःखी होता है और पश्चात्ताप करता है।

विवेचन - अनादिकाल से अभ्यस्त होने के कारण कामभोगों का जीतना बड़ा कठिन है। कामभोगों की लालसा रखने वाले पुरुष को जब इष्ट पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती है अथवा उसका वियोग हो जाता है तब वह अत्यंत शोक करता है, हृदय में बड़ा खेद अनुभव करता है, शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित रहता है। कामासक्त पुरुष जब तक युवा रहता है तब

तक वह यौवन और धन के मद से अन्ध होकर दुराचार का सेवन करता है परंतु जब वृद्धावस्था आती है तब वह मृत्युकाल को निकट देख कर अत्यंत पश्चात्ताप करता है। अतः विवेकी पुरुष को पहले से ही सोच विचार कर ऐसा कार्य करना चाहिये जिससे भविष्य में किसी तरह का पश्चात्ताप न करना पड़े।

लोक-दर्शन

(१३२)

आययचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहोभागं जाणइ, उहं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ।

कठिन शब्दार्थ - आययचक्खू - आयतचक्षुः-दीर्घदर्शी, लोगविपस्सी - लोकदर्शी-लोक को देखने वाला।

भावार्थ - दीर्घदर्शी तथा लोक के स्वरूप को जानने वाला पुरुष लोक के अधोभाग को जानता है, ऊर्ध्वभाग को जानता है और तिरछे भाग को जानता है।

सद्धा वीर कौन?

(१३३)

गढिए लोए अणुपरियट्टमाणे, संधिं विइत्ता इह मच्चिएहिं, एस वीरे पसंसिए जे बद्धे पडिमोयए।

कठिन शब्दार्थ - गढिए - गृद्ध-आसक्त, अणुपरियट्टमाणे - अनुपरिवर्तन - परिभ्रमण करता है, संधिं - संधि (अवसर) को, मच्चिएहिं - मनुष्य लोक में, पसंसिए - प्रशंसनीय, बद्धे - बद्ध को, पडिमोयए - मुक्त करता है।

भावार्थ - दीर्घदर्शी पुरुष यह जानता है कि कामभोगों में गृद्ध-आसक्त पुरुष संसार में परिभ्रमण करता है। इस मनुष्य जन्म में ही संधि - अवसर को जानकर अथवा मनुष्य जन्म में ही ज्ञानादि की प्राप्ति होती है ऐसा जानकर विषय-कषायों से विरक्त हो। वह वीर प्रशंसा के योग्य है जो बद्ध (कर्मों से बंधे हुए या कामभोगों में फंसे हुए) को मुक्त करता है।



विवेचन - यह मनुष्य जन्म ज्ञानादि की प्राप्ति का, आत्म विकास करने का तथा अनंत आत्म-वैभव प्राप्त करने का स्वर्णिम अवसर है, ऐसा जानकर जो विवेकी मनुष्य विषय वासना का त्याग कर देता है वही पुरुष इस जगत् में वास्तविक वीर है तथा जो पुरुष द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के बंधनों से स्वयं मुक्त है वही दूसरों को बंधन से मुक्त होने का उपदेश करता है, वही पुरुष वीर है।

देह की अशुचिता

(१३४)

जहा अंतो तहा बाहिं जहा बाहिं तहा अंतो।

कठिन शब्दार्थ -- अंतो - अंदर, बाहिं - बाहर, जहा - जैसे, तहा - वैसे।

भावार्थ - यह शरीर जैसा अंदर से है वैसा बाहर है और जैसा बाहर है वैसा अंदर है।

(१३५)

अंतो-अंतो पूइदेहंतराणि पासइ पुढोवि सवताइं पंडिए पडिलेहाए।

कठिन शब्दार्थ - पूइदेहंतराणि - शरीर के भीतर देह की अवस्था को, सवताइं - सवते हुए - झरते हुए, पडिलेहाए - प्रत्यवेक्षण करें - देखें।

भावार्थ - साधक, इस शरीर के अंदर-अंदर अशुद्धि भरी हुई है, इसे देखें। शरीर से झरते हुए अनेक अशुचि - स्रोतों को देखें। इस प्रकार पंडित पुरुष शरीर की अशुचिता को अच्छी तरह देखें।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में शरीर की अशुचिता का वर्णन किया गया है। यह शरीर जैसा अंदर में अशुचि (मल, मूत्र, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा, शुक्र, वीर्य आदि) से भरा हुआ है वैसा ही अशुचिमय बाहर भी है। शरीर के इन्द्रिय रूपी नौ दरवाजे हैं। इन दरवाजों से प्रतिक्रमण अशुचि झरती रहती है। ऐसे अपवित्र पदार्थों से पूर्ण और नश्वर इस शरीर के तत्त्वों को जान कर पंडित पुरुष शरीर के प्रति रही हुई आसक्ति एवं ममत्व भाव का त्याग करे।

जहा अंतो तहा बाहिं का एक अर्थ यह भी होता है कि साधक जैसे अंदर के बंधनों को तोड़ता है वैसे ही बाहर के बंधनों को भी तोड़ता है और जैसे वह बंधु बांधवादि

बाहर के बंधनों को तोड़ता है वैसे विषय कषायादि आंतरिक बंधनों को भी तोड़ता है। अर्थात् साधक के जीवन में बाहर भीतर की एकरूपता होना अनिवार्य है।

(१३६)

से मडमं परिणाय माय हु लालं पच्चासी, मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमा-
वायए।

कठिन शब्दार्थ - मडमं - मतिमान्, परिणाय - जान कर, लालं - लार को, पच्चासी - प्रत्याशी-सेवन करे, तिरिच्छं - प्रतिकूल, अप्पाणं - अपनी आत्मा को, तेसु - उन में, मा - मत, आवायए - फंसाए, स्थापन करे, अनुकूल करे।

भावार्थ - वह बुद्धिमान् पुरुष उक्त विषयों को जान कर तथा त्याग कर मुख के लार को न चाटे यानी वमन किये हुए भोगों का पुनः सेवन न करे। अपनी आत्मा को प्रतिकूल मार्ग में न फंसाए अर्थात् सम्यग् ज्ञानादि मार्ग से आत्मा को प्रतिकूल न करे और अज्ञान, अविरति, मिथ्यादर्शन आदि के तिर्यक् मार्ग के अनुकूल आत्मा को न करे।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि बुद्धिमान् पुरुष विषयभोगों के कटु परिणाम को जान कर उनका त्याग कर देवे और उन त्यागे हुए विषयों को पुनः भोगने की इच्छा न करे। छोड़े हुए विषयों का पुनः सेवन करना थूके हुए को, वमन किए हुए को चाटना है।

जैसे बालक अविवेकी होने के कारण अपने मुंह से निकल कर बाहर लटकते हुए लार को खा जाता है उसी तरह अविवेकी पुरुष विषय भोग को त्याग कर के भी फिर उसे भोगने की इच्छा करता है।

रत्नत्रयी (ज्ञान, दर्शन, चारित्र) का मार्ग सरल व सीधा है। इसके विपरीत मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय आदि का मार्ग तिरिच्छा-तिर्यक्-टेढा है। अतः आगमकार ने 'मा तेसु तिरिच्छं' से सरल मार्ग का त्याग कर तिर्यक् मार्ग में न जाने की प्रेरणा की है।

(१३७)

कासंकसे खलु अयं पुरिसे, बहुमाई, कडेण मूढे, पुणो तं करेइ लोहं घेरं
वहेइ अप्पणो।



कठिन शब्दार्थ - कासंकसे - यह कार्य मैंने किया और यह कार्य करूंगा, बहुमाई - बहुमायी - बहुत माया करता है, वेरं - वैर, वहेइ - बढ़ाता है।

भावार्थ - कामभोगों में आसक्त पुरुष यह सोचता है कि - मैंने यह कार्य कर लिया और यह कार्य करूंगा, इस आकुलता के कारण वह बहुत माया करता है और किंकर्तव्यमूढ़ होकर दुःख भोगता है। वह बार-बार विषयभोग का लोभ करता है और जीवों के साथ अपनी आत्मा का वैर भाव बढ़ाता है।

(१३८)

जमिणं परिकहिज्जइ इमस्स चेव पडिबूहणयाए अमरायइ महासट्ठी अट्टमेयं तु पेहाए।

कठिन शब्दार्थ - परिकहिज्जइ - कहा जाता है, पडिबूहणयाए - वृद्धि के लिए, अमरायइ - देव के समान मानता है, महासट्ठी - महान् श्रद्धा रखने वाला, अट्टं - आर्त्त-दुःख को।

भावार्थ - जिससे यह कहा जाता है कि इस शरीर की वृद्धि के लिए अज्ञानी जीव पूर्वोक्त क्रियाएं करता है। वह कामभोगों में महान् श्रद्धा (आसक्ति) रखता हुए अपने को अमर की भांति समझता है। देव के समान आचरण करता है। तू देख! विषयासक्त पुरुष आर्त्त यानी दुःख को प्राप्त होता है।

(१३९)

अपरिण्णाए कंदइ से तं जाणह जमहं बेमि।

कठिन शब्दार्थ - कंदइ - क्रन्दन करता है - रोता है, बेमि - कहता हूं।

भावार्थ - कामभोगों के परिणाम का नहीं जानने से अर्थात् सम्यक् बोध को प्राप्त कर उनका त्याग नहीं करने से कामी पुरुष तज्जन्य दुःखों को प्राप्त कर क्रन्दन करता है (रोता है) अतः तुम उसे जानो, जो मैं कहता हूं।

विवेचन - भोगासक्ति का अंतिम परिणाम क्रन्दन - रोना ही है - यह जान कर विवेकी पुरुषों को कामभोगों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।



हिंसाजन्य काम-चिकित्सा

(१४०)

ते इच्छं पंडिए पवयमाणे, से हंता, छित्ता, भित्ता, लुंपइत्ता, विलुंपइत्ता, उद्वइत्ता, अकडं करिस्सामित्ति मण्णमाणे, जस्सवि य णं करेइ, अलं बालस्स संगेणं, जे वा से कारइ बाले, ण एवं अणगारस्स जायइ त्ति वेमि।

॥ बीअं अज्झयणं पंचमोद्देशो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - तेइच्छं - कामचिकित्सा को, अलं संगेणं - संग नहीं करना चाहिये, अणगारस्स - अनगार (साधु) को, जायइ - कल्पता है।

भावार्थ - काम की चिकित्सा का उपदेश देने वाला पण्डिताभिमानी अनेक प्राणियों का हनन, भेदन, लुम्पन, विलुम्पन और प्राण वध करता है। 'जो पहले किसी ने नहीं किया, ऐसा मैं करूंगा' यह मानता हुआ अज्ञानी प्राणीघातादि क्रियाएं करता है और जिसको वह ऐसा उपदेश देता है उसका भी अहित है। अतः ऐसे हिंसा प्रधान चिकित्सा करने वाले अज्ञानियों की संगति नहीं करनी चाहिये। जो ऐसी चिकित्सा करवाता है वह भी बाल - अज्ञानी है। इस प्रकार हिंसा के द्वारा चिकित्सा करने का उपदेश देना या चिकित्सा कराना साधु को नहीं कल्पता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में हिंसा-जन्य काम चिकित्सा का निषेध है। काम वासना की तृप्ति के लिए मनुष्य अनेक प्रकार की औषधियों का (वाजीकरण उपवृंहण आदि के लिए) सेवन करता है, मरफिया आदि के इंजेक्शन लेता है और शरीर के अवयव जीर्ण व क्षीण सत्व होने पर औषधियों का प्रयोग कर काम सेवन की शक्ति को बढ़ाना चाहता है। उनके निमित्त वैद्य चिकित्सक अनेक प्रकार की जीव हिंसा करते हैं। चिकित्सक और चिकित्सा कराने वाला दोनों ही इस हिंसा के भागीदार होते हैं। यहां पर साधक के लिए इस प्रकार की चिकित्सा का सर्वथा निषेध किया गया है। जो प्राणीघातादि रूप पापकारी चिकित्सा न तो स्वयं करता है और न ऐसी चिकित्सा का उपदेश देता है। वही संसार के स्वरूप को जानने वाला सच्चा साधु है।

॥ इति दूसरे अध्ययन का पांचवां उद्देशक समाप्त ॥

बीअं अज्झायणं छटोद्देशो द्वितीय अध्ययन का छठा उद्देशक

पांचवें उद्देशक में बताया गया है कि साधक निर्दोष आहारादि लेकर संयम का निर्वाह करे। छठे उद्देशक में बताया गया है कि मुनि को गृहस्थ के साथ ममत्व नहीं करना चाहिये। आसक्ति से होने वाले दुःखों को समझ कर साधक किसी प्रकार का पाप कार्य न करे। पांचों महाव्रतों का एक दूसरे के साथ संबंध रहा हुआ है। एक में दोष लगने पर दूसरा दूषित हुए बिना नहीं रहता। इस बात को भी इस उद्देशक में स्पष्ट किया गया है। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

(१४१)

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुद्धाए तम्हा पावकम्मं णेव कुज्जा, ण कारवेज्जा।

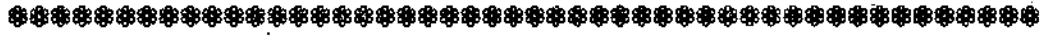
भावार्थ - वह साधक हिंसक चिकित्सा के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जान कर आदानीय यानी ग्रहण करने योग्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र में समुद्यत हो जाता है अतः वह स्वयं पाप न करे और दूसरों से भी न करवाए।

विवेचन - पांचवें उद्देशक के अंतिम सूत्र में बताया है कि काम एवं हिंसक चिकित्सा अनेक दोषों से युक्त है। अतः साधु को उसके दुष्परिणाम को जान कर रत्नप्रयी में प्रवृत्ति करते हुए समस्त पाप कार्यों से बच कर रहना चाहिये अर्थात् सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मोक्ष मार्ग में रमण करने वाला अनगार स्वयं सावद्य कार्य न करे, दूसरों से भी न करवावे और करते हुए को भला भी न जाने।

एक काय के आरंभ से, छहों कार्यों का आरंभ

(१४२)

सिया तत्थ एणयरं विप्परामुसइ, छसु अण्णयरंसि, कप्पइ।



भावार्थ - कदाचित् वह एक जीवकाय का आरम्भ करता है तो वह छहों जीवकायों का आरम्भ करता है।

विवेचन - कदाचित् कोई साधक प्रमत्त हो जाय और किसी एक जीविकाय की हिंसा करें तो क्या वह अन्य जीव कायों की हिंसा से बच सकेगा? इसका प्रस्तुत सूत्र में समाधान दिया गया है कि एक जीवकाय की हिंसा करने वाला छहों काय की हिंसा कर सकता है। जैसे- यदि कोई अप्काय (जल) की हिंसा करता है तो जल में वनस्पति का नियमतः सद्भाव है। अतः अप्काय की हिंसा करने वाला वनस्पतिकाय की हिंसा भी करता ही है। जल के हलन-चलन-प्रकम्पन से वायुकाय की भी हिंसा होती है, जल और वायुकाय के समारंभ से वहाँ रही हुई अग्नि भी प्रज्वलित हो सकती है तथा जल के आश्रित अनेक प्रकार के सूक्ष्म त्रस जीव भी रहते हैं। जल में मिट्टी (पृथ्वी) का अंश भी रहता है अतः एक अप्काय की हिंसा से छहों काय की हिंसा होती है।

'छसु' शब्द से पांच महाव्रत और छठा रात्रि भोजन विरमणव्रत भी सूचित होता है। जब एक अहिंसा महाव्रत खण्डित हो गया तो सत्य भी खण्डित हो गया, क्योंकि साधक ने हिंसा, त्याग की प्रतिज्ञा की थी। प्रतिज्ञा भंग असत्य का सेवन है। जिन प्राणियों की हिंसा की जाती है उनके प्राणों का हरण करना, चोरी है। हिंसा से कर्म-परिग्रह भी बढ़ता है तथा हिंसा के साथ सुखाभिलाष-कामभावना उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार टूटी हुई माला के मनकों की तरह एक महाव्रत टूटने पर सभी छहों व्रत टूट जाते हैं - भग्न हो जाते हैं।

एक पाप (आस्रव) के सेवन से भी सभी पाप (आस्रवों) का सेवन हो जाता है। कहा भी है - 'छिद्रेस्वनर्था बहुली भवन्ति' - एक छिद्र होते ही अनेक छिद्र (अवगुण) हो जायेंगे। अतः प्रस्तुत सूत्र में कहा है कि एक काय के आरम्भ से सभी काय का आरम्भ और एक आस्रव के सेवन से समस्त आस्रवों का सेवन होता है।

(१४३)

सुहृद्दी लालप्यमाणे सएण दुक्खेण मूढे विप्परियांसमुवेइ। सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुब्बइ, जं सि मे पाणा पव्वहिया, पडिलेहाए णो णिकरणयाए एस परिण्णा पवुच्चइ कम्मोवसंती।

कठिन शब्दार्थ - सुहृद्दी - सुखार्थी, लालप्यमाणे - प्रलाप करता हुआ - मन, वचन,

काया से सावद्य क्रियाएं करता हुआ, सएण - स्वकीय - अपने किये हुए, विप्यमाण - अति प्रमाद के कारण, पव्वहीया - प्रव्यथिता:-दुःखों से संतृप्त एवं पीड़ित, णो णिकरणयाए- उन कर्मों को न करे, कम्मोवसंती - कर्म उपशांत होते हैं।

भावार्थ - वह सुखाभिलाषी मन, वचन, काया से सावद्य क्रियाएं करता हुआ स्वकृत कर्मों के कारण व्यथित होकर मूढ बन जाता है और सुख के बदले दुःख को प्राप्त करता है। वह मूढ अपने अति प्रमाद के कारण ही पृथक्-पृथक् योनियों में परिभ्रमण करता हुआ संसार को बढ़ाता है। जिस संसार में ये प्राणी विभिन्न दुःखों से संतृप्त और पीड़ित होते हैं। यह जान कर जिनसे दुःखों की वृद्धि होती है, वे कर्म न करें। यह परिज्ञा (विवेक) कहा जाता है जिससे कर्मों की शांति - क्षय होता है।

ममत्व-बुद्धि त्याग

(१४४)

जे ममाइयमइं जहाइ से चयइ ममाइयं से हु दिट्ठपहे मुणी जस्स, णत्थि ममाइयं।

कठिन शब्दार्थ - ममाइयमइं - ममत्व बुद्धि को, जहाइ - त्याग देता है, ममाइयं - ममत्व - परिग्रह को, दिट्ठपहे - मोक्ष पथ को देखने वाला।

भावार्थ - जो ममत्व बुद्धि का त्याग करता है वह ममत्व (परिग्रह) का त्याग करता है। जिसने ममत्व का त्याग कर दिया है वही मोक्ष मार्ग को देखने वाला मुनि है।

(१४५)

तं परिण्णाय मेहावी विइत्ता लोगं वंता लोगसण्णं से मइमं परिकक-मिज्जासित्ति बेमि।

कठिन शब्दार्थ - वंता - छोड़कर, लोगसण्णं - लोक संज्ञा को, परिककमिज्जासि - पराक्रम (पुरुषार्थ) करे।

भावार्थ - यह जानकर मेधावी लोक स्वरूप को जाने। लोक संज्ञा का त्याग करे तथा संयम में पराक्रम करे। वास्तव में वही मतिमान् पुरुष कहा गया है - ऐसा मैं कहता हूँ।



विवेचन - ममत्व - बुद्धि-मूर्च्छा एवं आसक्ति, कर्म बंधन का मुख्य कारण है अतः प्रस्तुत सूत्र में ममत्व बुद्धि एवं लोक संज्ञा के त्याग का निर्देश किया गया है।

जिसने आभ्यंतर और बाह्य दोनों प्रकार के परिग्रह का और ममत्व बुद्धि का त्याग कर दिया है, वही सम्यग्ज्ञानादि रूप मोक्षमार्ग को देखने वाला है। वही मेधावी और मतिमान् है।

रति-अरति त्याग

(१४६)

णारइं सहइ वीरे, वीरे णो सहइ रइं।

जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे ण रज्जइ।

कठिन शब्दार्थ - ण - नहीं, अरइं - अरति - संयम के प्रति अरुचि को, सहइ - सहन करता है, अविमणे - अविमनस्क, रइं - रति - भोग रुचि को, रज्जइ - आसक्त होता है।

भावार्थ - वीर पुरुष अरति - संयम के प्रति अरुचि - को सहन नहीं करता और रति - भोगों के प्रति रुचि - को भी सहन नहीं करता है। इसलिए वह वीर साधक इन दोनों का ही त्याग कर देता है तथा अविमनस्क (शांत एवं मध्यस्थ) होकर शब्दादि विषयों में आसक्त नहीं होता है।

विवेचन - जो साधक असंयम में रति और संयम में अरति नहीं करता, वह पुरुष वीर है क्योंकि वही आठ प्रकार के कर्मों को क्षय करने में समर्थ होता है। 'वीर' शब्द की व्युत्पत्ति भी इस प्रकार है -

'विशेषणीरयति - प्रेरयति अष्ट प्रकारं कम्मरिषट्ठवर्णं वेति वीरः'

अर्थात् - जो आठ प्रकार के कर्मों को आत्मा से सर्वथा पृथक् करता है अथवा काम-क्रोध आदि छह आंतरिक शत्रुओं को परास्त करता है, वह वीर पुरुष है।

(१४७)

सहे फासे अहियासमाणे, णिव्विंद णंदिं इह जीवियस्स।

कठिन शब्दार्थ - सहे - शब्द को, फासे - स्पर्श को, अहियासमाणे - सहन करते हुए, णिव्विंद - निवृत्त हो, णंदिं - आमोद-संतुष्टि को।



भावार्थ - मुनि रति अरति उत्पन्न करने वाले शब्दों और स्पर्शों को सहन करते हुए असंयम जीवन में होने वाले आमोद - संतुष्टि आदि से निवृत्त - विरत होता है।

(१४८)

मुणी मोणं समायाय, धुणे कम्मसरीरगं, पंतं लूहं सेवंति, वीरा समत्त-
दंसिणो।

कठिन शब्दार्थ - मोणं - मौन - संयम को, ज्ञान को, समायाय - ग्रहण करके, धुणे - धुन डालता है, कम्मसरीरगं - कर्म शरीर को, पंतं - प्रान्त - नीरस आहार को, लूहं - रूक्ष आहार को, समत्तदंसिणो - समत्वदर्शी।

भावार्थ - मुनि मौन (संयम अथवा ज्ञान) को ग्रहण कर कर्म शरीर को धुन डाले। समत्वदर्शी वीर पुरुष नीरस और रूक्ष आहार का समभाव से सेवन करते हैं।

(१४९)

एस ओहंतरे मुणी, तिण्णे मुत्ते, विरए वियाहिएत्ति बेमि।

कठिन शब्दार्थ - ओहंतरे - संसार सागर को तिरने वाला, तिण्णे - तीर्ण, मुत्ते - मुक्त, विरए - विरत, वियाहिए - कहा गया है।

भावार्थ - ऐसा मुनि संसार सागर को तिर चुका है, वह मुक्त, विरत कहा गया है, ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में आगमकार ने उपदेश देते हुए कहा है कि मुमुक्षु पुरुष को मनोज्ञ शब्दादि में राग और अमनोज्ञ शब्दादि में द्वेष नहीं करना चाहिए किन्तु मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों प्रकार के विषयों में समभाव रखना चाहिये। यहाँ 'सद्वे' - शब्द के अंतर्गत रूप, रस और गंध विषय भी समझना चाहिए।

'धुणे कम्मसरीरगं' से तात्पर्य है, इस औदारिक शरीर को धुनने से - क्षीण करने से तब तक कोई लाभ नहीं, जब तक राग-द्वेष जनित कर्म (कर्मण) शरीर को क्षीण नहीं किया जाये। साधना का लक्ष्य आठ प्रकार के कर्मों को क्षीण करना ही है। यह औदारिक शरीर तो साधना का साधन मात्र है। हाँ, संयम के साधनभूत शरीर के नाम पर वह इसके प्रति ममत्व भी न लाये, सरस-मधुर आहार से इसकी वृद्धि भी न करे। इस बात का स्पष्ट निर्देश करते हुए



सूत्रकार ने कहा है - 'पंतं लूहं सेवंति' वह साधक शरीर से धर्म साधना करने के लिए रूखा-सूखा, निर्दोष विधि से यथा प्राप्त भोजन का सेवन करे।

'समत्तदंसिणो' के स्थान पर 'सम्मत्तदंसिणो' पाठ भी मिलता है टीकाकार शीलांकाचार्य ने इसका पहला अर्थ 'समत्वदर्शी' तथा वैकल्पिक दूसरा अर्थ 'सम्यक्त्वदर्शी' किया है। यहाँ नीरस भोजन के प्रति 'समभाव' का प्रसंग होने से समत्वदर्शी अर्थ अधिक संगत लगता है।

आज्ञा का अनाराधक

(१५०)

दुव्वसु मुणी अणाणाए, तुच्छए गिलाइ वत्तए।

कठिन शब्दार्थ - दुव्वसु - दुर्वसु - मोक्ष गमन के अयोग्य, अणाणाए - अनाज्ञया:- आज्ञा के बिना, तुच्छए - तुच्छ - ज्ञानादि से हीन, गिलाइ - ग्लानि का अनुभव करता है, वत्तए - उत्तर देने, धर्म का कथन करने में असमर्थ।

भावार्थ - जो पुरुष वीतराग की आज्ञा का पालन नहीं करता वह दुर्वसु - मोक्ष गमन के अयोग्य, ज्ञानादि रत्नत्रयी से रहित है। वह ज्ञानादि से हीन होने के कारण प्रश्न का उत्तर देने में अथवा धर्म का निरूपण करने में ग्लानि का अनुभव करता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में आज्ञा की आराधना नहीं करने वाले मुनि के त्रिषय में बताया है। जो साधक वीतराग की आज्ञा की आराधना नहीं करता वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप धन से दरिद्र हो जाता है क्योंकि 'आणाए मामगं धम्मं' भगवान् की आज्ञा में ही धर्म कहा गया है। जहाँ आज्ञा पालन है, वहीं धर्म है। आज्ञा विपरीत आचरण का अर्थ है - संयम विरुद्ध आचरण। संयम से हीन पुरुष धर्म की प्ररूपणा करने में ग्लानि (लज्जा) का अनुभव करने लगता है। क्योंकि जब वह स्वयं धर्माचरण नहीं करेगा तो धर्मोपदेश का साहस कैसे कर सकेगा? अथवा ज्ञानादि से हीन होने के कारण जब कोई श्रावक आदि उससे कुछ प्रश्न पूछता है तब वह अपनी अज्ञानता के कारण उसका उत्तर देने में समर्थ नहीं होता है। इस कारण से भी इसके मन में ग्लानि उत्पन्न होती है। इसीलिए कहा है कि अनाराधक - भगवान् की आज्ञा की अवहेलना करने वाला, अपनी इच्छानुसार आचरण करने वाला पुरुष मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है।



आज्ञा का आराधक

(१५१)

एस वीरे पसंसिए, अच्चेइ लोयसंजोयं।

कठिन शब्दार्थ - पसंसिए - प्रशंसित, अच्चेइ - छोड़ देता है, मुक्त हो जाता है, लोयसंजोयं - लोक-संयोग को।

भावार्थ - भगवान् की आज्ञानुसार चलने वाला वीर पुरुष प्रशंसनीय होता है। वह लोक के संयोग से दूर हट जाता है (बंधनों से मुक्त हो जाता है)।

विवेचन - वीतराग आज्ञा की आराधना करने वाला मुनि सर्वत्र प्रशंसा प्राप्त करता है और वह वीर होता है, कर्मों की विदारणा करने में समर्थ होता है।

भगवान् की आज्ञा की आराधना करने वाला मुनि लोक - संसार के संयोगों से मुक्त हो जाता है। संयोग दो प्रकार के हैं - १. बाह्य संयोग - धन, भवन, पुत्र, परिवार आदि २. आभ्यन्तर संयोग - राग, द्वेष, कषाय, आठ कर्म आदि। इन दोनों संयोगों से आज्ञा का आराधक मुनि मुक्ति हो जाता है।

कर्म, दुःख का कारण

(१५२)

एस णाए पवुच्चइ, जं दुक्खं पवेइयं इह माणवाणं, तस्स दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति।

कठिन शब्दार्थ - एस - यही, णाए - न्याय मार्ग - सन्मार्ग, परिण्णं - जान कर उसको त्याग करने का, उदाहरंति - उपदेश देते हैं।

भावार्थ - यही न्याय मार्ग (तीर्थकरों का मार्ग) कहा गया है। इस संसार में मनुष्यों के जो दुःख (या दुःख के कारण) बताये हैं। कुशल पुरुष उस दुःख को जान कर उसको त्याग करने का उपदेश देते हैं अर्थात् दुःख से मुक्त होने का मार्ग बताते हैं।

(१५३)

इइ कम्मं परिण्णाय सव्वसो।



भावार्थ - इस प्रकार कर्म को जान कर सर्व प्रकार से (सर्वथा) त्याग करे।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में दुःख शब्द से दुःख के कारणों का भी ग्रहण किया है। दुःख का मुख्य कारण राग द्वेष या राग द्वेष से बंधने वाले कर्म हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के ३२ वें अध्ययन में भी प्रभु ने दुःख का कारण कर्म बताते हुए फरमाया है -

कम्भं च जाई मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाई मरणं वयंति।

अर्थात् - जन्म और मरण दुःख है और जन्म मरण का मूल है कर्म। अतः कर्म ही वास्तव में दुःख है। कुशल पुरुष उस दुःख से मुक्त होने का विवेक फरमाते हैं।

दुःख, कर्मकृत है अतः कर्मों के स्वरूप को तथा आस्रव द्वारों को समझ कर तीन करण तीन योग से उनका त्याग कर देना चाहिए।

अनन्यदर्शी और अनन्याराम

(१५४)

जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे, जे अणण्णारामे से अणण्णदंसी।

कठिन शब्दार्थ - अणण्णदंसी - अनन्यदर्शी - यथार्थ वस्तु तत्त्व को देखने वाला, अणण्णारामे - अनन्याराम - मोक्ष मार्ग से अन्यत्र रमण नहीं करने वाला।

भावार्थ - जो अनन्यदर्शी (आत्मा को देखने वाला) है वह अनन्याराम (आत्मा में रमण करने वाला) है और जो अनन्याराम है वह अनन्यदर्शी है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अणण्णदंसी' और 'अणण्णारामे' की व्याख्या इस प्रकार की गई है -

'अन्यद्द्रष्टुंशीलमस्येत्यन्यदर्शी यस्तथा नावावनन्यदर्शी - यथावस्थित-पदार्थ द्रष्टा, कश्चैवं भूतो? यः सम्यग्दृष्टि मौनीन्द्र प्रवचना विभूततत्त्वार्था, यश्चानन्यदृष्टिः सोऽनन्यारामो - मोक्षमागदिन्यत्र न रमते।'

अर्थात् - जो व्यक्ति यथार्थ द्रष्टा होता है वह जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित सिद्धान्त के अतिरिक्त अन्यत्र रमण नहीं करता और जो अपने चिंतन-मनन, विचारणा एवं आचरण को अन्यत्र नहीं लगाता वही अनन्यदर्शी - तत्त्वदर्शी है, परमार्थदर्शी है।



उपदेष्टा कैसा हो?

(१५५)

जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ।

कठिन शब्दार्थ - पुण्णस्स - पुण्यवान् (भाग्यवान्) को, कत्थइ - कहता है, तुच्छस्स-तुच्छ (विपन्न, दरिद्र) को।

भावार्थ - आत्मदर्शी मुनि जैसे पुण्यवान् (भाग्यवान्, सम्पन्न) को धर्म उपदेश करता है वैसे ही तुच्छ (विपन्न, दरिद्र) को भी धर्म उपदेश करता है और जैसे तुच्छ को धर्मोपदेश करता है वैसे ही पुण्यवान् को भी धर्मोपदेश करता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में उपदेष्टा (वक्ता) की निस्पृहता तथा समभावना का वर्णन किया गया है।

जैसे मुनि, देवों के इन्द्र, चक्रवर्ती, माण्डलिक राजा और जाति, कुल, बल धनादि से सम्पन्न पुण्यवान् पुरुषों के लिए उपदेश देते हैं वैसे ही काष्ठ के ढोने वाले दरिद्र, कुरूप और धनादि से रहित तुच्छ पुरुषों के लिए भी उपदेश देते हैं क्योंकि मुनि तो सब जीवों का कल्याण एवं हित चाहते हैं। वे किसी से प्रत्युपकार की आशा नहीं रखते हैं इसलिए वे सब जीवों को समान दृष्टि से देखते हुए उनके कल्याण के लिए उपदेश देते हैं।

'पुण्णस्स' शब्द का 'पूर्णस्य' अर्थ भी किया जाता है।

टीकाकार ने इनकी व्याख्या इस प्रकार की है -

ज्ञानैश्वर्य-धनोपेतो जात्यन्वयबलान्वितः।

तेजस्वी मतिवान् ख्यातः पूर्णस्तुच्छो विपर्ययात्॥

- जो ज्ञान, प्रभुता, धन, जाति और बल से सम्पन्न हो, तेजस्वी हो, बुद्धिमान हो, प्रख्यात हो, उसे 'पूर्ण' कहा गया है। इसके विपरीत तुच्छ समझना चाहिये।

धर्मोपदेश की विधि

(१५६)

अवि य हणे अणाइयमाणे। एत्थंपि जाण, सेयंति णत्थि।



कठिन शब्दार्थ - अणाइयमाणे - अनादर करता हुआ, सेयंति णत्थि - इस प्रकार श्रेयस्कर नहीं है।

भावार्थ - कदाचित् अनादर होने पर श्रोता उसको मारने भी लग जाता है अतः यह भी जाने। ऐसा जाने बिना उपदेश देना श्रेयस्कर नहीं है।

(१५७)

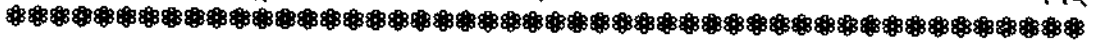
केयं पुरिसे कं च णए? एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोचए, उहं अहं तिरियं दिसासु।

भावार्थ - धर्मोपदेशक को यह जान लेना चाहिए कि यह पुरुष कौन है? किसको नमस्कार करने वाला है? वही पुरुष प्रशंसनीय होता है, जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देख कर उपदेश देता है और वही ऊँची, नीची और तिरछी दिशाओं में कर्म बन्ध से बंधे हुए प्राणियों को मुक्त करने में समर्थ होता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में धर्म कथन करने की कुशलता का वर्णन है। धर्मोपदेशक समयज्ञ और श्रोता के मानस को समझने वाला होना चाहिये। उसे श्रोता की योग्यता, उसकी विचारणा, उसका सिद्धान्त तथा समय की उपयुक्तता को समझना बहुत आवश्यक है। वह द्रव्य से समय को पहचाने। क्षेत्र से - इन नगर में किस धर्म सम्प्रदाय का प्रभाव है, यह जाने। काल से - परिस्थिति को परखे तथा भाव से - श्रोता के विचारों व मान्यताओं का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करे।

इस प्रकार कुशल पर्यवेक्षण किये बिना ही अगर वक्ता धर्मकथन करने लगता है तो कभी संभव है अपने संप्रदाय या मान्यताओं का अपमान समझ कर श्रोता उलटा वक्ता को ही मारने पीटने लगे और इस प्रकार धर्मवृद्धि के स्थान पर क्लेश वृद्धि का प्रसंग आ जाय। इसीलिए आगमकार ने कहा है कि इस प्रकार उपदेश-कुशलता प्राप्त किये बिना उपदेश न देना ही श्रेयस्कर है।

धर्मोपदेश की विधि का वर्णन करते हुए श्री तीर्थंकर भगवान् ने फरमाया है कि धर्मोपदेश करने वाले साधु के पास आकर यदि कोई धर्मविषयक प्रश्न करे तो उसके विषय में साधु को विचार करना चाहिये कि 'यह पुरुष कौन है?' 'यह मिथ्यादृष्टि है या भद्र स्वभावी?' 'यह किस अभिप्राय से धर्म पूछ रहा है?' 'यह किस दर्शन और किस देव को मानने वाला है?' इत्यादि बातों का निश्चय करने के पश्चात् समभाव से धर्म का उपदेश करना चाहिए। इस प्रकार द्रव्य,



क्षेत्र, काल, भाव का विचार कर उपदेश देना वाला प्रशंसा का पात्र होता है। वह कर्म बद्ध अनेक मनुष्यों को प्रतिबोध देकर मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर कर देता है। बंधन से मुक्ति तो स्व-पुरुषार्थ से ही संभव है किन्तु धर्मोपदेशक उसमें प्रेरक बनता है इसलिए उसे एक नय से 'बंधमोचक' कहा जाता है।

(१५८)

से सव्वओ सव्वपरिण्णाचारी ण लिप्पइ छणपएण, वीरे।

कठिन शब्दार्थ - सव्वपरिण्णाचारी - सर्व परिज्ञाचारी - सर्व परिज्ञाओं के आचरण करने वाला अर्थात् विशिष्ट ज्ञान से युक्त, सर्व संवर और सर्व चारित्र से युक्त, छणपएण - हिंसा के पद - स्थान से, ण लिप्पइ - लिप्त नहीं होता।

भावार्थ - वह साधक सर्व प्रकार से सर्व परिज्ञाओं के आचरण करने वाला होता है। वह हिंसा से लिप्त नहीं होता है। वह वीर है।

(१५९)

से, मेहावी अणुग्घायणस्स खेयण्णे जे य बंधपमुक्खमण्णेसी।

कठिन शब्दार्थ - अणुग्घायणस्स - कर्मों का नाश करने में, खेयण्णे - खेदज्ञ-कुशल, बंधपमुक्खमण्णेसी - बंध से मुक्त होने के उपाय का अन्वेषक।

भावार्थ - वह मेधावी (बुद्धिमान) है जो कर्मों का नाश करने में कुशल है तथा कर्मों के बंधन से मुक्त होने के उपाय का अन्वेषण करता है।

विवेचन - "अणुग्घायणस्स खेयण्णे" का एक अर्थ अनुद्घात का खेदज्ञ भी किया है। अनुद्घात अर्थात् अहिंसा व संयम के रहस्यों को सम्यक् प्रकार से जानने वाला, 'अनुद्घात का खेदज्ञ, कहलाता है।

(१६०)

कुसले पुण णो बद्धे, णो मुक्के।

भावार्थ - कुशल पुरुष न तो बद्ध है और न मुक्त है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में कुशल शब्द केवली के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। केवली चार



घाती कर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय) का क्षय कर चुके हैं अतः वे न तो सर्वथा बद्ध है और न ही सर्वथा मुक्त है क्योंकि उनके चार भवोपग्राही कर्म (आयुष्य, वेदनीय, नाम, गोत्र) शेष हैं।

(१६१)

से जं च आरभे जं च णारभे। अणारद्धं च ण आरभे।

भावार्थ - उन कुशल पुरुषों ने जिसका आचरण किया है और जिसका आचरण नहीं किया है, यह जान कर साधक उनके द्वारा अनाचरित (आचरण नहीं की हुई) प्रवृत्ति का आचरण नहीं करे।

(१६२)

छणं छणं परिणाय लोसणं च सव्वसो।

भावार्थ - हिंसा और हिंसा के कारणों को जान कर उसका त्याग कर दे और सर्व प्रकार से लोक संज्ञा (विषय सुख की इच्छा और परिग्रह) को भी छोड़ दे।

विवेचन - केवलियों ने तथा विशिष्ट मुनियों ने मोक्ष प्राप्ति के लिए जो आचरण किया है, मोक्षार्थी पुरुष को वैसा ही आचरण करना चाहिए। जिन कार्यों से हिंसा होती है तथा जिस कार्य का आचरण ज्ञानियों ने निषिद्ध बतलाया है उसका कदापि आचरण न करे।

(१६३)

उद्देशो पासगस्स णत्थि।

कठिन शब्दार्थ - उद्देशो - उपदेश की, पासगस्स - पश्यकस्य - यथा द्रष्य को।

भावार्थ - यथार्थ द्रष्टा - सत्य का सम्पूर्ण दर्शन करने वाले के लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं है।

विवेचन - जो वस्तु स्वरूप को देखने वाला है उसे 'पश्यक' कहते हैं अथवा केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को जानने वाले तीर्थंकर भगवान् और उनकी आज्ञा में चलने वाले पुरुष 'पश्यक' कहलाते हैं। इन सबके लिए उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं है। वे स्वतः ही अहित से निवृत्ति और हित में प्रवृत्ति करते हैं।



अज्ञानी की दुःखपरम्परा

(१६४)

बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं
अणुपरियट्टइ त्ति बेमि।

॥ छट्टोद्देशो समत्तो ॥

॥ लोगविजय णाम बीअमज्झयणं समत्तं ॥

कठिन शब्दार्थ - णिहे - स्नेह करने वाला, कामसमणुण्णे - कामसमनुज्ञः-कामभोगों को मनोज्ञ मानने वाला, असमियदुक्खे - दुःख को शांत नहीं करता है, दुक्खाणमेव - दुःखों के ही, आवट्टं - चक्र में, अणुपरियट्टइ - परिभ्रमण करता है।

भावार्थ - बाल - अज्ञानी बार-बार विषयों में स्नेह (आसक्ति) करता है। कामभोगों को मनोज्ञ (मनोहर) समझ कर उनका सेवन करता है इसलिए वह दुःखों को शांत (शमन) नहीं कर पाता। वह शारीरिक और मानसिक दुःखों से दुःखी बना हुआ दुःखों के चक्र में ही परिभ्रमण करता रहता है।

विवेचन - रागादि से मोहित और विषयों में आसक्त अज्ञानी पुरुष शारीरिक और मानसिक दुःखों से सदा पीड़ित होता हुआ संसार चक्र में परिभ्रमण करता है। अतः विवेकी पुरुष को रागादि का तथा विषय भोगों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

प्रस्तुत अध्ययन का सार यही है कि कषाय, रागद्वेष एवं विषय वासना ही संसार है। इनमें आसक्त रहने वाला व्यक्ति ही संसार परिभ्रमण करता है अतः इनका त्याग करना, विषय वासना में जाते हुए योगों को उस ओर से रोक कर संयम में लगाना ही संसार से मुक्त होने का उपाय है और यही लोक पर विजय प्राप्त करना है। जो व्यक्ति काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि आध्यात्मिक शत्रुओं को जीत लेता है उसके लिए और कुछ जीतना शेष नहीं रह जाता फिर लोक में उसका कोई शत्रु नहीं रह जाता। सारा लोक - संसार उसका अनुचर - सेवक बन जाता है। यही सच्ची और सर्व श्रेष्ठ विजय है।

॥ इति दूसरे अध्ययन का षष्ठ उद्देशक समाप्त ॥

॥ लोक विजय नामक द्वितीय अध्ययन समाप्त ॥

शीतोष्णीज्जं णाम तइयं अज्झयणं

शीतोष्णीय नागक तृतीय अध्ययन

उत्थानिका - प्रथम अध्ययन में बताये हुए महाव्रतों से युक्त और दूसरे अध्ययन में वर्णित संयम में स्थिर तथा कषाय आदि का विजय किये हुए मोक्षार्थी मुनि को यदि कभी अनुकूल और प्रतिकूल परीषह उत्पन्न हो तो वह समभाव से उनको सहन करे। यह उपदेश करने के लिए इस तृतीय अध्ययन का आरम्भ हुआ है। इस अध्ययन में यह बतलाया जायगा कि साधु को शीत और उष्ण एवं अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिये। इसलिए इसे शीतोष्णीय अध्ययन कहते हैं। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

तइयं अज्झयणं पढमो उद्देशओ

तृतीय अध्ययन का प्रथम उद्देशक

सुप्त और जागृत

(१६५)

सुत्ता अमुणी सया मुणिणो सया जागरंति॥

कठिन शब्दार्थ - सुत्ता - सुप्त - सोये हुए, अमुणी - अमुनि - अज्ञानी, सया - सदा, मुणिणो - मुनि - ज्ञानी, जागरंति - जागते हैं।

भावार्थ - अमुनि (अज्ञानी) सदा सोये हुए हैं, मुनि (ज्ञानी) सदा जागते रहते हैं।

विवेचन - शयन यानी सोना दो प्रकार का कहा गया है - १. द्रव्य शयन और २. भाव शयन। इनमें निद्रा रूप शयन द्रव्य शयन हैं और मिथ्यात्व तथा अज्ञानमय शयन भाव शयन है। भाव शयन, समस्त दुःखों का कारण है। जो जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं वे द्रव्य से जागते हुए भी भाव से सोये हुए हैं क्योंकि वे उत्तम ज्ञान के अनुष्ठान से रहित हैं। जो उत्तम ज्ञान से सम्पन्न और मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति करने वाले मुनि हैं वे द्रव्य से सोते हुए भी भाव से सदा जागते हैं।

॥ पाठान्तर - सुत्ता अमुणी मुणिणो सया जागरंति।



(१६६)

लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं।

भावार्थ - इस लोक में अज्ञान (दुःख) अहित के लिए हैं - यह जानो।

(१६७)

समयं लोगस्स जाणित्ता, एत्थ सत्थोवरए।

कठिन शब्दार्थ - समयं - आचार (समता) को, सत्थोवरए - शस्त्रोपरतः - शस्त्र से उपरत हो।

भावार्थ - लोक के इस आचार - समत्व भाव को जान कर संयमी पुरुष जो शस्त्र हैं उनसे उपरत रहे।

विवेचन - सूत्रकार ने अज्ञान को दुःख का कारण और ज्ञान को सुख का कारण कहा है अतः प्रस्तुत सूत्र में इस बात पर जोर दिया गया है कि साधक को संयम एवं आचार के स्वरूप को जानकर उसका पालन अज्ञान के उन्मूलन के लिये करना चाहिये और छह काय की हिंसा रूप शस्त्र का त्याग कर देना चाहिये।

दुःख मुक्ति का उपाय

(१६८)

जस्सिमे सद्दा य-रूवा य-गंधा य-रसा य फासा य-अभिसमण्णागया भवन्ति, से आयवं-णाणवं-वेयणं-धम्मवं-बंभवं-पण्णाणेहिं परियाणइ लोयं मुणीत्ति वच्चे धम्मविऊत्ति अंजू आवट्टसोए संगमभिजाणइ सीउसिणच्चाई, से णिगंथे, अरइरइसहे फरुसयं णो वेएइ जागरवेरोवरए वीरे एवं दुक्खा पमुक्खसि।

कठिन शब्दार्थ - अभिसमण्णागया - अभिसमन्वागत - पूर्ण रूप से ज्ञात, आयवं - आत्मवान्, णाणवं - ज्ञानवान्, वेयवं - वेदवान्, धम्मवं - धर्मवान्, बंभवं - ब्रह्मवान्, पण्णाणेहिं - मति श्रुत आदि ज्ञानों से, परियाणइ - जानता है, धम्मविऊत्ति - धर्मवेत्ता, अंजू - सरल, आवट्टसोए - आवर्त स्रोत - संसार चक्र और विषयाभिलाषा के, संगं - संग को, अभिजाणइ - जानता है, सीउसिणच्चाई - शीतोष्ण त्यागी, अरइरइसहे - अरति और

रति को सहता हुआ, फरुसयं - परुषता - कठोरता का, जागरवेरोवरए - जागृत और वैरभाव से उपरत, पमुक्खसि - छूट जाता है।

भावार्थ - जिस पुरुष ने शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श को सम्यक् प्रकार से जान लिया है जो उनमें राग द्वेष नहीं करता है वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान्, धर्मवान् और ब्रह्मवान् होता है। वह मति आदि ज्ञानों से लोक को जानता है वह मुनि कहलाता है। वह धर्मवेत्ता और सरल होता है। वह आवर्त स्रोत - संसार चक्र और विषयाभिलाषा के संग (संबंध) को जानता है।

वह निर्ग्रथ शीत और उष्ण (सुख और दुःख) का त्यागी, अरति और रति को सहन करने वाला होता है। परीषह और उपसर्गों को पीड़ाकारी नहीं समझता है। असंयमरूप भाव निद्रा का त्याग कर जागृत रहता है। वैर से उपरत - निवृत्त हो गया है। इस प्रकार हे वीर! तू दुःखों से मुक्ति पा जायेगा।

विवेचन - जिसने आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार की ग्रंथियों को तोड़ दिया है ऐसा निर्ग्रथ विषय सुखों की इच्छा नहीं करता है और परीषहों से घबराता भी नहीं है, अनुकूल और प्रतिकूल परीषहों को समभाव से सहन करता है। ऐसे मुनि के लिये आत्मवान् आदि विशेषणों का प्रयोग किया है, उनका विशेष अर्थ इस प्रकार है -

१. आययं (आत्मवान्) - ज्ञानादिमान् अथवा शब्दादि विषयों का त्याग कर आत्मा की रक्षा करने वाला।

२. गणयं (ज्ञानवान्) - जीवादि पदार्थों का यथावस्थित ज्ञान करने वाला।

३. वेययं (वेदवान्) - जीवादि के स्वरूप को जिनसे जाना सके, उन वेदों - आचारांग आदि आगमों का ज्ञाता।

४. धम्मयं (धर्मवान्) - श्रुत चरित्र रूप धर्म का ज्ञाता अथवा आत्मा के स्वभाव का ज्ञाता।

५. बंभयं (ब्रह्मवान्) - अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य से संपन्न।

ब्रह्मचर्य के अठारह भेद इस प्रकार कहे गये हैं -

दिवा कामरइसुहा तिविहं तिविहण नवविहा विरई।

औरालिया उ वि तहा तं बंभं अह्वयसभेयं॥

अर्थात् - देव संबंधी भोगों को मन, वचन और काया से सेवन न करना, दूसरों से न कराना तथा करते हुए को भला न जानना - इस प्रकार नौ भेद हो जाते हैं। औदारिक अर्थात्



मनुष्य, तिर्यच संबंधी भोगों के लिए भी इसी प्रकार नौ भेद हैं। ये कुल मिला कर अठारह भेद हो जाते हैं।

सीउसिणच्छाई का अर्थ है शीतोष्ण त्यागी अर्थात् जो साधक शीत परीषह और उष्ण परीषह अथवा अनुकूल और प्रतिकूल परीषह को समभाव से सहन करता हुआ उनमें निहित वैषयिक सुख और पीड़ाजनक दुःख की भावना का त्याग कर देता है।

अरइरइसहे का अर्थ है असंयम में अरति और संयम में रति रखने वाला अर्थात् संयम और तप में होने वाली अप्रीति और अरुचि को जो समभाव से सहन करता है - उन पर विजय प्राप्त करता है।

फरुसयं णो वेएइ का तात्पर्य है वह साधक परीषहों और उपसर्गों को सहने में जो कठोरता-कर्कशता या पीड़ा उत्पन्न होती है वह उस पीड़ा रूप में वेदन - अनुभव नहीं करता क्योंकि वह मानता है कि मैं तो कर्मक्षय करने के लिये उद्यत हूँ। ये परीषह और उपसर्ग आदि तो मेरे कर्मक्षय करने में सहायक हैं। ज्ञानी और अज्ञानी में यही अंतर है कि ज्ञानीजन धर्माचरण में होने वाले कष्टों को समझ कर उसका वेदन (अनुभव) नहीं करता जबकि अज्ञानीजन कष्ट का वेदन करता है।

जागरवेरोवरए का भाव है कि-जो साधक जागर अर्थात् असंयम रूप भाव निद्रा का त्याग करके जागने वाला है और वैरोपरत - वैर से उपरत - निर्वृत - वैरभाव का त्याग करने वाला है वही सच्चा वीर - कर्मों को नष्ट करने में सक्षम - है।

(१६६)

जरामच्चुवसोवणीए णरे सययं मूढे धम्मं णाभिजाणइ।

कठिन शब्दार्थ - जरामच्चुवसोवणीए - जरा और मृत्यु के वशीभूत हुआ, णाभिजाणइ- नहीं जानता है।

भावार्थ - जरा (बुढ़ापा) और मृत्यु के वशीभूत हुआ मनुष्य सतत मोह मूढ़ बना रहता है। वह धर्म को नहीं जानता है।

विवेचन - जो जागरणशील नहीं है वह जरा और मरण के वशीभूत होकर मोह से मूढ़ बना हुआ दुःखों के प्रवाह में बहता रहता है। वह धर्म के स्वरूप को भी नहीं जान पाता इसलिये वह दुःखों से मुक्त भी नहीं हो सकता।



शंका - देव तो निर्जर और अमर कहलाते हैं, वे तो मोह-मूढ़ नहीं होते होंगे और धर्म को भलीभांति जान लेते होंगे?

समाधान - देवता निर्जर कहलाते हैं किंतु उनमें भी जरा का सद्भाव है क्योंकि च्यवन काल से पूर्व उनके भी लेश्या, बल, सुख, प्रभुत्व, वर्ण आदि क्षीण होने लगते हैं। यह एक तरह से जरावस्था ही है और मृत्यु तो देवों की भी होती है। शोक, भय आदि दुःख भी उनके पीछे लगे हैं इसलिये देव भी मोहमूढ़ बने रहते हैं और वे धर्म को भलीभांति नहीं जान पाते हैं।

(१७०)

पासिय आउरे पाणे अप्पमत्तो परिव्वए।

कठिन शब्दार्थ - आउरे - आतुर - शारीरिक और मानसिक दुःख पाते हुए अथवा किंकर्तव्य विमूढ़, अप्पमत्तो - अप्रमत्त होकर, परिव्वए - संयम में विचरण करे।

भावार्थ - आतुर - शारीरिक और मानसिक दुःख पाते हुए प्राणियों को देख कर साधक अप्रमत्त भाव से संयम में विचरण करे।

(१७१)

मंता एयं, मइमं-पास।

कठिन शब्दार्थ - मंता - भत्वा - मान कर, मनन पूर्वक, मइमं - मतिमान्।

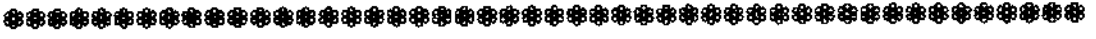
भावार्थ - हे मतिमान्! भाव से सुप्त प्राणियों को देखकर, गुण और दोष को मान कर (मनन पूर्वक) सुप्त मत बन। सोने का विचार मत कर।

दुःखों का मूल-आरंभ

(१७२)

आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा, माई पमाई पुण-एइ गढ्भं, उवेहमाणो सद्दुक्खेसु अंजू, माराभिसंकी मरणा पमुच्चइ।

कठिन शब्दार्थ - आरंभजं - आरम्भजनित - आरंभ से उत्पन्न हुआ, माई - मायावी-छल करने वाला, पमाई - प्रमादी, पुण - पुनः, बारबार, गढ्भं - गर्भ को, एइ - प्राप्त करता है, उवेहमाणो - उपेक्षमाणः-राग द्वेष न करता हुआ, अंजू - ऋजु - सरल, माराभिसंकी - मृत्यु के प्रति आशंकित, पमुच्चइ - मुक्त हो जाता है।



भावार्थ - यह दुःख आरंभजनित है, ऐसा जान कर आरंभ रहित बनने का प्रयत्न कर। मायावी और प्रमादी पुरुष बार बार गर्भ की प्राप्ति होता है अर्थात् माया और प्रमादवश जीव बारबार जन्म लेता है। शब्द और रूप आदि विषयों में राग द्वेष नहीं करने वाला जीव ऋजु (सरल) होता है। वह मृत्यु से सदा आशंकित रहता है और मृत्यु से (मृत्यु के भय-दुःख से) मुक्त हो जाता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि सभी दुःखों का मूल स्रोत - आरंभ-हिंसा जन्य प्रवृत्ति है। प्रमादी व्यक्ति कषायों के वश होकर आरम्भ - हिंसा करता है और परिणाम स्वरूप अशुभ कर्मों का बंध करके नरक, तिर्यच आदि दुर्गतियों में नाना प्रकार के दुःखों को भोगता है तथा जन्म, जरा और मरण को प्राप्त करता रहता है। इससे विपरीत जो अप्रमत्त और जागृत साधक होता है वह शब्दादि विषयों में राग द्वेष नहीं करता हुआ संयम पालन में सजग रहता है और अपनी साधना के बल पर एक दिन मरण भय से या दुःख से मुक्त हो जाता है।

(१७३)

अप्पमत्तो कामेहिं, उवरओ पावकम्मोहिं, वीरे आयगुत्ते जे खेयण्णे।

भावार्थ - जो कामभोगों के प्रति अप्रमत्त है, पाप कर्मों से उपरत है वह पुरुष वीर, आत्मगुप्त (आत्मा की रक्षा करने वाला) और खेदज्ञ (प्राणियों को अथवा स्वयं को होने वाले खेद का ज्ञाता) है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में शब्द रूप आदि कामभोगों में सावधान एवं जागृत रहने वाले तथा हिंसा आदि विभिन्न पाप कर्मों से मन, वचन और काया से विरत साधक को वीर, आत्मगुप्त और खेदज्ञ कहा है।

(१७४)

जे पज्जवजायसत्थस्स खेयण्णे, से असत्थस्स खेयण्णे, जे असत्थस्स खेयण्णे, से पज्जवजाय सत्थस्स खेयण्णे।

कठिन शब्दार्थ - पज्जवजायसत्थस्स - पर्यवजातशस्त्रस्य - शब्दादि विषयों की प्राप्ति के लिये किये जाने वाले हिंसा आदि सावध अनुष्ठानों का, खेयण्णे - खेदज्ञ - खेद का जानकार, असत्थस्स - अशस्त्र - संयम का, सत्थस्स - शस्त्र - असंयम का।



भावार्थ - जो पुरुष शब्दादि विषयों की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले शस्त्र - हिंसा आदि सावद्य अनुष्ठानों का खेदज्ञ - खेद का जानकार है वह अशस्त्र (संयम) के खेद को जानता है। जो निरवद्यानुष्ठान रूप संयम पालन के कष्टों (अशस्त्र) को जानता है वही शब्दादि विषयों की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले सावद्यानुष्ठानों को भी जानता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में शस्त्र (असंयम) को घातक एवं अशस्त्र (संयम) को अघातक कहा है। शब्दादि विषयों की प्राप्ति के लिये किये जाने वाले हिंसादि सावद्य अनुष्ठान शस्त्र (असंयम) है जबकि संयम, पापरहित अनुष्ठान होने से अशस्त्र है। जो इष्ट अनिष्ट शब्दादि विषयों के सभी पर्यायों को उनके संयोग वियोग को शस्त्रभूत - असंयम को जानता है वह संयम को अविघातक एवं स्वोपकारी होने से अशस्त्रभूत मानता है। शस्त्र और अशस्त्र को भली भांति जानने वाला ही अशस्त्र (संयम) को प्राप्त करता है और शस्त्र (असंयम) का त्याग करता है।

सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र का हेतुहेतुमद्भाव से वर्णन किया है अर्थात् जो व्यक्ति संसार परिभ्रमण के कारणों का ज्ञाता है वह मोक्ष पथ का भी ज्ञाता हो सकता है।

कर्मों से उपाधि

(१७५)

अकम्मस्स व्यवहारो ण विज्जइ, कम्मुणा उवाही जायइ।

कठिन शब्दार्थ - अकम्मस्स - अकर्म - कर्मों से रहित का, व्यवहारो - व्यवहार, ण विज्जइ - नहीं होता, कम्मुणो - कर्मों से ही, उवाही - उपाधि, जायइ - उत्पन्न होती है।

भावार्थ - जो पुरुष कर्मों से रहित, अकर्म हो जाता है उसका इस संसार में कोई व्यवहार नहीं होता है अर्थात् वह फिर संसार में नहीं आता है। कर्मों से उपाधि होती है।

विवेचन - कर्म और उसको संयोग से होने वाली आत्म-हानि का दिग्दर्शन कराया गया है। जो कर्मयुक्त हैं उसके लिए ही कर्म को लेकर नारंक, तिर्यंच, मनुष्य आदि की या एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक की, मंद बुद्धि, तीक्ष्ण बुद्धि, चक्षुदर्शनी आदि सुखी-दुःखी, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, स्त्री पुरुष, अल्पायु-दीर्घायु, सुभग-दुर्भग, उच्चगोत्री-नीचगोत्री, कृपण-दानी, सशक्त-अशक्त आदि उपाधि-व्यवहार या विशेषण होता है। इन सब व्यवहारों का कारण (हेतु) कर्म



ही है, इसलिए कर्म ही उपाधि का कारण है। जो सर्वथा कर्ममुक्त (अकर्म) हो जाता है उसके लिए नारक आदि व्यवहार (संज्ञा) नहीं होता।

कर्म से उपाधि होती है। उपाधि तीन प्रकार की कही है - १. आत्मोपाधि २. कर्मोपाधि और ३. शरीरोपाधि। जब आत्मा विषय कषाय आदि में दुष्प्रयुक्त होती है तब आत्मोपाधि-आत्मा परिग्रह रूप लेता है। जब आत्मोपाधि होती है तब कर्मोपाधि का संचय होता है और कर्म से शरीरोपाधि होती है। शरीरोपाधि को लेकर नैरयिक, मनुष्य आदि व्यवहार (संज्ञा) होता है।

‘अकम्मस्स ववहारो ण विज्जइ’ का अर्थ है - मोक्षमार्ग पर गतिशील साधक समस्त कर्म बंधनों को तोड़ देता है और आठ कर्मों से मुक्त व्यक्ति फिर से संसार में नहीं आता अर्थात् कर्म बंधन से मुक्त आत्मा फिर से संसार में अवतरित नहीं होती, कर्म युक्त आत्मा ही जन्म मरण के प्रवाह में बहती रहती है। क्योंकि जन्म मरण का मूल कारण कर्म है और सिद्ध अवस्था में कर्म का सर्वथा अभाव है इसलिए परमात्मा या ईश्वर के अवतरित होने की कल्पना नितांत असत्य एवं कपोल कल्पित है। वस्तुतः कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में रमण करती है फिर वह संसार में नहीं भटकती है।

(१७६)

कम्मं च पडिलेहाए, कम्ममूलं च जं छणं।

भावार्थ - कर्म को प्रत्युपेक्षण (पर्यालोचन) कर उसे नष्ट करने का प्रयत्न करे। कर्म का मूल कारण मिथ्यात्व आदि और जो हिंसा है उसको जान कर त्याग करे।

विवेचन - “कम्ममूलं च जं छणं” के स्थान पर “कम्ममाहूयं जं छणं च” इस प्रकार पाठान्तर मिलता है। उसका भावार्थ यह है कि जिस क्षण अज्ञान, प्रमाद आदि के कारण कर्मबन्धन की हेतु रूप कोई प्रवृत्ति हो जाय तो सावधान साधक तत्क्षण उसके मूल कारण की खोज करके उससे निवृत्त हो जाय।

कर्म के मूल कारण हैं - मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इन कर्मों के मूल कारणों को जाने और इनका त्याग कर दे।

(१७७)

पडिलेहिय, सव्वं समायाय दोहिं अंतेहिं अदिस्समाणे।

कठिन शब्दार्थ - समायाय - ग्रहण करके, अंतेहिं - राग और द्वेष को, अदिस्समाणे-
अदृश्यमानः - दिखाई नहीं देता हुआ।

भावार्थ - इन सबका सम्यक् निरीक्षण करके, समस्त उपदेश पूर्वक संयम ग्रहण करके
साधक दो अंतों से - रागद्वेष से अदृश्यमान रहे अर्थात् राग द्वेष से निवृत्त बने।

विवेचन - 'रागो य दोसो वि य कम्मबीयं' (उत्तरा० अ० ३२ गा० ७)

- राग और द्वेष कर्मबंध के बीज हैं। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में मुख्य रूप से इन दोनों के
त्याग का उपदेश दिया गया है।

चूर्णि में 'पडिलेहिय सव्वं समायाय' के स्थान पर 'पडिलेहेहि य सव्वं समायाए' पाठ
दिया है जिसका भावार्थ है - भलीभांति निरीक्षण-परीक्षण करके पूर्वोक्त कर्म और उसके सब
उपादान रूप तत्त्वों का निवारण करे।

(१७८)

तं परिण्णाय मेहावी विइत्ता लोगं, वंता लोगसण्णं से मइमं
परक्कमिज्जासित्ति बेमि।

॥ पढमोद्देशो समत्तो ॥

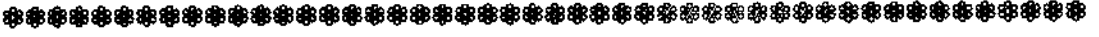
कठिन शब्दार्थ - विइत्ता - जानकर, लोगं - लोक - विषय कषाय रूप लोक को,
लोगसण्णं - लोक संज्ञा को - विषयासक्ति को।

भावार्थ - कर्म और राग द्वेष को जानकर (ज्ञ परिज्ञा से जान कर और प्रत्याख्यान परिज्ञा
से त्याग कर) मेधावी पुरुष लोक को जाने और लोक संज्ञा का त्याग कर संयम में पुरुषार्थ करे।
ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - कर्म और कर्म के मूल कारणों को जान कर बुद्धिमान् पुरुष इनका त्याग करे
और शुद्ध संयम अनुष्ठान में प्रयत्न करे।

कुछ प्रतियों में 'मइमं' के स्थान पर 'मेहावी' पाठ भी मिलता है। दो बार प्रयुक्त
'मेहावी' शब्द का भावार्थ इस प्रकार है - जो पुरुष मर्यादा में स्थित रहता है वही आत्म-
विकास कर सकता है, संयम में प्रवृत्त हो सकता है, ऐसा व्यक्ति ही वास्तव में पंडित एवं
बुद्धिमान् होता है।

॥ इति तृतीय अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥



तइयं अज्जयणं बीओ उद्देसओ

तृतीय अध्ययन का द्वितीय उद्देशक

तृतीय अध्ययन के प्रथम उद्देशक में सुप्त और जागृत पुरुष का वर्णन करने के बाद सूत्रकार इस द्वितीय उद्देशक में पाप करने वाले जीवों के दुःखों का वर्णन करते हैं। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

बंध और मोक्ष

(१७६)

जाइं च वुट्ठिं च इहज्ज पासे, भूएहिं सायं पडिलेह जाणे।

तम्हाऽतिविज्जो परमंति णच्चा, सम्मत्तदंसी ण करेइ पावं।

कठिन शब्दार्थ - जाइं - जन्म को, वुट्ठिं - वृद्धि को, अज्ज - आर्य, भूएहिं - प्राणियों के, अतिविज्जो - अतिविद्य - अति विद्वान्, परमं - परम - मोक्ष को, सम्मत्तदंसी - सम्यक्त्वदर्शी।

भावार्थ - हे आर्य! तू इस संसार में जन्म और वृद्धि को अर्थात् जन्ममरण के दुःखों को देख। तू प्राणियों को जान और उनके साथ अपने सुख का पर्यालोचन (विचार) कर! इससे अतिविद्य बना हुआ साधक मोक्ष को जान कर और सम्यक्त्वदर्शी बन कर पापकर्म नहीं करता है।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा में जन्म और वृद्धि को देखने की प्रेरणा की गयी है अर्थात् संसार में जीवों के जन्म और उसके साथ लगे हुए अनेक दुःखों को तथा बालक, कुमार, युवक और वृद्ध रूप जो वृद्धि हुई है उसके बीच आने वाले शारीरिक तथा मानसिक दुःखों का चिंतन करना है। ऐसे चिंतन से जीव की समृद्धता दूर हो जाती है और किसी किसी जीव को पूर्व जन्मों एवं दुःखों का चिंतन करते हुए मृगापुत्र की तरह जातिस्मरणज्ञान भी हो जाता है।

भूएहिं सायं पडिलेह जाणे का भाव यह है कि संसार के सभी प्राणियों को जान कर उनके साथ अपने सुख की तुलना और पर्यालोचन करे कि जैसे मुझे सुख प्रिय है उसी प्रकार संसार के समस्त जीवों को भी सुखप्रिय है ऐसा समझ कर ऐसा कोई कार्य नहीं करे जिससे दूसरे प्राणियों को दुःख हो। ऐसा करने वाला जन्म और मरण के दुःखों से मुक्त हो जाता है।



'अतिविज्जो' के स्थान पर अतिविज्जे/'अतिविज्जं' और तिविज्जो पाठ भी मिलता है जिसका अर्थ क्रमशः इस प्रकार है -

अतिविज्जे/अतिविज्जं - अतिविद्य - उत्तमज्ञानी - जिसकी विद्या जन्म, वृद्धि, सुख-दुःख के दर्शन से अतीव तत्त्व विश्लेषण करने वाली है।

तिविज्जो - तीन विद्याओं का ज्ञाता - जो निम्न तीन बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह त्रैविद्य कहलाता है -

१. पूर्वजन्म - श्रृंखला और विकास की स्मृति।

२. प्राणिजगत् को भलीभांति जानना।

३. अपने सुख दुःख के साथ उनके सुख-दुःख की तुलना करके पर्यालोचन करना।

सम्मत्तदंसी ण करेइ पावं का आशय यह है कि सम्यक्त्वी पुरुष मिथ्यादर्शनशल्य रूप पाप का बंध नहीं करता है। जब तक वह व्रत धारण नहीं करता है तब तक उसके सतरह ही पाप खुले हैं।

(१८०)

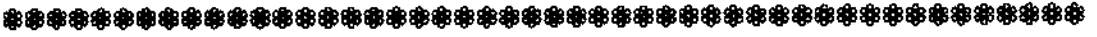
उम्मुंच पासं इह मच्चिएहिं, आरंभजीवी उभयाणुपस्सी।

कामेसु गिद्धा णिचयं करंति। संसिच्चमाणा पुणरेंति गब्भं।

कठिन शब्दार्थ - उम्मुंच - तोड़ दे, पासं - पाश को - भाव बंधन को, मच्चिएहिं - मनुष्यों के साथ, आरंभजीवी - आरम्भ से आजीविका करने वाला, उभयाणुपस्सी - उभयानुदर्शी - शारीरिक और मानसिक दुःखों का भागी, इहलोक और परलोक में अथवा शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के कामभोगों को ही देखने वाला, गिद्धा - आसक्त, णिचयं - संचय, संसिच्चमाणा - कर्मवृक्ष का सिंचन करते हुए।

भावार्थ - इस संसार में मनुष्यों के साथ जो पाश - रागादि बंधन हैं उन्हें तोड़ दे। जो पुरुष आरंभजीवी हैं वे इहलोक और परलोक में शरीर और मन को ही देखते हैं। ऐसे कामभोगों में आसक्त जीव कर्मों का संचय करते हैं और कर्म रूपी वृक्ष की आसक्ति रूपी जड़ों का बार बार सिंचन करने से वे बार बार गर्भवास को प्राप्त होते हैं अर्थात् पुनः पुनः जन्म धारण करते हैं।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में पाप कर्मों का संचय करने वाले की वृत्ति, प्रवृत्ति और उसके फल का दिग्दर्शन कराया गया है।



'आरंभजीवी उभयाणुपस्सी' का आशय है जो आरंभजीवी (महारंभी और महापरिग्रही) होता है वह उभयलोक (इहलोक परलोक) को या उभय (शरीर और मन) को ही देखता है इससे ऊपर उठ कर वह नहीं देखता अतः शारीरिक एवं मानसिक दुःखों का भागी होता है।

'संसिद्धमाणा पुणरेंति गर्भं' पद में बताया है - हिंसा, झूठ, चोरी, कामवासना, परिग्रह आदि पाप कर्म की जड़ें हैं, उन्हें जो लगातार सींचते रहते हैं वे बार-बार विविध गतियों और योनियों में जन्म लेते रहते हैं।

(१८१)

अवि से हासमासज्ज, हंता णंदीति मण्णइ।

अलं बालस्स संगेणं, वेरं वट्ठइ अप्पणो।

कठिन शब्दार्थ - हासं आसज्ज - हास्य को स्वीकार करके, हंता - मार कर, णंदीति - आनंद (क्रीड़ा), मण्णइ - मानता है, बालस्स - बाल (अज्ञानी) का, संगेण - संग (संसर्ग) से, वेरं - वैरभाव को, वट्ठइ - बढ़ाता है।

भावार्थ - वह विषयी जीव हास्य विनोद के लिये जीवों को मार कर आनंद (खुशी-क्रीड़ा) मानता है। ऐसा करके वह अज्ञानी जीव उन प्राणियों के साथ व्यर्थ ही अपना वैर बढ़ाता है अतः ऐसे बाल अज्ञानी जीव का संग न करना चाहिये।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में प्राणियों के वध आदि के निमित्त विनोद और उससे होने वाला वैर-वृद्धि का संकेत किया गया है।

(१८२)

तमहाऽतिविज्जो परमंति णच्चा, आयंकदंसी ण करेइ पावं।

भावार्थ - इसलिये अतिशय विद्वान् पुरुष मोक्ष को सबसे श्रेष्ठ जानकर एवं आतंकदर्शी अर्थात् नरक आदि से भय करता हुआ पाप कर्म नहीं करता है।

विवेचन - 'कर्म या हिंसा के कारण दुःख होता है' - जो यह जान लेता है वह आतंकदर्शी है। वह स्वयं पाप कर्म नहीं करता, न दूसरों से कराता है और पाप करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करता है।



(१८३)

अगं च मूलं च विगिंच धीरे, पलिच्छिंदिया णं णिव्कम्मदंसी ।

कठिन शब्दार्थ - अगं - अग्र यानी भव को ग्रहण कराने वाले चार अघाती कर्मों को, मूलं - मूल यानी चार घाती कर्मों को, विगिंच - दूर कर, पलिच्छिंदिया - छेदन (काट) कर, णिव्कम्मदंसी - निष्कर्मदर्शी - कर्म रहित सर्वदर्शी।

भावार्थ - हे धीरे! तू अग्र - अघाती कर्मों को और मूल - घाती कर्मों को दूर कर। धीरे पुरुष तप संयम आदि के द्वारा रागादि बंधनों को काट कर निष्कर्मदर्शी हो जाता है।

विवेचन - निष्कर्मदर्शी के चार अर्थ हो सकते हैं -

१. कर्मरहित शुद्ध आत्मदर्शी २. राग द्वेष के सर्वथा छिन्न होने से सर्वदर्शी ३. वैभाविक क्रियाओं के सर्वथा न होने से अक्रियादर्शी और ४. जहां कर्मों का सर्वथा अभाव है ऐसे मोक्ष का द्रष्टा।

संयमी आत्मा की विशेषताएं

(१८४)

एस मरणा पमुच्चइ से हु दिट्ठभए मुणी, लोयंसी परमदंसी विवित्तजीवी उवसंते समिए सहिए सयाजए कालकंखी परिब्बए।

कठिन शब्दार्थ - दिट्ठभए - भयों को देखने वाला, परमदंसी - परमदर्शी - परम (मोक्ष या संयम) को देखने वाला, विवित्तजीवी - विविक्तजीवी - विविक्त (द्रव्य से स्त्री, पशु, नपुंसक रहित और भाव से राग द्वेष रहित) जीवन जीने वाला, उवसंते - उपशांत, समिए - समित - समितियों से युक्त, सहिए - ज्ञानादि सहित, जए - संयत - यत्नवान्, कालकंखी - काल - पंडित मरण का आकांक्षी, परिब्बए - संयम का पालन करे।

भावार्थ - वह निष्कर्मदर्शी मरण (मृत्यु) से मुक्त हो जाता है। वह मुनि सभी भयों को देखने वाला है। वह लोक में परम - सबसे श्रेष्ठ मोक्ष या संयम को देखने वाला, विविक्त-रागद्वेष रहित जीवन जीने वाला, उपशांत, पांच समितियों से समित, ज्ञान आदि से सहित सदा यत्नवान् (संयत) रहता है। ऐसा साधु पंडित मरण की आकांक्षा करता हुआ शुद्ध संयम का पालन करे।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में मृत्यु से मुक्त आत्मा की विशेषताओं का वर्णन किया गया है।

शंका - साधक को मृत्यु की आकांक्षा नहीं करनी चाहिये फिर यहां आगमकार का 'कालकंक्षी' कहने क्या आशय है?

समाधान - यहां काल का अर्थ है - मृत्युकाल, उसका आकांक्षी अर्थात् मुनि मृत्युकाल आने पर पंडित मरण की आकांक्षा (मनोरथ) करने वाला होकर संयम में विचरण करे। पंडित मरण जीवन की सार्थकता है। पंडित मरण की इच्छा करना मृत्यु को जीतने की कामना है अतः यहां पंडित मरण की अपेक्षा साधक को काल-कांक्षी कहा है।

शंका - मरण पर्यंत संयम का पालन करने की क्या आवश्यकता है?

समाधान - जीव के साथ इतने कर्म बंधे हुए हैं कि थोड़े काल में उनका क्षय होना संभव नहीं है अतः मरण पर्यंत संयम पालन की आवश्यकता है।

(१८५)

बहुं च खलु पावकम्मं पगडं, सच्चंमि धिइं कुव्वहा, एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावकम्मं झोसेइ।

कठिन शब्दार्थ - बहुं - बहुत, पावकम्मं - पापकर्म, कडं - किये, सच्चंमि - सत्य-संयम में, धिइं - धीरता, कुव्वहा - कर, एत्थोवरए - इस (संयम) में उपरत, झोसेइ - क्षय कर देता है।

भावार्थ - निश्चय ही इस जीव ने बहुत पापकर्म किये हैं। सत्य यानी संयम में धीरता (धैर्य-धृति) रखो। इस संयम में स्थित मेधावी (बुद्धिमान्) पुरुष समस्त पाप कर्मों को क्षय कर देता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में साधक को सत्य (संयम) में स्थिर रहने का महत्त्व बताया गया है। टीकाकार ने सत्य के निम्न अर्थ किये हैं -

१. प्राणियों के लिए जो हित है, वह सत्य है - वह है संयम।
 २. जिनेश्वर द्वारा उपदिष्ट आगम भी सत्य है क्योंकि वह यथार्थ वस्तु-स्वरूप को प्रकाशित करता है।
 ३. वीतराग द्वारा प्ररूपित विभिन्न प्रवचन रूप आदेश भी सत्य है।
- सत्य में धीरता रखने वाला पुरुष समस्त कर्मों को क्षय कर देता है।



असंयत की चित्तवृत्ति

(१८६)

अणोगचित्ते खलु अयं पुरिसे से केयणं अरिहए पुरइत्तए से अण्णवहाए, अण्णपरियावाए, अण्णपरिग्गहाए, जणवयवहाए, जणवयपरियावाए, जणवय-परिग्गहाए।

कठिन शब्दार्थ - अणोगचित्ते - अनेक चित्त वाला, केयणं - केतन - लोभेच्छा और तृष्णा रूप चलनी को, अरिहए - प्रयत्न करता है, पुरइत्तए - भरने का, पूरा करने का, अण्णवहाए - अन्य प्राणियों के वध के लिए, अण्णपरियावाए - अन्य को परिताप देने के लिए, अण्णपरिग्गहाए - दूसरों के परिग्रह के लिए, जणवयवहाए - जनपद के वध के लिए, जणवयपरियावाए - जनपद के परिताप के लिए, जणवयपरिग्गहाए - जनपद के परिग्रह के लिए।

भावार्थ - यह (असंयमी) पुरुष अनेक चित्त वाला होता है। वह लोभेच्छा एवं तृष्णा रूप चलनी को धन रूपी जल से भरने का प्रयत्न करता है। वह दूसरों के वध के लिए, दूसरों के परिताप के लिए, दूसरों के परिग्रह के लिए तथा जनपद के वध के लिए, जनपद के परिताप के लिए और जनपद के परिग्रह के लिए प्रवृत्ति करता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में असंयमी विषयासक्त लोभी पुरुष की व्याकुलता एवं विवेकहीनता का वर्णन किया गया है। वह पुरुष अनेकचित्त वाला होता है क्योंकि वह लोभ से प्रेरित होकर महारंभ महापरिग्रह के अनेक धंधे छेड़ता है उसका चित्त रात दिन उन्हीं धंधों की उधेड़बुन में लगा रहता है और अतिलोभी बनकर अपनी महातृष्णा को पूरी करने के लिए अन्य प्राणियों का वध करता है, उन्हें शारीरिक मानसिक कष्ट देता है। द्विपद (दास-दासी, नौकर-चाकर आदि) और चतुष्पद (चौपाये जानवरों) का परिग्रह - संग्रह करता है। इतना ही नहीं वह अपने तृष्णा रूपी खण्ण को भरने हेतु जनपद या नागरिकों का वध करने पर उतारू हो जाता है उन्हें नाना प्रकार की यातनाएं देने को उद्यत होता है तथा अनेक जनपदों को जीतकर अपने अधिकार में कर लेता है फिर भी उसकी इच्छाएं पूरी नहीं होती है।



विषयभोगों की निःसारता

(१८७)

आसेवित्ता एयमद्वं इच्चेवेगे समुट्टिया, तम्हा तं बिइयं णो सेवे णिस्सारं पासियं णाणी।

कठिन शब्दार्थ - आसेवित्ता - सेवन कर, समुट्टिया - समुत्थित - संयम में स्थित, बिइयं - दूसरी बार असंयम अथवा मृषावाद का, णिस्सारं - निःसार - सार रहित, पासियं-देखकर।

भावार्थ - कितनेक व्यक्ति इस अर्थ (वध, परिताप, परिग्रह आदि असंयम) का सेवन (आचरण) करके संयम साधना में संलग्न हो जाते हैं इसलिये वे पुनः उनका सेवन नहीं करते। ज्ञानी पुरुष विषय सेवन को सार रहित जान कर उसकी अभिलाषा न करे।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में विषय भोगों की निस्सारता बताते हुए इनसे विरत रहने की प्रेरणा की गयी है। विषयभोग इसलिए निस्सार है कि उनके प्राप्त होने पर तृप्ति कदापि नहीं होती। इसीलिए भरत चक्रवर्ती आदि विषयभोगों को निस्सार समझ कर संयम के लिए उद्यत हो गये फिर वे पुनः उसमें आसक्त नहीं हुए और संयम का विधिवत् पालन कर मोक्ष प्राप्त किया।

'बिइयं णो सेवे' के स्थान पर 'बिइयं नासेवते, बीयं णो सेवे, बिइयं णो सेवते' पाठ भी मिलते हैं। टीकाकार ने इनका अर्थ करते हुए कहा है कि - "द्वितीयं मृषावादमसंयमं वा नासेवते" - दूसरे मृषावाद का या असंयम (पाप) का सेवन नहीं करता।

(१८८)

उववायं चवणं णच्चा, अणण्णं चर माहणे।

कठिन शब्दार्थ - उववायं - उपपात (जन्म), चवणं - च्यवन (मृत्यु), अणण्णं - अनन्य - संयम या रत्नत्रयी का, माहणे - माहन - "जीवों को मत मारो" इस प्रकार का उपदेश देने वाला मुनि अथवा श्रावक।

भावार्थ - उपपात और च्यवन निश्चित है यह जान कर हे माहन! तू अनन्य - संयम का या रत्नत्रयी रूप मोक्ष मार्ग का पालन कर।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में जीव की अनित्यता का संदेश देते हुए संयम या मोक्षमार्ग का आचरण करने की प्रेरणा दी गयी है।



हिंसा का पाप

(१८६)

से ण छणे, ण छणावए, छणंतं णाणुजाणए।

भावार्थ - वह किसी प्राणी की हिंसा न करे, हिंसा न करावें और हिंसा करने वाले की अनुमोदना भी न करे।

विवेचन - 'छण' शब्द का रूपान्तर 'क्षण' होता है। "क्षणु हिंसायाम्" हिंसार्थक 'क्षणु' धातु से 'क्षण' शब्द बना है अतः प्रस्तुत सूत्र का अर्थ होता है स्वयं हिंसा न करे, न ही दूसरों से हिंसा कराए और हिंसा करने करने का अनुमोदन भी न करे।

(१६०)

णिव्विंदं णंदिं अरए पयासु अणोमदंसी णिसण्णे पावेहिं कम्मेहिं।

कठिन शब्दार्थ - णिव्विंद - घृणा कर, विरक्त होकर, णंदिं - आनंद से, अरए - अरक्त - रागरहित - अनासक्त, पयासु - स्त्रियों में, णिसण्णे - निवृत्त हो जाता है, अणोमदंसी - अनवमदर्शी - सम्यग्-दर्शन, ज्ञान चारित्र रूप मोक्षदर्शी।

भावार्थ - विषयानंद को घृणित समझ कर और स्त्रियों में आसक्ति रहित बन कर अनवमदर्शी - रत्नत्रयी रूप मोक्षदर्शी साधक पाप कर्मों से निवृत्त हो जाता है।

विवेचन - विषयभोगों की असारता, अस्थिरता एवं उनके दुःखद परिणाम को जान कर मुमुक्षु पुरुष विषयभोगों का त्याग कर देते हैं और संयम का पालन कर सभी कर्मों का क्षय कर देते हैं।

कषायों की भयंकरता

(१६१)

कोहाइमाणं हणिया य वीरे, लोभस्स पासे णिरयं महंतं।

तम्हा य वीरे विरए वहाओ, छिंदिज्ज सोयं लहुभूय गामी।

कठिन शब्दार्थ - कोहाइ - क्रोधादि, माणं - मान को, हणिया - हनन (नष्ट) करे,

पासे - देखे, गिरयं - नरक, महंतं - महान्, वहाओ - प्राणीवध से, विरए - विरत,

छिंदिज्ज - छेदन करे, सोयं - शोक या भाव स्रोत का, लहुभूयगामी - लघुभूतगामी-
लघुभूतकामी - मोक्ष गमन का इच्छुक।

भावार्थ - वीर पुरुष क्रोध, मान और माया का हनन करे तथा लोभ को महान् नरक के रूप में देखे। इसलिए वीर पुरुष प्राणिवध से निवृत्त हो जाय और द्रव्य तथा भाव से लघुभूत बन कर, मोक्ष गमन की इच्छा रखने वाला साधक शोक या भाव स्रोतों (विषय वासनाओं) का छेदन करे।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में कषायों की भयंकरता बतलाते हुए लोभ को नरक कहा गया है। क्योंकि लोभ के कारण हिसादि अनेक पाप होते हैं जिनसे प्राणी सीधा नरक में जाता है अतः मुमुक्षु पुरुष को कषायों का त्याग कर देना चाहिये।

“लहुभूयगामी” के दो रूप होते हैं - १. लघुभूतगामी और २. लघुभूतकामी। लघुभूत - जो कर्मभार से सर्वथा रहित है - मोक्ष या संयम की प्राप्ति के लिए जो गतिशील है वह ‘लघुभूतगामी’ है और जो लघुभूत (द्रव्य और भाव से हल्का) बनने की कामना - मनोरथ करता है वह ‘लघुभूतकामी’ कहलाता है।

ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र के छठे अध्ययन में लघुभूत तुम्बी का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि जैसे सर्वथा लेपरहित होने पर तुम्बी जल के ऊपर आ जाती है वैसे ही लघुभूत आत्मा संसार से ऊपर उठ कर मोक्ष प्राप्त कर लेती है।

पापों से विरत रहने की प्रेरणा

(१६२)

गंथं परिण्णाय इहज्ज वीरे, सोयं परिण्णाय चरिज्ज दंते।

उम्मज्ज लब्बुं इह माणवेहिं, णो पाणिणं पाणे समारभिज्जासि-त्ति बेमि।

॥ तइयं अज्झयणं बीओद्देसो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - गंथं - ग्रंथ (परिग्रह) को, परिण्णाय - ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर, अज्ज - आज ही, दंते - दान्त - दमन करके, उम्मज्ज - उन्मज्जन - संसार समुद्र से तिरना, समारभिज्जासि - समारम्भ करे।



भावार्थ - हे वीर! ग्रंथ (परिग्रह) को ज्ञ परिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से आज ही अविलम्ब त्याग दे। इसी प्रकार इन्द्रिय तथा मन का दमन करके विषय संग रूप संसार के स्रोतों को जानकर एवं त्याग कर संयम का पालन कर। इस संसार में मनुष्य भव धर्म श्रवण आदि संसार सागर से तिरने का सुअवसर प्राप्त कर के मनुष्यों को प्राणियों के प्राणों का समारम्भ नहीं करना चाहिये। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - कर्मों से मुक्त होने या संसार सागर से पार होने का पुरुषार्थ और उसके फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति मनुष्य लोक में मनुष्य के द्वारा ही संभव है, अन्यत्र नहीं। ऐसा जानकर मुमुक्षु आत्मा को द्रव्य एवं भाव ग्रंथि का त्याग कर संयम मार्ग में प्रवृत्त हो जाना चाहिये और संसार को बढ़ाने के साधन हिंसा आदि का त्याग कर देना चाहिये। जो मनुष्य भव को प्राप्त कर शुद्ध श्रद्धा सहित संयम का पालन करता है वह संसार समुद्र से तिर जाता है।

॥ इति तृतीय अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तदयं अज्झयणं तदओ उद्देशओ

तृतीय अध्ययन का तृतीय उद्देशक

तीसरे अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में पाप के कड़वे फल बताते हुए उनके त्याग का उपदेश दिया गया है और विषयासक्ति के त्याग की प्रेरणा की गयी है। प्रस्तुत तृतीय उद्देशक में पापों से बचने के लिये साधक को आत्मद्रष्टा बनने का संदेश दिया गया है। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

प्रमाद-त्याग

(१६३)

संधिं लोगस्स जाणित्ता।

भावार्थ - लोक की संधि को यानी धर्मानुष्ठान के अपूर्व अवसर को जानकर साधक प्रमाद न करे।



अहिंसा-पालन

(१६४)

आयओ बहिया पास, तम्हा ण हंता ण विघायए।

कठिन शब्दार्थ - आयओ - अपनी आत्मा के समान ही, बहिया - बाह्य जगत् को- दूसरी आत्माओं को, विघायए - घात करे।

भावार्थ - अपनी आत्मा के समान ही दूसरी आत्माओं को देख अर्थात् सभी जीवों को मेरे समान ही सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है इसलिए किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये और न ही दूसरों के द्वारा प्राणियों का घात कराना चाहिये।

विवेचन - मनुष्य भव, उत्तम कुल, धर्मश्रवण आदि दुर्लभ अंगों को प्राप्त करके विवेकी पुरुष को आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्ति करने में किञ्चिन्मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। सभी प्राणी सुख के अभिलाषी हैं अतः किसी भी प्राणी का वध नहीं करना चाहिये और न दुःख देना चाहिये।

(१६५)

जमिणं अण्णमण्णवित्तिगिच्छाए पडिलेहाए ण करेइ पावं कम्मं किं तत्थ मुणी कारणं सिया? समयं तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसायए।

कठिन शब्दार्थ - अण्णमण्णवित्तिगिच्छाए - परस्पर की आशंका से, पडिलेहाए - प्रतिलेखन करके, समयं - समता को, विप्पसायए - प्रसन्न रखे।

भावार्थ - जो परस्पर एक दूसरे की आशंका से, भय से या लज्जा से प्रतिलेखन - विशेष रूप से देख कर पाप कर्म नहीं करता है क्या उसमें मुनि होना कारण है? वहां समभाव का या आगम का पर्यालोचन - विचार कर अपनी आत्मा को प्रसन्न रखे, संयम में सावधानी रखे।

विवेचन - मुनित्व का संबंध भावना से है। मुनित्व भाव पूर्वक किए गए त्याग में हैं। केवल लोकलज्जा या लोकभय की दृष्टि से किसी पाप में प्रवृत्त नहीं होना ही मुनित्व नहीं है। जिस साधक के जीवन में समता - समभाव है जो आगम के अनुरूप संयम साधना में संलग्न है, जो इन्द्रिय और मन का गोपन करके अपनी आत्मा में केन्द्रित होता है, आत्मद्रष्टा बनता है, वही मुनि है।

समर्थ शब्द के तीन अर्थ होते हैं - १. समता २. आत्मा और ३. सिद्धान्त। तीनों अर्थों को ध्यान में रखकर साधक को पाप कर्म-त्याग की प्रेरणा दी गई है। इसीसे आत्मा प्रसन्न होती है।

(१६६)

अणणपरमं णाणी णो पमाए कयाइवि। आयगुत्ते सया धीरे, जायामायाइ जावए।

कठिन शब्दार्थ - अणणपरमं - अनन्यपरम - सर्वोच्च परम सत्य, संयम, आयगुत्ते- आत्मगुप्त, जायामायाइ - संयम यात्रा मात्रा से, जावए - निर्वाह करे - कालयापन करे।

भावार्थ - ज्ञानी मुनि संयम में कभी भी प्रमाद न करे। वीर पुरुष सदा आत्मगुप्त रहे। वह अपनी संयम यात्रा का निर्वाह मात्रा के अनुसार आहार से करे।

विवेचन - इस संसार में संयम से बढ़ कर दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। अतः संयम के अनुष्ठान में मुनि को प्रमाद नहीं करना चाहिये। साधु इन्द्रिय और मन को पाप में न जाने देकर अपनी आत्मा की रक्षा करे और जितना आहार करने से संयम के आधारभूत शरीर का निर्वाह हो सके उतने से ही अपना निर्वाह करें किंतु अधिक आहार का सेवन न करे।

(१६७)

विरागं रूवेहिं गच्छिज्जा महया खुइएहिं वा।

कठिन शब्दार्थ - विरागं - वैराग्य को, महया - महान् यानी दिव्य, खुइएहिं - क्षुद्र-तुच्छ।

भावार्थ - वह साधक छोटे या बड़े (दिव्य अथवा क्षुद्र) रूपों में वैराग्य - विरतिभाव को धारण करे।

(१६८)

आगइं गइं परिणाय दोहिंवि अंतेहिं अदिस्समाणेहिं से ण छिज्जइ, ण भिज्जइ, ण उज्जइ ण हम्मइ कंचणं सव्वलोए।

कठिन शब्दार्थ - अदिस्समाणेहिं - अदृश्यमानाभ्यां - अदृश्य करता हुआ, छिज्जइ - छेदा जाता, भिज्जइ - भेदन किया जाता, उज्जइ - जलाया जाता, हम्मइ - हनन किय जाता, कंचणं - किसी के द्वारा, सव्वलोए - सर्वलोक में।



भावार्थ - समस्त प्राणियों की आगति और गति को जान कर दोनों अंतों - राग और द्वेष को त्याग देने वाला पुरुष संपूर्ण लोक में किसी के द्वारा छेदन नहीं किया जाता, भेदन नहीं किया जाता, अग्नि आदि से जलाया नहीं जाता और मारा नहीं जाता है।

विवेचन - जो साधक शब्दादि विषयों में रागद्वेष नहीं करता है वह चार गतियों में गमनागमन का त्याग कर पांचवीं गति मोक्ष को प्राप्त कर लेता है एवं संसार के विविध दुःखों से मुक्त हो जाता है।

आत्मा का अतीत और भविष्य

(१६६)

अवरेण पुष्विं ण सरंति एगे, किमस्सतीतं? किंवाऽऽगमिस्सं?

भासंति एगे इह माणवाओ, जमस्सतीतं तं आगमिस्सं।

कठिन शब्दार्थ - अवरेण - भविष्य के साथ, पुष्विं - पूर्वकाल की, सरंति - स्मरण करते हैं, अतीतं - अतीत - भूतकाल, आगमिस्सं - भविष्यकाल।

भावार्थ - कुछ अज्ञानी पुरुष भविष्यकाल के साथ पूर्वकाल का स्मरण नहीं करते। वे इसकी चिंता नहीं करते कि इसका अतीत क्या था, भविष्य क्या होगा? कुछ मूढमति - मिथ्याज्ञानी मानव यों कह देते हैं कि इस जीव का जो अतीत था, वही इसका भविष्य होगा।

(२००)

णाईयमट्ठं णय आगमिस्सं, अट्ठं णियच्छंति तहागया उ, विहूयकप्पे एयाणु-पस्सी, णिज्झोसइत्ता खवए महेसी।

कठिन शब्दार्थ - णाईयमट्ठं - अतीतकाल के अर्थ को, णियच्छंति - स्मरण करते हैं, तहागया - तथागत-सर्वज्ञ (सिद्ध), विहूयकप्पे - विधूतकल्प - कर्मों का नाश करने वाला - जिसने विविध प्रकार से कर्मों को धूत - कम्पित कर दिया है ऐसे कल्प - आचार वाला, एयाणुपस्सी - इस प्रकार देखने वाला, णिज्झोसइत्ता - कर्मों का शोषण करके, खवए - क्षपक - क्षय करने वाला, महेसी - महर्षि।



भावार्थ - तथागत अर्थात् फिर संसार में नहीं आते ऐसे सिद्ध भगवान् न तो अतीतकाल के सुख को स्मरण करते हैं और न आगामी काल के सुख की इच्छा करते हैं। इसी प्रकार कर्मों का क्षय करने के लिए उद्यत बना तपस्वी महर्षि साधक भी इसी मार्ग का अनुसरण करता है, अर्थात् अतीत के सुख का स्मरण नहीं करता और भविष्य के स्वर्गादि सुख पाने की इच्छा नहीं करता है किंतु पूर्व संचित कर्मों का शोषण करके उन्हें क्षीण कर देता है।

विवेचन - इस जगत् में बहुत से पुरुष वर्तमान को ही देखते हैं, भूत और भविष्य का विचार नहीं करते। वे यह नहीं जानते हैं कि हम कहां से आये हैं और कहां जायेंगे? तथा हमारी क्या दशा होने वाली है? ऐसा विचार वे नहीं करते हैं इसलिए वे संसार परिभ्रमण करते रहते हैं।

जो आठों कर्मों का क्षय करके मोक्ष में चले जाते हैं वे फिर कभी संसार में नहीं आते हैं। ऐसे सिद्ध भगवान् और उनके मार्ग का अनुसरण करने वाले पुरुष गत काल के सुखों का स्मरण नहीं करते और आगामी काल के सुखों की चाह भी नहीं करते हैं। वे भी कर्मक्षय कर मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।

रति और अरति

(२०१)

का अरई? के आणंदे? एत्थंपि अग्गहे चरे।

सव्वं हासं परिच्चज्ज, अलीणगुत्तो परिव्वए।

कठिन शब्दार्थ - अरई - अरति, आणंदे - आनंद, अग्गहे - अग्रह - ग्रहण रहित-अनासक्त होकर, चरे - विचरण करे, हासं - हास्य को, परिच्चज्ज - त्याग कर, अलीणगुत्तो-अलीनगुप्त - मन और इन्द्रियों का कछुए की तरह गोपन कर।

भावार्थ - योगी के लिये अरति क्या है और आनंद क्या है? इन अरति और आनंद के विषय में बिल्कुल ग्रहण रहित होकर - अनासक्त होकर विचरण करे। वह सभी प्रकार के हास्य को त्याग करके जितेन्द्रिय एवं मन वचन काया से गुप्त होकर संयम का पालन करे।



विवेचन - रति और अरति अर्थात् हर्ष और विषाद अज्ञानियों को हुआ करते हैं। ज्ञानी पुरुष तो सभी अवस्थाओं में समभाव रखते हैं और शुद्ध संयम का पालन करते हैं।

तू ही तेरा मित्र

(२०२)

पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि?

भावार्थ - हे पुरुष! हे आत्मन्! तू ही तेरा मित्र है। बाह्य मित्र की इच्छा क्यों करता है? अर्थात् फिर बाहर अपने से भिन्न मित्र क्यों ढूँढ रहा है?

विवेचन - शास्त्रकार फरमाते हैं कि हे आत्मन्! तू ही तेरा मित्र है। बाह्य मित्र की तू क्यों इच्छा करता है? कुमार्ग पर चलती हुई यह आत्मा ही आत्मा की शत्रु है और सुमार्ग पर चलती हुई आत्मा ही आत्मा का मित्र है।

(२०३)

जं जाणिज्जा उच्चालइयं तं जाणिज्जा दूरालइयं, जं जाणिज्जा दूरालइयं तं जाणेज्जा उच्चालइयं।

कठिन शब्दार्थ - उच्चालइयं - उच्चभूमिका पर स्थित, विषय संग को दूर करने वाला, कर्मों को दूर करना, दूरालइयं - अत्यंत दूर - मोक्ष मार्ग में स्थित।

भावार्थ - जिस पुरुष को, विषय के संग को दूर करने वाला, कर्मों को दूर करने वाला जानो उसे मोक्ष मार्ग का पथिक समझो और जिसे मोक्ष मार्ग का पथिक समझो, उसे कर्मों को दूर करने वाला समझो।

आत्म-निग्रह

(२०४)

पुरिसा! अत्ताणमेवं अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमुच्चसि।

कठिन शब्दार्थ - अत्ताणमेवं - अपनी आत्मा को ही, अभिणिगिज्झ - निग्रह कर।



भावार्थ - हे पुरुष! तू अपनी आत्मा का ही निग्रह कर यानी धर्म मार्ग से विमुख जाती हुई आत्मा को रोक, इस प्रकार करने से तू दुःखों से छूट जायगा।

सत्य ग्रहण की प्रेरणा

(२०५)

पुरिसा! सच्चमेव समभिजाणाहि, सच्चस्साणाए से उवड्डिए मेहावी मारं तरइ सहिओ धम्ममायाय सेयं समणुपस्सइ।

कठिन शब्दार्थ - सच्चमेव - सत्य - संयम को ही, समभिजाणाहि - भलीभांति जानकर, सच्चस्साणाए - सत्य की आज्ञा में, मारं - मृत्यु को, तरइ - तिर जाता है, सहिओ - ज्ञानादि से युक्त, धम्ममायाय - धर्म को ग्रहण करके, सेयं - श्रेय - आत्महित को, समणुपस्सइ - सम्यक् प्रकार से देखता है।

भावार्थ - हे पुरुष! तू सत्य संयम को ही भलीभांति समझ। सत्य की आज्ञा में उद्यमवान् अर्थात् सत्य की आराधना करने वाला मेधावी पुरुष मृत्यु को यानी जन्म-मरण के कारणभूत संसार को तिर जाता है। ज्ञानादि से युक्त पुरुष, श्रुत और चारित्र रूप धर्म को ग्रहण करके श्रेय - आत्महित को सम्यक् प्रकार से देखता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में परम सत्य को ग्रहण करने की प्रेरणा दी गई है। टीकाकार ने सत्य के निम्न अर्थ किये हैं -

१. प्राणी मात्र के लिए हितकर - संयम २. गुरु साक्षी से गृहीत पवित्र संकल्प ३. सिद्धान्त या सिद्धान्त प्रतिपादक आगम।

अर्थात् साधक किसी भी परिस्थिति में सत्य (संयम) का त्याग नहीं करे। सत्य - स्वीकृत संकल्प एवं सिद्धान्त का पालन करे।

(२०६)

दुहओ, जीवियस्स परिवंदण-माणणपूयणाए, जंसि एगे पमायंति।

कठिन शब्दार्थ - दुहओ - द्विहतः (दुर्हतः) दो प्रकार से, दोनों से, राग और द्वेष से, पमायंति - प्रमाद करते हैं।



भावार्थ - राग और द्वेष से कलुषित आत्मा, जीवन की वंदना, मान और पूजा प्रतिष्ठा के लिए हिंसादि पापों में प्रवृत्त होती है। कितनेक जीव परिवंदन आदि के लिए प्रमाद करते हैं।

विवेचन - अज्ञानी मनुष्य अपने इस क्षण भंगुर जीवन को वंदनीय, माननीय और पूजनीय बनाने के लिये नाना प्रकार से पापाचरण करते हैं। दुहओ (दुहतः) शब्द के टीकाकार ने चार अर्थ किये हैं - १. राग और द्वेष दो प्रकार से २. स्व और पर के निमित्त से ३. इहलोक और परलोक के लिए ४. दोनों से-राग और द्वेष से जो हत है, वह दुर्हत है।

दुःखों से मुक्ति

(२०७)

सहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो णो झंझाए, पासिमं दविए लोए लोयालोयपवंचाओ मुच्चइ त्ति बेमि।

॥ तइओ उद्देसो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - दुक्खमत्ताए - दुःख की मात्रा से, झंझाए - व्याकुल, दविए - द्रव्यभूत - शुद्ध संयम का पालन करने वाला, मोक्ष मार्ग पर गतिशील साधक, लोयालोय-पवंचाओ - लोकालोक के प्रपंच से।

भावार्थ - ज्ञानादि से युक्त पुरुष दुःख की मात्रा से स्पृष्ट होने पर व्याकुल नहीं होता। हे साधक! तू यह देख कि द्रव्यभूत-मोक्ष मार्ग का पथिक, शुद्ध संयम का पालन करने वाला मुनि लोकालोक के प्रपंच से मुक्त हो जाता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - ज्ञानवान् साधक संयम के परीषह - उपसर्गों से नहीं घबराता हुआ समभाव पूर्वक मोक्ष मार्ग पर आगे बढ़ता रहता है और अंत में सभी बंधनों से मुक्त हो कर शाश्वत सुखों का स्वामी बन जाता है।

॥ इति तृतीय अध्ययन का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥



तदयं अज्झयणं चउत्थो उद्देशओ

तृतीय अध्ययन का चतुर्थ उद्देशक

तृतीय अध्ययन के तृतीय उद्देशक में साधक को परीषह उपसर्गों में समभाव, धैर्यता एवं सहिष्णुता बनाए रखने का उपदेश दिया है। इस चतुर्थ उद्देशक में साधक को कषाय-जय की प्रेरणा दी गई है। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

कषाय-त्याग

(२०८)

से वंता कोहं च, माणं च, मायं च, लोभं च, एयं पासगस्स दंसणं,
उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स आयाणं सगडब्धि।

कठिन शब्दार्थ - वंता - वमन कर देता है, पासगस्स - सर्वज्ञ-सर्वदर्शी का, दंसणं - दर्शन (उपदेश), उवरयसत्थस्स - शस्त्र से उपरत (निवृत्त), पलियंतकरस्स - कर्म एवं संसार का अंत करने वाले, आयाणं - आदान - कषायों, आस्रवों का, सगडब्धि - स्वकृत कर्मों का भेत्ता।

भावार्थ - ज्ञानादि से युक्त संयमनिष्ठ मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ का शीघ्र ही त्याग कर देता है। यह दर्शन (उपदेश) द्रव्य और भाव शस्त्र से निवृत्त और समस्त कर्मों का अंत करने वाले सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकरों का है। जो कर्मों के आदान - हिंसा आदि आस्रवों का त्याग करता है वह स्वकृत कर्मों का नाश करने वाला है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में चारों कषायों के वमन (त्याग) का निर्देश किया गया है। सूत्रकार ने कषायों के त्याग के लिए वंता शब्द का प्रयोग किया है। जैसे वमन किये हुए पदार्थ को ग्रहण करना बुद्धिमत्ता नहीं है उसी प्रकार कषायों का संपूर्ण त्याग कर दे।

कषाय त्याग को सर्वज्ञ सर्वदर्शी का दर्शन इसलिये बताया गया है कि कषाय का सर्वथा त्याग किये बिना केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति नहीं होती और केवलज्ञान, केवलदर्शन के बिना मोक्ष नहीं होता। अतः कषायों का त्यागी ही स्वकृत कर्मों का भेदन - नाश करने वाला होता है।



(२०६)

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।

भावार्थ - जो एक को जानता है वह सब को जानता है और जो सब को जानता है वह एक को जानता है।

विवेचन - भूतकाल और भविष्यत्काल की अपेक्षा एक पदार्थ की अनन्त पर्यायें होती हैं। उन्हें समस्त रूप से सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् ही जानते हैं। अतः यह बात सिद्ध होती है कि जो अनन्त पर्यायों सहित एक द्रव्य (पदार्थ) को जानता है वह समस्त पदार्थों को जानता है और जो समस्त पदार्थों को जानता है वही अनन्त पर्यायों सहित एक पदार्थ को सम्पूर्ण रूप से जानता है।

प्रमत्त-अप्रमत्त

(२१०)

सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स णत्थि भयं।

कठिन शब्दार्थ - पमत्तस्स - प्रमत्त - प्रमादी व्यक्ति को, भयं - भय, सव्वओ - सब तरफ से, अप्पमत्तस्स - अप्रमत्त को।

भावार्थ - प्रमत्त (प्रमादी व्यक्ति) को सब ओर से भय रहता है अप्रमत्त को कहीं से भी भय नहीं होता।

विवेचन - जो पुरुष प्रमाद करता है यानी आत्मोद्धार के मार्ग को छोड़ कर अवनति के मार्ग में जाता हुआ मद्यपान आदि निर्दित कर्म करता है उसको इहलोक और परलोक दोनों में ही भय होता है। जो पुरुष अपने कल्याण में सदा सावधान (अप्रमत्त) रहता है उसको संसार से अथवा कर्मों से भय नहीं होता है क्योंकि समस्त अनर्थों के मूलभूत कषाय का वह विनाश कर चुका है।

(२११)

जे एगं णामे से बहं णामे, जे बहं णामे से एगं णामे।

कठिन शब्दार्थ - णामे - झुकाता है, क्षय करता है।



भावार्थ - जो एक (अनंतानुबंधी कषाय) को क्षय करता है वह बहुत (बहुत सी कर्मप्रकृतियों) का क्षय करता है और जो बहुत का क्षय करता है वह एक का क्षय करता है।

कषाय-त्याग का फल

(२१२)

दुःखं लोगस्स जाणित्ता, वंता लोगस्स संजोगं, जंति वीरा महाजाणं, परेणं परं जंति णावकंखंति जीवियं ।

कठिन शब्दार्थ - संजोगं - संयोग को, महाजाणं - महायान - मोक्ष पथ को, परेण परं - आगे से आगे बढ़ते हुए मोक्ष को।

भावार्थ - साधक लोक के दुःख को, दुःख के कारणभूत कषाय को जान कर उन्हें त्याग दे।

धीर (वीर) साधक लोक के संयोग (धन पुत्र आदि में ममत्व कृत संबंध) को त्याग कर महायान - मोक्षपथ को प्राप्त करते हैं वे आगे से आगे बढ़ते जाते हैं उन्हें फिर असंयमी जीवन की आकांक्षा नहीं रहती है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में कषाय त्याग की उपलब्धियों का वर्णन किया गया है। कर्म विदारण में समर्थ, सहिष्णु अथवा कषाय विजयी साधक को वीरा - वीर कहा गया है।

महाजाणं शब्द के टीकाकार ने निम्न अर्थ किये हैं -

१. महान् यान (जहाज), रत्नत्रयी रूप धर्म, महायान के समान है जो साधक को मोक्ष तक पहुँचा देता है।

२. महायान अर्थात् मोक्ष, रत्नत्रयी को महायान - महान् यान - मोक्ष कहा गया है।

३. महायान अर्थात् विशाल पथ - राजमार्ग, संयम का पथ राजमार्ग है जिस पर साधक निर्भय होकर चल सकते हैं।

“परेण परं जंति” का आशय है - कषाय क्षय करके आगे से आगे बढ़ना। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र का पालन करके कितनेक जीव अनुत्तर विमान तक देवलोकों को प्राप्त करते हैं और बाद में संपूर्ण कर्मों को क्षय कर मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार पर अर्थात् संयम आदि के पालन से पर अर्थात् स्वर्ग और परम्परा से अपवर्ग (मोक्ष) भी जीव प्राप्त कर लेता है। अथवा पर - सम्यग्दृष्टि गुणस्थान (चौथे) से उत्तरोत्तर आगे बढ़ते बढ़ते साधक

अयोगी केवली नामक चौदहवें गुणस्थान तक पहुँच जाता है। अथवा पर - अनंतानुबंधी कषाय क्षय से पर - दर्शन मोह - चारित्र मोह का क्षय अथवा घातीकर्मों का क्षय कर लेता है अथवा पर - तेजोलेश्या से पर - उत्तरोत्तर (विशिष्टतर) शुभ लेश्या को प्राप्त कर लेता है।

(२१३)

एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ पुढो विगिंचमाणे एगं विगिंचइ।

कठिन शब्दार्थ - विगिंचमाणे - क्षय करता हुआ, विगिंचइ - क्षय करता है।

भावार्थ - क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ साधक एक अनंतानुबंधी कषाय का क्षय करता हुआ पृथक् - अन्य दर्शनावरण आदि का भी क्षय कर लेता है। पृथक् - अन्य का क्षय करता हुआ एक अनंतानुबंधी कषाय का क्षय कर देता है।

(२१४)

सङ्गी आणाए मेहावी।

भावार्थ - वीतराग की आज्ञा में श्रद्धा रखने वाला मेधावी होता है।

(२१५)

लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुओभयं।

कठिन शब्दार्थ - लोगं - लोक (षड्जीवनिकाय रूप या कषाय रूप लोक) को, अभिसमिच्चा - जान कर, अकुओभयं - अकुतोभय - पूर्ण अभय - किसी को भय नहीं देता।

भावार्थ - साधक जिनवाणी के अनुसार छह काय जीव रूप लोक अथवा कषाय रूप लोक को जान कर त्याग देता है वह अकुतोभय - पूर्ण अभय हो जाता है, वह किसी भी प्राणी को भय नहीं देता है।

शस्त्र-अशस्त्र

(२१६)

अत्थि सत्थं परेण परं, णत्थि असत्थं परेण परं।



भावार्थ - शस्त्र एक से बढ़ कर एक तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर होता है किंतु अशस्त्र (संयम) एक से बढ़ कर एक नहीं होता। यानी संयम से उत्कृष्ट कुछ भी नहीं है।

विवेचन - शस्त्र के द्वारा प्राणियों को भय उत्पन्न होता है। वह शस्त्र दो प्रकार का कहा गया है - १. द्रव्य शस्त्र और २. भाव शस्त्र।

द्रव्य शस्त्र एक दूसरे से तीक्ष्ण से तीक्ष्ण होता है जिससे प्राणियों को भय होता है किंतु संयम (अशस्त्र) से किसी को भय नहीं होता। संयम सब प्राणियों को अभय देने वाला है। वह एक ही प्रकार का है। उसकी भिन्न भिन्न कक्षाएं नहीं हैं क्योंकि संयमधारी साधक पृथ्वी आदि समस्त प्राणियों में समभाव रखता है। उसका किसी के साथ द्वेष नहीं होता। अथवा शैलेशी अवस्था वाले संयम से बढ़ कर दूसरा संयम नहीं है क्योंकि उससे ऊपर कोई गुणस्थान नहीं है।

कषाय त्यागी की पहचान

(२१७)

जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायादंसी, जे मायादंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पिज्जदंसी, जे पिज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से णरयदंसी, जे णरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी।

कठिन शब्दार्थ - कोहदंसी - क्रोधदर्शी - क्रोध को, क्रोध के स्वरूप को देखने वाला, माणदंसी - मानदर्शी, मायादंसी - मायादर्शी, लोहदंसी - लोभदर्शी, पिज्जदंसी - प्रेम (राग) दर्शी, दोसदंसी - द्वेषदर्शी, मोहदंसी - मोहदर्शी, गब्भदंसी - गर्भदर्शी, जम्मदंसी - जन्मदर्शी, मारदंसी - मृत्युदर्शी, णरयदंसी - नरकदर्शी, तिरियदंसी - तिर्यचदर्शी, दुक्खदंसी - दुःखदर्शी।

भावार्थ - जो क्रोधदर्शी होता है वह मानदर्शी होता है। जो मानदर्शी होता है वह मायादर्शी होता है। जो मायादर्शी होता है वह लोभदर्शी होता है। जो लोभदर्शी होता है वह प्रेमदर्शी होता है। जो प्रेमदर्शी होता है वह द्वेषदर्शी होता है। जो द्वेषदर्शी होता है वह मोहदर्शी होता है। जो मोहदर्शी होता है वह गर्भदर्शी होता है। जो गर्भदर्शी होता है वह जन्मदर्शी होता



है। जो जन्मदर्शी होता है वह मृत्युदर्शी होता है। जो मृत्युदर्शी होता है वह नरकदर्शी होता है। जो नरकदर्शी होता है वह तिर्यचदर्शी होता है। जो तिर्यचदर्शी होता है वह दुःखदर्शी होता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में क्रोधादि का स्वरूप जानकर उसका त्याग करने वाले साधक की पहिचान बताई गयी है। क्रोधदर्शी आदि में दर्शी शब्द का अर्थ है - क्रोधादि के स्वरूप तथा परिणाम को ज्ञ परिज्ञा से जान कर, देख कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग करने वाला।

तीर्थकरों का उपदेश

(२१८)

से मेहावी अभिणिवट्टिजा, कोहं च-माणं च-मायं च-लोहं च-पिज्जं च-
दोसं च-मोहं च-गब्भं च-जम्मं च-मरणं च-णरयं च-तिरियं च-दुक्खं च एयं
पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स।

कठिन शब्दार्थ - अभिणिवट्टिजा - त्याग दे, निवृत्त हो जाय।

भावार्थ - वह मेधावी क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम (राग), द्वेष, मोह, गर्भ, जन्म, मृत्यु, नरक, तिर्यच और दुःख को त्याग दे। यह दर्शन (उपदेश) सभी प्रकार के शस्त्रों से उपरत (निवृत्त) कर्मों का अन्त करने वाले सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थकर भगवान् का है।

(२१९)

आयाणं णिसिद्धा सगडब्धि।

भावार्थ - जो साधक आदान - कर्म के कारण हिंसादि को रोकता है वही स्वकृत कर्म का भेदन करता है।

(२२०)

किमत्थि ओवाही पासगस्स? ण विज्जइ? णत्थि त्ति वेमि।

॥ चउत्थोद्देशो समत्तो ॥

॥ सीओसणीयं णामं तइयं अज्झयणं समत्तं ॥



कठिन शब्दार्थ - किं - क्या, अत्थि' - होती है, ओवाही - उपाधि, पासगस्स - सर्व द्रष्टा - केवली भगवान् के।

भावार्थ - क्या सर्वज्ञ सर्वदर्शी केवली भगवान् के कोई भी उपाधि होती है या नहीं होती है? नहीं होती है - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - 'ज्ञानस्य फलं विरति' - ज्ञान का फल विरति है। अतः क्रोधादि के स्वरूप को जान कर साधक इनका त्याग कर दे। यही तीर्थंकर भगवान् का उपदेश है।

जिस वस्तु को ग्रहण किया जाय, उसे उपाधि कहते हैं। उपाधि दो प्रकार की होती है - १. द्रव्य उपाधि - स्वर्णादि भौतिक साधन सामग्री और २. भाव उपाधि - अष्ट कर्म।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् में द्रव्य उपाधि तो होती नहीं और भाव उपाधि में उन्होंने चार घाती कर्मों का क्षय कर दिया है। शेष चार कर्म भी कर्मबंधन के कारण नहीं बनते। केवल आयुकर्म के कारण उनका अस्तित्व मात्र रहता है अतः उन्हें उपाधि रूप नहीं माना गया है। क्योंकि आयु कर्म के साथ उनका भी क्षय कर केवली भगवान् मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार द्रव्य उपाधि और भाव उपाधि संसार परिभ्रमण का कारण है और इनका त्याग संसार नाश का कारण है। इसलिए साधक को द्रव्य उपाधि और भाव उपाधि से निवृत्त होने का पुरुषार्थ करना चाहिये। यही इस तीसरे अध्ययन का सार है।

॥ इति तृतीय अध्ययन का चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

॥ तृतीय शीतोष्णीय अध्ययन समाप्त ॥



समतं णामं चउत्थं अज्झायणं

सम्यक्त्वं नामकं चतुर्थं अध्ययन

चउत्थं अज्झायणं पढमोद्देशो

चतुर्थं अध्ययन का प्रथम उद्देशक

शस्त्र परिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन में छह काय जीवों का वर्णन करके जीव और जीव पदार्थों का निरूपण किया गया है। जीवों के वध से कर्मबन्ध और उनका वध नहीं करने से तथा उनकी रक्षा करने से कल्याण होना बता कर आस्रव और संवर नामक दो पदार्थ (तत्त्व) कहे गये हैं। इस प्रकार प्रथम अध्ययन में जीव, अजीव, आस्रव और संवर ये चार तत्त्व कहे गये हैं। लोक विजय नामक दूसरे अध्ययन में जिस प्रकार प्राणियों के कर्मबन्ध होता है और जिस प्रकार उनकी कर्मों से मुक्ति होती है यह बता कर बन्ध और निर्जरा नामक पदार्थ कहे गये हैं। शीतोष्णीय नामक तीसरे अध्ययन में साधु को शीत और उष्ण परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिये। यह कह कर उनके फल रूप मोक्ष का निरूपण किया गया है। इस प्रकार इन तीन अध्ययनों में जीव, अजीव, आस्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष - ये सात पदार्थ कहे गये हैं परंतु इन अध्ययनों में मोक्ष साधना के मूल कारण सम्यक्त्वं का वर्णन नहीं आया है। अतः आगमकार इस चतुर्थ अध्ययन में सम्यक्त्वं का वर्णन करते हैं। इसके प्रथम उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

अहिंसा धर्म का निरूपण

(२२१)

से वेमि-जे य अईया, जे य पडुप्पण्णा, जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे, एवमाइक्खंति एवं भासंति एवं पण्णवित्ति, एवं परूवित्ति सव्वे पाणा,

सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेत्तव्वा
ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा।

कठिन शब्दार्थ - पडुप्पण्णा - प्रत्युत्पन्नाः - वर्तमान में हैं, आगमिस्सा - अनागताः-
भविष्य में होंगे, आइक्खंति - आख्यान - कथन करते हैं, भासंति - भाषण करते हैं,
पण्णवेंति - प्रज्ञापन करते हैं, परूवेंति - प्ररूपण करते हैं, ण हंतव्वा - हनन नहीं करना
चाहिये, ण अज्जावेयव्वा - बलात् उन्हें शासित नहीं करना चाहिये, आज्ञा न देना चाहिये, ण
परिघेत्तव्वा- दास नहीं बनाना चाहिये, ण परितावेयव्वा - परिताप न देना चाहिये, ण
उद्दवेयव्वा - न उनके ऊपर उपद्रव करना चाहिये अर्थात् प्राणों से विमुक्त नहीं करना चाहिये।

भावार्थ - मैं कहता हूँ - जो अर्हन्त भगवान् अतीत - भूतकाल में हुए हैं जो वर्तमान में
हैं और जो भविष्यकाल में होंगे वे सब इस प्रकार कहते हैं, इस प्रकार भाषण करते हैं, इस
प्रकार प्रज्ञापन करते हैं, इस प्रकार प्ररूपण करते हैं - सर्व प्राणियों (बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और
चउरिन्द्रियों) सर्व भूतों (वनस्पतिकाय के जीव) सर्व जीवों (पंचेन्द्रिय जीव) और सर्व सत्त्वों
(पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय के जीव) का हनन नहीं करना चाहिये, बलात् उन्हें
शासित नहीं करना चाहिये, उन्हें दास नहीं बनाना चाहिये, उन्हें परिताप नहीं देना चाहिये और
उन्हें प्राणों से रहित भी नहीं करना चाहिये।

(२२२)

एस धम्मे सुद्धे, णिइए-सासए-समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए, तंजहा-उट्टिएसु
वा, अणुट्टिएसु वा, उवट्टिएसु वा अणुवट्टिएसु वा, उवरयदंडेसु वा, अणुवरयदंडेसु
वा, सोवहिएसु वा, अणुवहिएसु वा, संजोगरएसु वा, असंजोगरएसु वा।

कठिन शब्दार्थ - सुद्धे - शुद्ध, णिइए - नित्य, सासए - शाश्वत, समिच्च -
सम्यक् प्रकार से जान कर, खेयण्णेहिं - खेदज्ञ तीर्थकरों के द्वारा, उट्टिएसु - उत्थित - उद्यत,
अणुट्टिएसु - अनुत्थित - अनुद्यत, उवट्टिएसु - उपस्थित, अणुवट्टिएसु - अनुपस्थित,
उवरयदंडेसु- दण्ड देने से उपरत (निवृत्त), अणुवरयदंडेसु - अनुपरत - अनिवृत्त, सोवहिएसु-
सोपधिक - उपधि से युक्त, अणुवहिएसु - उपधि से रहित, संजोगरएसु - संयोगों में रत,
असंजोगरएसु - संयोगों में अरत।



भावार्थ - यह अहिंसा रूप धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है। खेदज्ञ तीर्थकरों ने समस्त लोक को सम्यक् प्रकार से जान कर इसका प्रतिपादन किया है। जैसे कि - जो धर्माचरण के लिए उत्थित - उठे हैं अथवा नहीं उठे हैं, जो धर्म सुनने के लिए उपस्थित हुए हैं या नहीं हुए हैं, जो प्राणियों को दण्ड देने से उपरत - निवृत्त हैं या अनुपरत हैं, जो उपधि से युक्त हैं या उपधि से रहित हैं, जो स्त्री, पुत्र आदि संयोगों में रत हैं अथवा संयोगों में रत नहीं हैं।

विवेचन - प्रस्तुत दो सूत्रों में अहिंसा धर्म का सम्यक् निरूपण किया गया है।

गत काल में अनंत तीर्थकर हो चुके हैं और भविष्यत् काल में अनंत तीर्थकर होंगे तथा वर्तमान में पांच महाविदेह क्षेत्र में जघन्य २० तीर्थकर और उत्कृष्ट १६० तीर्थकर विद्यमान हैं। उन सब का यही फरमाना है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये, उन्हें शारीरिक या मानसिक कष्ट न देना चाहिये तथा उनके प्राणों का नाश नहीं करना चाहिये। यह अहिंसा धर्म नित्य है, शाश्वत है। संसार सागर में डूबते हुए प्राणियों पर अनुकम्पा करके उनके उद्धार के लिए तीर्थकर भगवंतों ने यह अहिंसात्मक धर्म फरमाया है।

प्रस्तुत सूत्रों में प्रयुक्त शब्दों के विशेष अर्थ इस प्रकार हैं -

आख्यानंति - आख्यान करते हैं - दूसरों के द्वारा प्रश्न किये जाने पर उसका उत्तर देना आख्यान-कथन कहलाता है।

भासंति - भाषण देते हैं - देव मनुष्यादि परिषद् में बोलना भाषण कहलाता है।

पण्णवेति - प्रज्ञापन करते हैं - शिष्यों की शंका का समाधान करने के लिए कहना 'प्रज्ञापन' है।

परुवेति - प्ररूपण करते हैं - तात्त्विक दृष्टि से किसी तत्त्व या पदार्थ का निरूपण करना 'प्ररूपण' कहलाता है।

हंतव्या - डंडा/चाबुक आदि से मारना-पीटना।

अज्जावेयव्या - बलात् काम लेना, जबरन आदेश (आज्ञा) का पालन कराना, शासित करना।

परिघेतव्या - बंधक या गुलाम बना कर अपने कब्जे में रखना। दास-दासी आदि रूप में रखना।

परितावेयव्या - परिताप देना, सताना, हैरान करना, व्यथित करना।

उद्धवेयव्या - प्राणों से रहित करना, मार डालना।



सुद्धे - शुद्ध - अहिंसा धर्म हिंसादि से किंचित् भी मिश्रित नहीं होने से शुद्ध है।

णिङ्गए - नित्य - अहिंसा धर्म त्रैकालिक, सार्वदेशिक और महाविदेह की अपेक्षा सदा सर्वत्र विद्यमान होने से 'नित्य' कहा गया है।

सासए - शाश्वत-सिद्धि गति का कारण होने से अहिंसा धर्म शाश्वत है।

धर्माचरण

(२२३)

तच्चं चेयं तथा चेयं अस्सिं चेयं पवुच्चइ।

कठिन शब्दार्थ - तच्चं - सत्य, तथा - तथारूप, च - और, चेयं - वह, अस्सिं - इस अर्हत् प्रवचन - जैन दर्शन में ही।

भावार्थ - भगवान् ने जो धर्म प्रतिपादित किया है वह सत्य है, तथ्य है - तथारूप है। यह इस अर्हत् प्रवचन (जैन दर्शन) में सम्यक् प्रकार से कहा जाता है।

विवेचन - भगवान् ने जगत् जीवों के कल्याण के लिए जो धर्म फरमाया है, वह सर्वथा सत्य है। वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा ही भगवान् ने फरमाया है, उसमें किञ्चिन्मात्र भी अन्यथा नहीं है। इस प्रकार पदार्थ का यथार्थ वर्णन इस जैन दर्शन में ही पाया जाता है, अन्य दर्शनों में नहीं, क्योंकि उनमें पूर्वापर विरुद्ध बातें पाई जाती हैं।

(२२४)

तं आइत्तु ण णिहे ण णिक्खिखवे, जाणित्तु धम्मं जहा तथा।

कठिन शब्दार्थ - आइत्तु - ग्रहण करके, ण णिहे - गोपन न करे, ण णिक्खिखवे - त्याग न करे, जहा तथा - यथार्थ।

भावार्थ - साधक उस धर्म को ग्रहण करके उसके आचरण में अपनी शक्ति का गोपन न करे और न ही उसका त्याग करे। धर्म का जैसा स्वरूप है वैसा जान कर उसका आचरण करे।

(२२५)

दिट्ठेहिं णिव्वेयं गच्छिज्जा।

भावार्थ - दृष्ट विषयों से विरक्त हो जाय।



लोकैषणा-त्याग

(२२६)

णो लोगस्सेसणं चरे।

भावार्थ - लोकैषणा न करे, लोकैषणा में न भटके।

विवेचन - लोगस्सेसणं - लोकैषणा अर्थात् इष्ट विषयों के संयोग और अनिष्ट विषयों के वियोग की लालसा। यह विषयेच्छा कर्मबंध एवं दुःखों की परम्परा को बढ़ाने वाली है, जीवन को गिराने वाली है, अतः साधक को लोकैषणा का त्याग करने के लिए कहा गया है।

(२२७)

जस्स णत्थि इमा णाई अण्णा तस्स कओ सिया?

कठिन शब्दार्थ - णाई - ज्ञाति-बुद्धि, अण्णा - अन्य, कओ - कैसे?

भावार्थ - जिसको यह लोकैषणा बुद्धि नहीं है उसको अन्य - सावद्य प्रवृत्ति कैसे होगी?

(२२८)

दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं, जं एयं परिकहिज्जइ।

कठिन शब्दार्थ - दिट्ठं - देखा हुआ, सुयं - सुना हुआ, मयं - माना हुआ, विण्णायं-विज्ञात - विशेषता से जाना हुआ, परिकहिज्जइ - कहा जा रहा है।

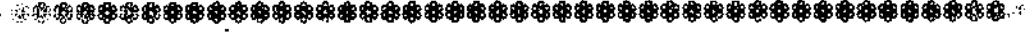
भावार्थ - यह जो मेरे द्वारा कहा जा रहा है वह दृष्ट - देखा हुआ, श्रुत - सुना हुआ, मत - माना हुआ और विशेष रूप से ज्ञात - जाना हुआ है।

(२२९)

समेमाणा पलेमाणा पुणो पुणो जाइं पक्कप्पंति।

कठिन शब्दार्थ - समेमाणा - भोगों में आसक्त, पलेमाणा - इन्द्रिय विषयों में लीन, जाइं - जाति को, पक्कप्पंति - प्राप्त करते हैं।

भावार्थ - जो पुरुष भोगों में अत्यंत आसक्त और मनोज्ञ इन्द्रिय सुखों में तल्लीन हैं वे बार-बार एकैन्द्रिय आदि जाति को प्राप्त करते हैं अर्थात् बार-बार जन्म लेते रहते हैं।



(२३०)

अहो य राओ य जयमाणे धीरे स्या आगयपण्णाणे, पमत्ते बहिया पास
अप्पमत्ते स्या परक्कमिज्जासि त्ति बेमि।

॥ चउत्थं अज्झयणं पढमोद्देशो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - अहो - दिन, राओ - रात, जयमाणे - यत्न करता हुआ,
आगयपण्णाणे - आगत प्रज्ञानः - प्रज्ञावान्, विवेकवान्, बहिया - बाहर।

भावार्थ - दिन रात (अर्हनिश) मोक्षमार्ग में यत्न करते हुए हे धीर साधक! उन्हें देख जो
प्रमादी हैं और धर्म से बाहर हैं अतः तू प्रमाद रहित होकर सदा संयम में मोक्ष मार्ग में पुरुषार्थ
कर। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में प्रमत्त और अप्रमत्त व्यक्ति के जीवन का विश्लेषण किया गया
है। जो लोग प्रमादी हैं वे धर्म से बाहर हैं, यानी धर्माचरण से विमुख हैं। अतः उनका अनुकरण
नहीं करते हुए मुमुक्षु पुरुष को चाहिए कि वह निद्रा विकथा आदि प्रमादों का त्याग कर निरन्तर
मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करे।

॥ इति चौथे अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्ता ॥

चउत्थं अज्झयणं बीओ उद्देशो

चतुर्थ अध्ययन का द्वितीय उद्देशक

चौथे अध्ययन के प्रथम उद्देशक में सम्यक्त्व का वर्णन किया गया है। इस दूसरे उद्देशक
में कर्मबंध का कारण आसव तथा कर्म-मुक्ति का कारण संवर एवं निर्जरा का वर्णन किया
जाता है। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

आसव-परिसव

(२३१)

जे आसवा ते परिसव्वा, जे परिसव्वा ते आसवा।



कठिन शब्दार्थ - आस्रवा - आस्रव-कर्म बंध के स्थान, परिस्रवा - परिस्रव - निर्जरा के स्थान।

भावार्थ - जो आस्रव - कर्म बंध के स्थान हैं वे ही परिस्रव - कर्म निर्जरा के स्थान हैं जो परिस्रव हैं वे ही आस्रव - कर्म बंध के स्थान हैं।

विवेचन - आस्रव - जिन स्रोतों से आठ प्रकार के कर्म आते हैं उन्हें आस्रव कहते हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह, ये पांच आस्रवद्वार माने जाते हैं। मिथ्यात्व, अब्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग - ये पांच भेद भी आस्रव के कहे गये हैं। प्रकारान्तर से आस्रव के ४२ भेद इस प्रकार माने जाते हैं - ५ इन्द्रिय, ४ कषाय, ५ अब्रत, २५ क्रिया और ३ योग।

परिस्रव - जिन अनुष्ठान विशेषों से कर्म चारों ओर से गल या बह जाता है उसे परिस्रव कहते हैं। इसी का दूसरा नाम निर्जरा भी है।

विषयलोलुप अज्ञानी जीव के लिए स्त्री, वस्त्र, अलंकार आदि वैषयिक सुख के कारण-भूत पदार्थ कर्मबंध के हेतु होने से आस्रव हैं किन्तु तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुषों के लिए वे ही पदार्थ वैराग्य उत्पन्न करने के कारण परिस्रव - कर्म निर्जरा के हेतु हैं। इस प्रकार संसार के जितने पदार्थ हैं वे सभी अनेकांत हैं यह दिखाते हुए इसी बात को उलट कर आगमकार कहते हैं कि जो परिस्रव हैं वे ही आस्रव हो सकते हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि तत्त्वदर्शी पुरुष के लिए जो कर्म निर्जरा के स्थान हैं वे ही विपरीत बुद्धि मिथ्यादृष्टियों के लिए कर्म बंध के कारण हो जाते हैं।

अनास्रव-अपरिस्रव

(२३२)

जे अणास्रवा ते अपरिस्रवा, जे अपरिस्रवा ते अणास्रवा।

भावार्थ - जो अनास्रव (व्रत विशेष) हैं वे अपरिस्रव - कर्मबंध के कारण हो जाते हैं जो अपरिस्रव - पाप के कारण हैं वे अनास्रव कर्म बंध के कारण नहीं होते हैं।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में सूत्र २३१ का निषेध दृष्टि से वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि - जो अनास्रव हैं वे अपरिस्रव हैं अर्थात् अनास्रव यानी व्रत आदि यद्यपि कर्म निर्जरा के कारण माने जाते हैं। किन्तु कर्म के उदय से जिनका अध्यवसाय अशुभ है ऐसे लोगों के लिए अपरिस्रव यानी पाप बंध के कारण माने जाते हैं वे कार्य सम्यग्दृष्टि पुरुषों के लिए निर्जरा के कारण हो

सकते हैं। इस प्रकार संसार के जितने भी पदार्थ हैं वे सभी अनेक धर्मात्मक हैं। अतः किसी भी वस्तु, घटना, प्रवृत्ति, क्रिया, भावधारा या व्यक्ति के संबंध में एकांगी दृष्टि से सही निर्णय नहीं दिया जा सकता। एक ही क्रिया को करने वाले दो व्यक्तियों के परिणामों की धारा अलग-अलग होने से एक उससे कर्म बंधन कर लेगा, दूसरा उसी क्रिया से कर्म निर्जरा कर लेगा।

(२३३)

ए ए संबुज्झमाणे लोयं च आणाए अभिसमिच्चा पुढो पवेइयं ।

कठिन शब्दार्थ - ए - इन, ए - पदों को, संबुज्झमाणे - सम्यक् प्रकार से समझ कर, अभिसमिच्चा - सम्यक् रूप से जान कर।

भावार्थ - इन पदों को सम्यक् प्रकार से समझ कर और लोक को तीर्थकर भगवान् की आज्ञा के अनुसार सम्यक् प्रकार से जान कर (आस्रव और संवर को पृथक्-पृथक् समझ कर) आस्रवों का सेवन न करें।

(२३४)

आघाइ णाणी इह माणवाणं संसारपडिवण्णाणं संबुज्झमाणानं विण्णाण-
पत्ताणं, अट्टावि संता अदुवा पमत्ता, अहा सच्चमिणंति-वेमि ।

कठिन शब्दार्थ - आघाइ - धर्म का कथन करते हैं, संसार पडिवण्णाणं - संसार प्रतिपन्न - संसार को प्राप्त, विण्णाणपत्ताणं - विज्ञान प्राप्त, अट्टा - आर्त, इणं - यह सब, अहा-सच्चं - यथातथ्य - सत्य।

भावार्थ - ज्ञानी पुरुष संसार प्रतिपन्न, धर्मोपदेश को समझने के लिए उत्सुक, विज्ञान प्राप्त मनुष्यों को धर्म का कथन (उपदेश) करते हैं। जो आर्त अथवा प्रमत्त हो गये हैं वे जिस प्रकार समझ सके उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष उपदेश देते हैं अथवा आर्त या प्रमत्त भी कर्मों का क्षयोपशम होने पर अथवा शुभ अवसर मिलने पर धर्माचरण कर सकते हैं। यह यथातथ्य - सत्य है - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थकर प्रभु संसारी प्राणियों को इस तरह उपदेश देते हैं जिससे वे हित की प्राप्ति और अहित का त्याग करने में समर्थ हो सकते हैं।



मृत्यु निश्चित है

(२३५)

णाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि। इच्छापणीया वंकाणिकेया कालग्गहीआ णिचयणिविद्धा पुढो पुढो जाइं पकप्पयंति।

कठिन शब्दार्थ - ण अणागमो - न आना, मच्चुमुहस्स - मृत्यु के मुंह में, इच्छापणीया - इच्छा अनुसार विषय में प्रवृत्ति, वंकाणिकेया - असंयम (वक्रता) के घर, कालग्गहीआ - काल से गृहीत, णिचयणिविद्धा - कर्मों के निचय (संग्रह) में निविष्ट चित्त-दत्त चित्त।

भावार्थ - संसारी जीवों का मृत्यु के मुख में जाना नहीं होगा, ऐसा संभव नहीं है अर्थात् मृत्यु नहीं आयेगी - ऐसा कभी नहीं हो सकता। फिर भी इच्छा अनुसार विषयों में प्रवृत्ति करने वाले पुरुष कुटिलता (असंयम) के घर बने रहते हैं। वे मृत्यु की पकड़ में आ जाने पर भी कर्म संचय में - पाप कार्य करने में दत्तचित्त बने रहते हैं। ऐसे लोग एकेन्द्रिय आदि विभिन्न जातियों को प्राप्त करते रहते हैं यानी बार-बार जन्म मरण करते रहते हैं।

विवेचन - शास्त्रकार फरमाते हैं कि - मृत्यु के आने का कोई समय निश्चित नहीं है अतः धर्म कार्य करने में क्षण भर का भी प्रमाद नहीं करना चाहिये।

(२३६)

इहमेगेसिं तत्थ तत्थ संथवो भवइ। अहोववाइए फासे पडिसंवेदयंति।

कठिन शब्दार्थ - संथवो - संस्तव - परिचय, अहोववाइए - अधो - नीचे - नरकादि में उत्पन्न होने वाले, फासे - दुःख रूप स्पर्श का, पडिसंवेदयंति - प्रतिसंवेदन-अनुभव करते हैं।

भावार्थ - इस संसार में किन्हीं जीवों को यातनाओं के उन नरकादि स्थानों में संस्तव-परिचय होता है। वे नरकादि दुःखों के स्पर्श का अनुभव करते हैं।

(२३७)

चिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं, चिट्ठं परिचिट्ठइ, अचिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं णो चिट्ठं परिचिट्ठइ।

कठिन शब्दार्थ - चिदुं - अत्यन्त, क्रूरेहिं - क्रूर, परिचिदुइ - निवास करता है।

भावार्थ - अत्यन्त क्रूर कर्म करने वाला पुरुष अत्यन्त पीड़ाकारी स्थानों में उत्पन्न होता है। जो पुरुष अत्यन्त क्रूर कर्म नहीं करता वह नरकादि प्रगाढ़ वेदना वाले स्थान में उत्पन्न नहीं होता है।

(२३८)

एगे वयन्ति अदुवावि णाणी, णाणी वयन्ति अदुवावि एगे।

भावार्थ - चौदह पूर्वों के धारक (श्रुत केवली) या केवलज्ञानी ऐसा कहते हैं। केवलज्ञानी जैसा कहते हैं वैसा ही श्रुतकेवली भी कहते हैं।

विवेचन - केवलज्ञानी भगवान् अथवा चौदहपूर्वधारी श्रुतकेवली फरमाते हैं कि इन्द्रियों के वशीभूत पुरुष पापकर्मों का फल भोगने के लिए नरकादि दुर्गतियों में बारबार जन्म धारण करते हैं और प्रगाढ़ दुःख भोगते हैं।

अनार्य का सिद्धान्त

(२३९)

आवंती केयावंती लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवायं वयन्ति, “से दिदुं च णे, सुयं च णे, मयं च णे, विण्णायं च णे, उदुं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सुपडिलेहियं च णे सव्वे पाणा, सव्वे जीवा, सव्वे भूया, सव्वे सत्ता हंतव्वा-अजावेयव्वा-परिघेत्तव्वा-परियावेयव्वा-उद्देवव्वा। एत्थं पि जाणह, णत्थित्थ दोसो।” अणारियवयणमेयं।

कठिन शब्दार्थ - विवायं - विवाद - परस्पर विरुद्ध अपना सिद्धान्त, सुपडिलेहियं - सुप्रत्युपेक्षितं - भलीभांति निरीक्षण किया है, विचारा हुआ है, अणारियवयणमेयं - यह अनार्य वचन है।

भावार्थ - इस लोक में जितने भी जो भी श्रमण या ब्राह्मण हैं वे परस्पर विरोधी भिन्न-भिन्न सिद्धान्त (मतवाद) कहते हैं। वे प्रतिपादन करते हैं कि - “हमने यह देख लिया है, सुन लिया है, मनन कर लिया है और विशेष रूप से जान लिया है, ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओं में सब तरह से भलीभांति पर्यालोचन कर लिया है कि सभी प्राणी, सभी जीव, सभी



भूत और सभी सत्त्व हनने योग्य हैं, उन पर शासन किया जा सकता है, उन्हें परिताप पहुँचाया जा सकता है, उन्हें दास बना कर रखा जा सकता है, उन्हें प्राणरहित किया जा सकता है। इस विषय में ऐसा जान लो कि इस प्रकार की (धर्म के नाम पर की जाने वाले) हिंसा में कोई दोष नहीं है।” यह अनार्य का सिद्धान्त-कथन है।

आर्य का सिद्धान्त

(२४०)

तत्थ जे ते आरिया, ते एवं वयासी-“से दुद्धिं च भे, दुस्सुयं च भे, दुम्मयं च भे, दुव्विण्णायं च भे, उद्धं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ दुप्पडिलेहियं च भे, जं णं तुब्भे एवमाइक्खइ, एवं भासह, एवं पण्णवेह, एवं परूवेह सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता, हंतव्वा, अज्जावेयव्वा, परिघेत्तव्वा-परियावेयव्वा-उद्दवेयव्वा एत्थ वि जाणह णत्थित्थ दोसो।” अणारियवयणमेयं।

कठिन शब्दार्थ - दुद्धिं - बुरी तरह से देखा हुआ - दोष युक्त देखा हुआ, दुस्सुयं-दुःश्रुतं, दुम्मयं - दुर्मतं, दुव्विण्णायं - दुर्विज्ञातं, आइक्खह - कहते हो।

भावार्थ - इस विषय में जो आर्य पुरुष (पाप कर्मों से दूर रहने वाले) हैं उन्होंने ऐसा कहा है कि - ‘आपने दोष पूर्ण देखा है, दोष युक्त सुना है, दोष युक्त मनन किया है, दोष युक्त समझा है, ऊँची-नीची, तिरछी सभी दिशाओं में सर्वथा दोष पूर्ण होकर पर्यालोचन किया है, जो आप ऐसा कहते हैं, ऐसा भाषण करते हैं, ऐसा प्रज्ञापन करते हैं, ऐसा प्ररूपण करते हैं कि सभी प्राण, सभी भूत, सभी जीव और सभी सत्त्व हनन करने योग्य हैं, उन पर शासन किया जा सकता है, उन्हें दास बनाया जा सकता है, उन्हें परिताप दिया जा सकता है, उनको प्राण रहित किया जा सकता है। इस विषय में ऐसा जानो कि इस प्रकार की हिंसा में कोई दोष नहीं है।’ यह आपका कथन अनार्यों का उचन है।

(२४१)

वयं पुण एवमाइक्खामो, एवं भासामो, एवं पण्णवेमो, एवं परूवेमो, “सव्वे पाणा, सव्वे जीवा, सव्वे भूया, सव्वे सत्ता, ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण

परिघेत्तव्वा, ण परियावेयव्वा, ण उद्देव्यव्वा, एत्थवि जाणह, णत्थित्थ दोसो।”
आरियवयणमेयं।

भावार्थ - हम ऐसा कहते हैं, ऐसा भाषण करते हैं, ऐसा प्रज्ञापन करते हैं और ऐसी ही प्ररूपण करते हैं कि सभी प्राण, सभी भूत, सभी जीव और सभी सत्त्वों का हनन नहीं करना चाहिये, उनको शासित नहीं करना चाहिये, उन्हें जबरदस्ती पकड़ कर दास नहीं बनाना चाहिए, उन्हें परिताप नहीं देना चाहिये और उन्हें प्राण रहित नहीं करना चाहिये। इस विषय में समझ लो कि अहिंसा के पालन में कोई दोष नहीं है। यह आर्य वचन है।

(२४२)

पुव्वं णिकायसमयं, पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामो, हं भो पावादुया! किं भे सायं दुक्खं उदाहु असायं? समिया पडिवण्णे यावि एवं बूया-सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं, असायं, अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति बेमि।

॥ चउत्थ अज्झयणं बीओहेसो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - णिकाय - व्यवस्था करके, समयं - सिद्धान्त की, पुच्छिस्सामि - पूछूंगा, हं भो पावादुया - हे प्रवादुको!, उदाहु - अथवा, समिया पडिवण्णे यावि - सम्यक् सिद्धान्त स्वीकार किये जाने पर, अपरिणिव्वाणं - अशांतिजनक, आनंद रहित, महब्भयं- महान् भयंकर - महान् भयकारी।

भावार्थ - पहले उनमें से प्रत्येक दार्शनिक को जो जो उसका सिद्धान्त है उसमें व्यवस्थापित कर हम पूछेंगे - “हे प्रवादुको! आपको असाता (दुःख) प्रिय है या अप्रिय? यदि आप कहें कि हमें दुःख प्रिय है तब तो वह उत्तर प्रत्यक्ष - विरुद्ध होगा, यदि आप कहे कि हमें दुःख प्रिय नहीं है तो आपके द्वारा इस सम्यक् सिद्धान्त को स्वीकार किये जाने पर हम आपसे यह कहना चाहेंगे कि “जैसे आपको दुःख प्रिय नहीं है वैसे ही सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव और सभी सत्त्वों को दुःख मन के प्रतिकूल है, अप्रिय है, अशांति जनक है और महाभयंकर है।” - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - इस लोक में जितने दार्शनिक हैं वे सभी अपने अपने दर्शन के अनुराग से

भिन्न-भिन्न मतों की स्थापना करते हैं, वे कहते हैं कि हमारे आगमों को बनाने वाले आचार्यों ने दिव्य ज्ञान के द्वारा इस धर्म को देखा है और युक्तिपूर्वक विचार एवं मनन किया है और अच्छी तरह जाना है कि धर्म के लिए जो हिंसा की जाती है उसमें कोई दोष नहीं है, उससे कोई पाप बन्ध नहीं होता है।

शास्त्रकार फरमाते हैं कि - हे अन्यतीर्थियो! तुम्हारा उपरोक्त वचन हिंसा का समर्थक होने के कारण पापानुबन्धी और अनार्य प्रणीत है। हमारा धर्मानुकूल सिद्धान्त यह है कि - किसी भी प्राणी को हनन न करना चाहिए यावत् किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिये। आर्य पुरुषों ने हिंसा का निषेध किया है। अतः हिंसा में धर्म नहीं है। जिस प्रकार हमें सुख अभीष्ट है दुःख नहीं, उसी प्रकार संसार के समस्त प्राणियों को सुख अभीष्ट है, दुःख नहीं। अतः किसी प्राणी का हनन नहीं करना चाहिये। प्राणी का हनन करने से पाप का बन्ध होता है। इसलिए प्राणी वध का समर्थन करने वाला वचन अनार्यों का ही है, आर्य पुरुषों का नहीं है। हिंसा में धर्म नहीं है। जो हिंसादि पाप कार्यों से निवृत्त हैं वे ही आर्य हैं और वे ही मोक्ष मार्ग पर चलने के अधिकारी हैं।

॥ इति चौथे अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थं अज्झयणं तइओदिसो

चौथे अध्ययन का तीसरा उद्देशक

चौथे अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में कर्म बंध तथा संवर का वर्णन किया गया गया है, इस तृतीय उद्देशक में तप का वर्णन किया जाता है। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

(२४३)

उवेहे णं बहिया य लोयं, से सव्वलोयंसि जे केइ विण्णू।

कठिन शब्दार्थ - उवहे - उपेक्षा करो, विण्णू - विज्ञ-विद्वान्।

भावार्थ - जो लोग अहिंसा धर्म से बाह्य (विमुख) हैं उनकी उपेक्षा करो। जो अन्य-तीर्थियों की उपेक्षा करता है वह समस्त लोक में सब विद्वानों में उत्तम है।



दुःख, आरंभ से

(२४४)

अणुवीड़ पास, णिक्खित्तदंडा जे केइ सत्ता पलियं चयंति, णरे मुयच्चा धम्मविउत्ति अंजू, आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा, एवमाहु सम्मत्तदंसिणो।

कठिन शब्दार्थ - अणुवीड़ - अनुचितन कर, णिक्खित्तदंडा - दण्ड को त्याग दिया है, पलियं - पलित - कर्म का, चयंति - त्याग करते हैं, क्षय करते हैं, मुयच्चा - शरीर का श्रृंगार नहीं करने वाले अथवा कषाय विजेता, धम्मविऊ - धर्मवेत्ता - धर्म के ज्ञाता, अंजू - ऋजु - सरल, आरंभजं- आरम्भ (हिंसा) से उत्पन्न, आहु - कहा है, एवं - इस प्रकार, सम्मत्तदंसिणो- समत्वदर्शियों, सम्यक्त्वदर्शियों, समस्त दर्शियों ने।

भावार्थ - तू अनुचितन - विचार कर देख - जिन्होंने दण्ड (हिंसा) का त्याग किया है वे ही श्रेष्ठ विद्वान् हैं। जो सत्त्वशील मनुष्य प्राणी दंड से निवृत्त हुए हैं वे ही अष्ट कर्मों का क्षय करते हैं। जो शरीर के प्रति अनासक्त हैं, शरीर श्रृंगार के त्यागी हैं अथवा कषाय के विजेता हैं वे धर्म के ज्ञाता और सरल हैं। इस दुःख को आरम्भ (हिंसा) से उत्पन्न हुआ जान कर समस्त हिंसा का त्याग करना चाहिये-ऐसा सम्यक्त्वदर्शियों (समत्वदर्शियों समस्तदर्शियों-सर्वज्ञों) ने कहा है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में जो धर्म विरुद्ध हिंसादि की प्ररूपणा करने वाले परपाषंडी हैं उनका संस्तव - परिचय नहीं करने का निर्देश दिया है और ऐसा करने वाले को विद्वानों में श्रेष्ठ कहा है।

उवेहेणं पद का यही आशय है कि जो अहिंसादि धर्म से विमुख हैं उनकी उपेक्षा कर अर्थात् उनके विधि विधानों को उनकी रीति-नीति को मत मान, उनके सम्पर्क में मत आ उनको प्रतिष्ठा मत दे, उनके धर्म विरुद्ध उपदेश को यथार्थ मत मान, उनके आडम्बरों और लच्छेदार भाषणों से प्रभावित मत हो, उनके कथन को अनार्य वचन समझ।

जो पुरुष मन, वचन, काया से किसी प्राणी को दण्ड नहीं देता है, वह आठ कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त करता है। यहाँ मन, वचन और काया से प्राणियों का विघात करने वाली प्रवृत्ति को दण्ड कहा है। हिंसा युक्त प्रवृत्ति भाव दण्ड है। यहाँ दण्ड, हिंसा का पर्यायवाची है।

यहाँ प्रयुक्त 'मुयच्चा' शब्द का संस्कृत रूप होता है - मृतार्चाः - मृत अर्चाः, अर्चा

शब्द के दो अर्थ होते हैं - १. जो देह-शरीर, अर्चा-साज सजा, संस्कार-शुश्रूषा के प्रति मृतक

है अर्थात् शरीर संस्कार का त्यागी है, शरीर के प्रति अनासक्त है।

२. जिसकी क्रोध (कषाय) रूप अर्चा मृत - विनष्ट हो गयी है, ऐसा कषाय त्यागी-कषाय विजेता, मर्ताच कहलाता है।

इसी प्रकार सम्मत्तदंशिणो शब्द के भी तीन रूप बनते हैं -

१. सम्यक्त्वदर्शिनः - तीर्थंकर देव प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति विचारधारा घटना आदि के तह में पहुँच कर उसकी सम्यक्तता (सच्चाई) को यथावस्थित रूप से जानते देखते हैं अतः वे सम्यक्त्वदर्शी हैं।

२. समत्वदर्शिनः - तीर्थंकरों की प्राणिमात्र पर समत्वदृष्टि होती है, वे प्राणी मात्र को अपनी आत्मा के समान जानते देखते हैं अतः वे 'समत्वदर्शी' होते हैं।

३. समस्तदर्शिनः - सर्वज्ञ सर्वदर्शी होने के कारण समस्त लोकालोक को जानते देखते हैं अतः समस्तदर्शी हैं।

(२४५)

ते सव्वे पावाइया दुक्खस्स कुसला परिणमुदाहरंति, इति कम्मं परिणाय सव्वसो।

कठिन शब्दार्थ - पावाइया - प्रावादिकाः - यथार्थ प्रवक्ता, दुक्खस्स - दुःख एवं दुःख के कारण, परिणं - परिज्ञा को।

भावार्थ - दुःख एवं दुःख के कारणों को जानने में कुशल वे सब प्रावादिक - यथार्थ प्रवक्ता - सर्वज्ञ कर्मों को सब प्रकार से जान कर उनको त्याग करने का उपदेश करते हैं।

(२४६)

इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, एगमप्याणं संपेहाए धुणे सरीरं।

कठिन शब्दार्थ - आणाकंखी - आशाकांक्षी - भगवान् की आज्ञा का अनुसरण करने वाला, अणिहे - स्नेह - राग द्वेष रहित, एगं - एक - अकेला, अप्याणं - अपनी आत्मा को, संपेहाए - देखता हुआ, धुणे - धुन (प्रकम्पित कर) डाले।

भावार्थ - इस जिनशासन (अर्हत् प्रवचन) में आज्ञा के अनुसार चलने वाला पंडित राग



द्वेष (स्नेह) रहित होकर एक मात्र आत्मा को देखता हुआ (आत्मा के एकत्व भाव को जान कर) शरीर (कर्म शरीर) को धुन डाले।

तप का महत्त्व

(२४७)

कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं।

कठिन शब्दार्थ - कसेहि - कृश करे, जरेहि - जीर्ण कर डाले।

भावार्थ - तपस्या के द्वारा अपनी कषाय आत्मा (शरीर) को कृश करे, जीर्ण कर डाले।

(२४८)

जहा जुण्णाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थइ, एवं अत्तसमाहि ए अणिहे।

कठिन शब्दार्थ - जुण्णाइं - जीर्ण, कट्ठाइं - काष्ठ को, हव्ववाहो - अग्नि, पमत्थइ-जला डालती है, अत्तसमाहि ए - समाहित आत्मा वाला - आत्म समाधि वाला।

भावार्थ - जैसे जीर्ण काष्ठ को अग्नि शीघ्र जला डालती है उसी प्रकार आत्म - समाधि वाला वीतराग पुरुष तपस्या के द्वारा कर्म शरीर को (कषायात्मा को) शीघ्र जला डालता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में कषाय आत्मा को सम्यक् तप से कृश-जीर्ण करने का निर्देश किया गया है, कर्मों को नष्ट करने का तप ही सम्यक् उपाय है।

'आणाकंखीपंडिए' - जो पुरुष तीर्थंकर भगवान् की आज्ञानुसार आचरण करता है वह पण्डित है। ऐसा पुरुष कर्मों से लिप्त नहीं होता है।

'एगमप्पाणं सपिहाए' से शास्त्रकार फरमाते हैं कि यह आत्मा अकेला है। अतः सदैव यह विचार करना चाहिये कि मैं सदा अकेला हूँ, मेरा कोई भी नहीं है और मैं किसी का नहीं हूँ। इस जगत् में प्राणी अकेला ही कर्म करता है और अकेला ही उसका फल भोगता है। अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है तथा अकेला ही परलोक में जाता है। अतः तप के द्वारा इस शरीर को कृश एवं जीर्ण कर डालो।

कसेहि अप्पाणं में आत्मा से अर्थ है - कषायात्मा रूप कर्म शरीर। कर्म शरीर को कृश, प्रकम्पित एवं जीर्ण करना चाहिये। बाह्य शरीर की कृशता यहाँ गौण है। मुख्यता है - तप के



द्वारा इन्द्रिय - विषयों और कषायों को कुश करना। जिस प्रकार सूखे हुए काठ को अग्नि शीघ्र जला डालती है उसी प्रकार जो पुरुष आत्म-समाधिवान् रत्नत्रयी में उपयोग रखने वाला और राग द्वेष से रहित अनासक्त है वह तप रूपी अग्नि के द्वारा शीघ्र ही कर्म रूपी काष्ठ को जला देता है।

(२४६)

विर्गिंच कोहं अविंकंपमाणे, इमं णिरुद्धाउयं संपेहाए।

कठिन शब्दार्थ - विर्गिंच - त्याग करके, अविंकंपमाणे - अविकम्प - कम्प रहित होकर, णिरुद्धाउयं - परिमित आयु वाला, संपेहाए - सम्प्रेक्षा कर।

भावार्थ - यह मनुष्य जीवन अल्प आयुष्य वाला है, यह गहराई से विचार करता हुआ साधक कम्प रहित (अकम्पित) होकर क्रोध का त्याग करे।

क्रोध (कषाय) त्याग

(२५०)

दुक्खं च जाण अदुवागमेस्सं, पुढो फासाइं च फासे, लोयं च पास, विप्फंदमाणं।

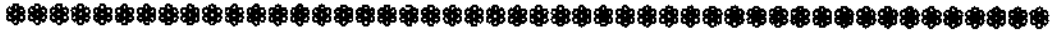
कठिन शब्दार्थ - आगमेस्सं - भविष्य में उत्पन्न होने वाले दुःखों को, विप्फंदमाणं - दुःखों को दूर करने के लिए इधर-उधर भागते हुए।

भावार्थ - क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले वर्तमान में अथवा भविष्य के दुःखों को जानो। क्रोधी पुरुष भिन्न-भिन्न स्पर्शों को यानी नरक आदि स्थानों में विभिन्न दुःखों को प्राप्त करता है। दुःखों से पीड़ित होकर उनका प्रतिकार करने के लिए इधर-उधर दौड़-धूप करते हुए लोगों (प्राणिलोक) को देखो।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में क्रोध से होने वाले वर्तमान और भविष्य के दुःखों को ज्ञपरिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से छोड़ने की प्रेरणा दी गयी है।

(२५१)

जे णिब्बुडा, पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया।



कठिन शब्दार्थ - णिव्वुडा - निवृत्त, अणियाणा - अनिदान - निदान रहित।

भावार्थ - जो पुरुष तीर्थंकर भगवान् के उपदेश से पाप कर्मों से निवृत्त हैं वे अनिदान-निदान रहित (बंध के मूल कारणों से रहित) परम सुखी कहे गये हैं।

(२५२)

तम्हाऽतिविज्जो णो पडिसंजलिज्जासि त्ति बेमि।

॥ चउत्थं अज्झयणं तइओद्देसो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - अतिविज्जो (अइविज्जो) - अति विद्वान्, प्रबुद्ध, शास्त्र के रहस्य को जानने वाला, णो पडिसंजलिज्जासि - प्रज्वलित न करे।

भावार्थ - इसलिए विद्वान् पुरुष क्रोध (कषाय) अग्नि से अपनी आत्मा को न जलावे। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - क्रोधादि कषायों से विभिन्न दुःख एवं संक्लेश उत्पन्न होते हैं। ऐसा ज्ञान कर कषायों का त्याग कर देना चाहिये। जो क्रोध आदि कषायों का त्याग कर देते हैं, वे परम सुखी होते हैं।

॥ इति चौथे अध्ययन का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थं अज्झयणं चउत्थोद्देसो

चौथे अध्ययन का चौथा उद्देशक

चौथे अध्ययन के तीसरे उद्देशक में तप का वर्णन किया गया है। वह तप उत्तम संयम में स्थित साधु के द्वारा ही हो सकता है। अतः इस चौथे उद्देशक में संयम का वर्णन किया जाता है। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है-

संयम में पुरुषार्थ

(२५३)

आखीलए पवीलए णिप्पीलए, जहिता पुब्बसंजोगं हिच्चा उवसमं।



कठिन शब्दार्थ - आवीलए - आपीड़न - पीड़ित करे, पवीलए - प्रपीड़न - विशेष पीड़ित करे, गिप्पीलए - निष्पीड़न - निश्चित रूप से पीड़ित करे, जहिता - त्याग कर, हिच्चा - प्राप्त कर, उवसमं - उपशम को।

भावार्थ - मुनि पूर्व संयोग का त्याग कर और उपशम को प्राप्त कर अर्थात् असंयम को छोड़ कर तथा संयम को स्वीकार करके, इन्द्रिय विषयों और कषायों का उपशम करके आपीड़न, प्रपीड़न और निष्पीड़न करे यानी तपस्या के द्वारा कर्म शरीर को पीड़ित करे, विशेष पीड़ित करे और निश्चित रूप से अच्छी तरह पीड़ित करे।

विवेचन - धन, धान्य तथा कलत्रादि के पूर्व संयोग को एवं असंयम को त्याग कर तथा संयम को स्वीकार करके नवदीक्षित मुनि पहले तपस्या के द्वारा आपीड़न - शरीर को थोड़ा पीड़ित करे, फिर प्रपीड़न - विशेष पीड़ित करे और अंतिम समय में शरीर को त्यागने की इच्छा करता हुआ साधु मासखमण तथा अर्द्ध मासखमण आदि तपस्या के द्वारा शरीर को निष्पीड़न - निश्चय ही पीड़ित करे।

(२५४)

तम्हा अविमणे वीरे, सारए समिए सहिए सया जए।

कठिन शब्दार्थ - अविमणे - अविमना - भोगों और कषायों में जिस का मन नहीं जाता है, सारए - स्वारत - तप संयम में रत।

भावार्थ - इसलिए मुनि अविमना, वीर, स्वारत, समित (पांच समितियों से युक्त) सहित (ज्ञानादि से युक्त) होकर सदैव संयम पालन में पुरुषार्थ करे।

(२५५)

दुरणुचरो मग्गो वीराणं अणियट्टगामीणं।

कठिन शब्दार्थ - दुरणुचरो - दुरनुचर - कठिनाई से आचरण करने योग्य, वीराणं - वीरों का, मग्गो - मार्ग, अणियट्टगामीणं - अनिवृत्तगामी - मोक्षार्थी।

भावार्थ - मोक्ष में जाने वाले वीर पुरुषों का मार्ग दुरनुचर - कठिनाई से आचरण करने योग्य हैं।



ब्रह्मचर्य की महिमा

(२५६)

विगिंच मंससोणियं, एस पुरिसे दवए वीरे आयाणिजे ☆ वियाहिए, जे धुणाइ समुस्सयं वसित्ता बंभचेरंसि।

कठिन शब्दार्थ - मंससोणियं - मांस और रक्त को, विगिंच - कम कर, दविए - द्रविक - संयम वाला, आयाणिजे - आदानीय - आदेय (ग्रहण करने योग्य) वचन वाला, वसित्ता - निवास कर, बंभचेरंसि - ब्रह्मचर्य में।

भावार्थ - शास्त्रकार फरमाते हैं कि तपस्या के द्वारा मांस और रक्त को कम कर। ऐसा पुरुष (तपस्वी) संयमी, वीर और मोक्ष गमन के योग्य होने से आदेय वचन वाला कहा गया है। वह ब्रह्मचर्य में स्थित रह कर तप के द्वारा शरीर (कर्म शरीर) को धुन डालता है।

विवेचन - ब्रह्मचर्य पालन, सम्यक् चारित्र का प्रमुख अंग होने के कारण प्रस्तुत सूत्र में ब्रह्मचारी को मांस शोणित कम करने का निर्देश दिया गया है क्योंकि मांस रक्त की वृद्धि से कामवासना प्रबल होती है और उससे ब्रह्मचर्य पालन में विघ्न आने की संभावना रहती है। सांसारिक भोग विलासों से मन को हटा कर ब्रह्मचर्य व्रत में सम्यक् निवास करता हुआ तपस्वी मुनि शरीर और कर्मों को कृश कर डालता है।

मोह की भयंकरता

(२५७)

णित्तेहिं पलिच्छिण्णेहिं आयाणसोयगट्टिए बाले, अठ्वोच्छिण्णबंधणे अणभिव्कंतसंजोए। तमंसि अविद्याणओ आणाए लंभो णत्थि-त्ति वेमि।

कठिन शब्दार्थ - णित्तेहिं - नेत्र आदि इन्द्रियों को, पलिच्छिण्णेहिं - नियंत्रण करके, आयाणसोयगट्टिए - आदान स्रोत - कर्म आने के स्रोत में गृह, अठ्वोच्छिण्णबंधणे - कर्म बंध का छेदन नहीं कर सकता, अणभिव्कंतसंजोए - संयोगों को छोड़ नहीं पाता, तमंसि - मोह अंधकार में, आणाए - आज्ञा का, लंभो - लाभ।

☆ इसके स्थान पर 'आताणिजे', 'आयाणिए', 'आदाणिओ', 'आताणिओ' - ये पद कहीं कहीं मिलते हैं।



भावार्थ - अज्ञानी जीव नेत्र आदि इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोक कर भी मोहादि उदय वश फिर इन्द्रिय विषय आदि में आसक्त हो जाता है, वह कर्म बंधन का छेदन नहीं कर पाता है तथा शरीर और परिवार आदि के संयोगों को नहीं छोड़ सकता है। मोह रूपी अंधकार में पड़े हुए अपने आत्महित एवं कल्याण को नहीं जानने वाले उस अज्ञानी पुरुष को तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा (उपदेश) का लाभ नहीं होता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - कितनेक अज्ञानी जीव इन्द्रियों का निरोध करके भी मोह के उदय से फिर विषय भोग में आसक्त बन जाते हैं। रात दिन भोगों में रचे पचे रहने के कारण उनका अन्तःकरण राग द्वेष और महामोह रूप अंधकार से आवृत्त रहता है, उसे अर्हत् देव के प्रवचनों का लाभ नहीं मिल पाता, न उसे धर्म श्रवण में रुचि जागती है और न उसे कोई धर्माचरण करने की सूझती है। इसीलिए आगमकार ने 'आणाए लंभो णत्थि' कहा है यहाँ आणाए - आज्ञा के दो अर्थ किये हैं - १. श्रुतज्ञान और २. तीर्थंकर वचन या उपदेश। टीकाकार आज्ञा का अर्थ बोधि या सम्यक्त्व भी करते हैं।

सम्यक्त्व-प्राप्ति

(२५८)

जस्स णत्थि पुरा पच्छा, मज्झे तस्स कुओ सिया?।

भावार्थ - जिसको पूर्वकाल में बोधि-लाभ नहीं हुआ उसे आगामी काल में भी बोधिलाभ होने वाला नहीं है उसको मध्य में अर्थात् वर्तमान में बोधिलाभ कहां से हो सकता है?

विवेचन - मिथ्यात्व, प्रमाद, अविरति आदि के कारण जिस पुरुष को पूर्वभव में सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हुई है तथा आगामी काल में भी होने वाली नहीं है उसको वर्तमान में भी सम्यक्त्व की प्राप्ति कैसे हो सकती है? अर्थात् जिस जीव को पूर्व भव में सम्यक्त्व की प्राप्ति हो चुकी है या आगामी जन्म में होने वाली है उसी को वर्तमान समय में सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है। जिसने सम्यक्त्व की प्राप्ति कर ली है किन्तु फिर मिथ्यात्व के उदय से सम्यक्त्व से पतित हो गया है उसको अर्द्ध पुद्गल परावर्तन में फिर सम्यक्त्व की प्राप्ति अवश्य हो जाती है।

टीकाकार ने इस सूत्र का एक अर्थ यों भी किया है - जो पुरुष विषय भोगों के कटु परिणाम को जान कर पहले भोगे हुए काम भोगों का स्मरण नहीं करता तथा भविष्य में भी विषय भोग की इच्छा नहीं रखता उसको वर्तमान काल में भोगों की इच्छा कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं होती।



(२५६)

से हु पण्णाणमंते बुद्धे आरंभोवरए, सम्ममेयंति पासह, जेण बंधं वहं घोरं परितावं च दारुणं।

कठिन शब्दार्थ - पण्णाणमंते - प्रज्ञावान्, बुद्धे - बुद्ध - तत्त्वों को जानने वाला, आरंभोवरए - आरम्भ से उपरत, बंधं - बन्ध, वहं - वध, घोरं - घोर, परितावं - परिताप, दारुणं - दारुण दुःखों को।

भावार्थ - जो भोगों से निवृत्त हो गया है वही वास्तव में प्रज्ञावान्, उत्तम ज्ञानी, तत्त्वों को जानने वाला और आरम्भ से विरत है। यह सत्य (सम्यक्) है ऐसा देखो - जानो। क्योंकि भोगासक्ति के कारण पुरुष बंध, वध, घोर परिताप और दारुण दुःखों को प्राप्त करता है।

(२६०)

पलिच्छिंदिय बाहिरंगं च सोयं, णिक्कम्मदंसी इह मच्चिएहिं।

भावार्थ - जो बाह्य (परिग्रह आदि) और अंतरंग (राग द्वेष आदि) कर्मों के स्रोतों का छेदन करता है वह इस संसार में मनुष्यों के मध्य में निष्कर्मदर्शी - मोक्षदर्शी है।

विवेचन - जिसकी समस्त इन्द्रियों का प्रवाह विषयों या सांसारिक पदार्थों की ओर से हट कर मोक्ष की ओर उन्मुख हो जाता है वही निष्कर्मदर्शी - निष्कर्म को देखने वाला होता है।

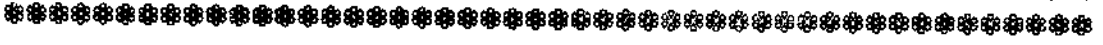
(२६१)

कम्मणा सफलं दड्ढुण तओ णिज्जाइ वेयवी।

कठिन शब्दार्थ - णिज्जाइ - निवृत्त हो जाता है, पृथक् हो जाता है, वेयवी - वेदज्ञ - आगमों के रहस्य को जानने वाला।

भावार्थ - कर्मों के फल को देख कर वेदज्ञ - आगमों के रहस्य को जानने वाला ज्ञानी पुरुष आस्रवों का त्याग कर देता है। कर्मों से निवृत्त हो जाता है।

विवेचन - जो कर्म किये जाते हैं उनका फल अवश्य भोगना पड़ता है। यह देखकर विवेकी पुरुष कर्मों के बंध से, आस्रव से सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं।



(२६२)

जे खलु भो! वीरा ते समिया सहिया सया जया संघडदंसिणो आओवरया
अहातहं लोगमुवेहमाणा पाईणं पडीणं दाहिणं उईणं इइ सच्चंसि परिचिट्ठिसु।

कठिन शब्दार्थ - संघडदंसिणो - सतत शुभाशुभदर्शी, आओवरया - आत्मोपरत-
पाप कर्मों से उपरत (निवृत्त) अहातहं - यथातथ्य, उवेहमाणा - देखते हुए, पाईणं - पूर्व
पडीणं - पश्चिम, दाहिणं - दक्षिण, उईणं - उत्तर, सच्चंसि - सत्य में, परिचिट्ठिसु -
स्थित हो चुके हैं।

भावार्थ - हे आर्य! जो साधक वीर (कर्मों को विदारण करने में समर्थ) हैं, वे समित
(समितियों से युक्त), सहित (ज्ञानादि से युक्त), सदा संयत, निरन्तर शुभ और अशुभ को
देखने वाले और पाप कर्मों से निवृत्त हैं, लोक जैसा है उसे वैसा ही देखते हैं। पूर्व, पश्चिम,
दक्षिण, उत्तर - सभी दिशाओं में सत्य (संयम) में स्थित हो चुके हैं।

(२६३)

साहिस्सामो णाणं वीराणं समियाणं सहियाणं, सया जयाणं संघडदंसिणं
आओवरयाणं अहातहा लोगं समुवेहमाणाणं किमत्थि उवाही? पासगस्स ण
विज्जइ णत्थि त्ति बेमि।

॥ चउत्थं अज्झयणं चउत्थोहेसो समत्तो ॥

॥ सम्मत्तं णामं चउत्थमज्झयणं समत्तं ॥

कठिन शब्दार्थ - साहिस्सामो - कहूँगा, तीर्थकरों के उपदेश का कथन करूँगा, उवाही-
उपाधि, पासगस्स - पश्यकस्य - सत्य द्रष्टा - सम्यक् अर्थ को देखने - जानने वाला।

भावार्थ - उन वीर समित, सहित, सदा संयत, निरन्तर शुभाशुभ को देखने वाले, पाप
कर्म से निवृत्त लोक के यथार्थ स्वरूप को देखने वाले ज्ञानियों के सम्यग् ज्ञान का कथन
करूँगा, उपदेश करूँगा। क्या सत्यद्रष्टा सम्यक् अर्थ को जानने वाले ज्ञानीपुरुष को कोई कर्म
जनित उपाधि होती है या नहीं होती? नहीं होती है - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - तीर्थकर भगवान् की आज्ञानुसार आचरण करने वाले पांच समिति तीन गुप्ति



से युक्त, ज्ञानादि गुणों से सहित, पाप कर्म से निवृत्त, सदा यतना पूर्वक आहार विहारादि क्रिया करने वाले मुनीश्वर अतीतकाल में अनंत हो चुके हैं और चारित्र का पालन करने वाले मुनियों को कर्म जनित उपाधि प्राप्त नहीं होती है और वे अपने समस्त कर्मों का क्षय कर मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

॥ इति चतुर्थ अध्ययन का चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

॥ सम्यक्त्व नामक चौथा अध्ययन समाप्त ॥

लोकसार नामक पंचमं अज्झयणं

लोकसार नामक पांचवां अध्ययन

पंचम अज्झयणं पठमोद्देशो

पांचवें अध्ययन का प्रथम उद्देशक

चौथे अध्ययन में सम्यक्त्व और उसके अंतर्गत सम्यग्ज्ञान का कथन किया गया है। सम्यग् दर्शन और सम्यग्ज्ञान का फल सम्यक् चारित्र है और चारित्र ही मोक्ष का प्रधान कारण है और लोक में सारभूत है। अतएव इस पांचवें अध्ययन का नाम 'लोकसार' है। इसमें सम्यक् चारित्र का वर्णन किया गया है। इसके प्रथम उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

कामभोगों की निःसारता

(२६४)

आवंती केयावंती लोयंसि विप्परामुसंति अट्टाए अणट्टाए वा। एणसु चेव विप्परामुसंति, गुरू से कामा, तओ से मारस्स अंतो, जओ से मारस्स अंतो तओ से दूरे, णेव से अंतो णेव से दूरे।



कठिन शब्दार्थ - विप्परामुसंति - प्राणियों की घात करते हैं/जन्म धारण करते हैं, अट्टाए - अर्थ-प्रयोजन से, अणट्टाए - अनर्थ - निष्प्रयोजन से, गुरू - कठिन, मारस्स अंतो-मारंतो - मृत्यु के अंदर, दूरे - दूर।

भावार्थ - इस लोक में जो कोई मनुष्य अर्थ से (सप्रयोजन) या अनर्थ (निष्प्रयोजन) से प्राणियों की हिंसा करते हैं वे उन्हीं प्राणियों में जन्म धारण करते हैं अर्थात् उन्हीं योनियों में उत्पन्न होते हैं। उन जीवों के लिए काम भोगों का त्याग करना बहुत कठिन है इसलिए वह मृत्यु के अंदर - मृत्यु की पकड़ में रहता है। जबकि वह मृत्यु की पकड़ में है इसलिए वह मोक्ष के उपाय से दूर है। वह विषय सुखों के अन्तर्वर्ती भी नहीं है और उनसे दूर भी नहीं है।

विवेचन - प्रस्तुत अध्ययन के नाम पर विचार करते हुए टीकाकार ने लिखा है-
लोगस्स उ को सारो? तस्स य सारस्स को हवइ सारो?

तस्स य सारो सारं जइ जाणसि पुच्छिओ साह!

अर्थ - इस चौदह राजूलोक का सार क्या है? तथा उस लोक के सार का सार तत्त्व एवं उस सार का भी सार तत्त्व क्या है? इसका समाधान करते हुए टीकाकार कहते हैं -

लोगस्स सारो धम्मो, धम्मंपि य नाणसारियं वित्ति।

नाणं संजमसारं, संजमसारं च निव्वाणं ॥

अर्थ - लोक का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार संयम है और संयम का सार निर्वाण - मोक्ष है। निष्कर्ष यह है कि लोक का सार संयम है और संयम साधना से मुक्ति प्राप्त होती है। संयम के बिना कोई भी व्यक्ति मोक्ष नहीं पा सकता है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में संयम (चारित्र) का वर्णन किया गया है।

प्रथम उद्देशक के इस प्रथम सूत्र में हिंसा एवं हिंसा जन्य फल का उल्लेख किया गया है। इस संसार में अज्ञानी जीव अपने प्रयोजन के लिए अथवा निष्प्रयोजन ही नाना प्रकार से हिंसा करते हैं और इस पाप कर्म का फल भोगने के लिए छह जीविकाय की नाना योनियों में उत्पन्न होते रहते हैं।

उपरोक्त सूत्र में 'विप्परामुसंति' (विपरामृशंति) शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है। पहली बार इसका अर्थ 'जीव घात करते हैं' किया है जबकि दूसरी बार प्रसंग वश अर्थ किया है - 'विभिन्न योनियों में उत्पन्न होते हैं।'

अज्ञानी जीवों के लिए कामभोगों का त्याग करना सहज नहीं होता है अतः उनके लिए



आगमकार ने 'गुरु से कामा' - कामभोगों को 'गुरु' कहा है। जब तक जीव कामभोगों को नहीं छोड़ता है तब तक वह जन्म, जरा, मरण और रोग शोक से पीड़ित हो कर मोक्ष के सुख से सदा दूर रहता है। रोगी होने के कारण वह पूर्ण रूप से विषय सुख को भी नहीं भोग सकता है और विषय भोग की इच्छा (विषयेच्छा) बनी रहने के कारण वह विषयों का त्यागी भी नहीं कहा जा सकता है।

अज्ञानी जीव की मोहमूढता

(२६५)

से पासइ फुसियमिव कुसग्गे पणुण्णं णिवइयं वाएरियं, एवं बालस्स जीवियं मंदस्स अविद्याणओ।

कठिन शब्दार्थ - फुसियमिव - जल बिन्दु के समान, कुसग्गे - कुश के अग्रभाग पर, पणुण्णं - हिलते हुए, णिवइयं - गिर जाता है, वाएरियं - वायु से प्रेरित, बालस्स - बाल (अज्ञानी) के, मंदस्स - मंद (मंद बुद्धि) का, अविद्याणओ - अविज्ञान - नहीं जानता हुआ।

भावार्थ - वह पुरुष (सम्यक्त्वी, कामना त्यागी) कुश के अग्रभाग पर स्थित और वायु के झोंके से प्रकम्पित होकर गिरते हुए जल बिन्दु के समान इस जीवन को देखता है। बाल (अज्ञानी) एवं मंद का जीवन भी इसी तरह अस्थिर है किन्तु मोह वश वह इसे नहीं जान पाता है।

(२६६)

कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विपरियासमुवेइ, मोहेण गब्भं मरणाइ एइ एत्थ मोहे पुणो पुणो।

कठिन शब्दार्थ - कूराइं - क्रूर, पकुव्वमाणे - करता हुआ, दुक्खेण - दुःख से, मोहेण - मोह से, विपरियासमुवेइ - विपर्यास भाव को प्राप्त होता है, मरणाइ - मरण आदि को, एइ - प्राप्त करता है।

भावार्थ - वह अज्ञानी हिंसादि क्रूर कर्म करता हुआ दुःख को उत्पन्न करता है तथा उस दुःख से मूढ बना हुआ विपर्यास भाव को प्राप्त होता है यानी सुख के स्थान पर दुःख को प्राप्त करता है। मोह से गर्भ और मरण आदि को प्राप्त करता है तथा वह बार-बार इस मोहमय अनादि अनंत संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्रों में अज्ञानी जीव की मोह मूढता का वर्णन करते हुए उसके लिए निम्न तीन विशेषण दिये हैं -

१. बाल - बालक में यथार्थ ज्ञान नहीं होता है उसी प्रकार वह भी अस्थिर और क्षण भंगुर जीवन को अजर अमर मानता है उसकी यह ज्ञान शून्यता ही उसका बालत्व (बचपना) है।

२. मंद - सदसद् विवेक बुद्धि का अभाव होने से वह 'मंद' है।

३. अविज्ञान - परम अर्थ - मोक्ष का ज्ञान नहीं होने से वह 'अविज्ञान' है।

जीव अपनी अज्ञान दशा के कारण ही इस अल्प, अस्थिर एवं तुच्छ जीवन में सुख प्राप्ति के लिए हिंसादि क्रूर कर्म करता है, बदले में दुःख पाता है और मोहवश बारबार जन्म व मृत्यु को प्राप्त होता रहता है।

(२६७)

संसयं परियाणओ संसारे परिण्णाए भवइ, संसयं अपरियाणओ संसारे अपरिण्णाए भवइ।

कठिन शब्दार्थ - संसयं - संशय को, परियाणओ - परिज्ञान हो जाता है, अपरिण्णाए- अपरिज्ञान।

भावार्थ - जिसे संशय का ज्ञान हो जाता है उसे संसार के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। जो संशय को नहीं जानता, वह संसार को भी नहीं जानता।

विवेचन - संशय दो प्रकार का कहा गया है - १. अर्थ संशय और २. अनर्थ संशय। मोक्ष और मोक्ष का उपाय अर्थ है। मोक्ष परमपद कहा गया है अतः उसमें संशय नहीं हो सकता। मोक्ष के उपाय में संशय हो सकता है फिर भी मनुष्य की उसमें प्रवृत्ति होती है क्योंकि पदार्थ का संशय भी प्रवृत्ति का कारण होता है। संसार और उसका कारण अनर्थ है उनके संशय से भी उनसे निवृत्ति होती है क्योंकि अनर्थ का संशय भी निवृत्ति का कारण होता है अतः जो मनुष्य अर्थ और अनर्थ के संशय को जानता है उसकी हेय यानी त्यागने योग्य पदार्थ से निवृत्ति और उपादेय यानी ग्रहण करने योग्य पदार्थ में प्रवृत्ति हो सकती है और जिसको अर्थ अनर्थ का संशय नहीं होता उसकी हेय और उपादेय में निवृत्ति और प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

(२६८)

जे छेए से सागरियं ण सेवए।



कठिन शब्दार्थ - छेए - छेक - कुशल, निपुण, सागारियं - मैथुन, सेवए - सेवन करता है।

भावार्थ - जो पुरुष कुशल - निपुण है वह मैथुन सेवन नहीं करता है।

दोहरी मूर्खता

(२६६)

कट्टु एवं अवियाणओ बिइया मंदस्स बालया।

भावार्थ - जो अज्ञानी मैथुन सेवन करके गुरु आदि के पूछने पर उसे छिपाता है, अपलाप करता है, अनजान बनता है वह उस मूर्ख (मंद मति) की दूसरी अज्ञानता (मूर्खता) है।

कामभोगों का त्याग

(२७०)

लद्धा हरत्था पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्ति वेमि।

कठिन शब्दार्थ - लद्धा - लब्ध प्राप्त हुए, हरत्था - उसके विपार्क को, पडिलेहाए - पर्यालोचन कर, आगमित्ता - जान कर, आणविज्जा - आज्ञा (उपदेश) दे, अणासेवणाए - अनासेवन - सेवन न करने की।

भावार्थ - लब्ध (प्राप्त हुए) कामभोगों का, उनके कट्टु परिणामों का पर्यालोचन कर, उन्हें दुःखदायी जान कर स्वयं उनका सेवन न करे और दूसरों को भी उनके अनासेवन-सेवन न करने की आज्ञा-उपदेश दे, ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - पुण्य पापादि के स्वरूप को जानने वाला विद्वान् पुरुष मैथुन का सेवन नहीं करता है। जो पासत्था आदि मोहनीय कर्म के उदय से मैथुन सेवन करता है और अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए शुरु के पूछने पर झूठ बोलता है एवं अपने कुकृत्य को छिपाता है वह मूर्ख यह दूसरी मूर्खता करता है क्योंकि मैथुन सेवन करना पहली मूर्खता है और झूठ बोलना दूसरी मूर्खता है। इस प्रकार यह दोहरा दोष सेवन है।

इस सूत्र का आशय यह है कि साधक को प्रमाद या अज्ञानतावश भूल हो जाने पर उसे सरलता पूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिये। ऐसा करने से दोष की शुद्धि हो जाती है। यदि दोष को छिपाने का प्रयत्न किया जाता है तो वह दोष पर दोष दोहरा पाप करता है।



(२७१)

पासह एगे रूवेसु गिद्धे परिणिज्जमाणे, एत्थ फासे पुणो पुणो, आवंती केयावंती लोयंसि आरंभजीवी।

कठिन शब्दार्थ - परिणिज्जमाणे - नरक आदि यातना स्थानों में जाते हुए को, फासे-स्पर्शों का, आवंती - जितने, केयावंती - कोई।

भावार्थ - रूप आदि विषयों में आसक्त पुरुषों को नरक आदि यातना स्थानों में जाते हुए देखो। इन्द्रिय विषयों में आसक्त वे पुरुष बार-बार इस संसार में स्पर्शों का अनुभव करते हैं यानी दुःख भोगते हैं। इस लोक में जितने कोई आरंभ जीवी - आरम्भ से जीने वाले प्राणी हैं वे सभी दुःख के भागी होते हैं।

विवेचन - आरम्भ से जीवन निर्वाह करने वाले विषयलोलुपी पुरुष विषयों में आसक्त होकर नाना प्रकार से शारीरिक और मानसिक दुःख उठाते हैं और नरकादि गतियों में जाते हैं।

(२७२)

एएसु चेव आरंभजीवी, एत्थवि बाले परिपच्चमाणे ॐ रमइ पावेहिं कम्मेहिं असरणे सरणंसि मण्णमाणे।

कठिन शब्दार्थ - परिपच्चमाणे (परितप्पमाणे) - परितप्त होता हुआ अथवा विषय रूप पिपासा से संताप को प्राप्त होता हुआ, रमइ - रमण करता है, असरणे - अशरण को, मण्णमाणे - मानता हुआ।

भावार्थ - सावद्य आरम्भ करने में प्रवृत्त इन गृहस्थों में शरीर निर्वाह के लिए रहने वाले आरम्भजीवी अन्यतीर्थिक और पार्श्वस्थ आदि भी दुःख के भागी होते हैं। इस अर्हत् प्रणीत संयम को स्वीकार करके भी राग द्वेष से क्लुषित चित्त वाला बाल अज्ञानी विषय तृष्णा से संतप्त होता हुआ अशरण को ही शरण मान कर पाप कर्मों में रमण करता है।

ॐ पाठान्तर - परितप्पमाणे।

अप्रशस्त (एकाकी) चर्या के दोष

(२७३)

इहमेगेसिं एगचरिया भवइ, से बहुकोहे-बहुमाणे-बहुमाए-बहुलोहे-बहुरए-बहुणडे-बहुसढे-बहुसंकप्ये, आसवसक्की पलिउच्छण्णे उट्टियवायं पवयमाणे “मा मे केइ अदक्खू” अण्णाणपमायदोसेणं, सययं मूढे धम्मं णाभिजाणइ।

कठिन शब्दार्थ - एगचरिया - एक चर्या - एकाकी विचरण करना, बहुरए - बहुरतः-पाप कर्म में बहुत रत अथवा बहुत कर्म रज वाला, बहुणडे - बहुनटः - लोगों को ठगने के लिए नट की तरह अनेक रूप धारण करने वाला, बहुसढे - बहुत शठता - प्रवंचना वाला, बहुसंकप्ये - बहुत संकल्प वाला, आसवसक्की - आसवों में आसक्त, पलिउच्छण्णे - कर्मों से आच्छादित, उट्टियवायं - उत्थितवाद को - स्वयं को संयम में उत्थित बताने की माया पूर्ण उक्ति को, मा मे केइ अदक्खू - मुझे कोई देख न ले, अण्णाणपमायदोसेणं - अज्ञान व प्रमाद के दोष से, सययं - सतत, णाभिजाणइ - नहीं जानता है।

भावार्थ - इस संसार में कुछ साधकों की विषय कषाय के कारण एकचर्या होती है यानी वे अकेले विचरण करते हैं किन्तु वे बहुत क्रोधी, बहुत मानी, बहुत मायी, बहुत लोभी, पाप कर्म में बहुत रत रहने वाले या बहुत कर्म रज वाले, जगत् को ठगने के लिए नट की तरह बहुरूपिया, अत्यंत शठ, बहुत संकल्प वाले, हिंसादि आसवों में आसक्त और कर्मों से आच्छादित होते हैं। वे “हम भी साधु हैं, धर्माचरण के लिए उद्यत हुए हैं” इस प्रकार से उत्थितवाद बोलते हैं। ‘मुझ को कोई देख न ले’ इस आशंका से छिंप कर पाप कर्म करते हैं वे अज्ञान और प्रमाद के दोष से सतत मूढ़ बने हुए धर्म को नहीं जानते हैं।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में एकाकी विचरण करने वाले नामधारी साधुओं के दोषों का चित्रण किया गया है।

साधक के लिए एकचर्या दो प्रकार की कही गई है - १. प्रशस्त और २. अप्रशस्त। इन दोनों प्रकार की एकचर्या के भी दो भेद हैं - १. द्रव्य एक चर्या और २. भाव एकचर्या। द्रव्य से प्रशस्त एकचर्या तब होती है जब प्रतिमाधारी, जिनकल्पी या संघादि के किसी महत्त्वपूर्ण कार्य या साधना के लिए एकाकी विचरण स्वीकार किया जाय। जिस एकचर्या के पीछे विषय लोलुपता हो.



अति स्वार्थ हो, दूसरों से पूजा-प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि पाने का लोभ हो, कषायों की उत्तेजना हो, दूसरों की सेवा नहीं करनी पड़े, दूसरों को अपने किसी दोष या अनाचार का पता न लग जाए-इन कारणों से एकाकी विचरना अप्रशस्त एकचर्या है। प्रस्तुत सूत्र में अप्रशस्त एकचर्या के दोषों का ही वर्णन किया गया है, भाव से प्रशस्त एकचर्या तीर्थकरों आदि की होती है।

उद्धियवायं (उत्थितवाद) से एकाकी विचरण करने वालों की मिथ्या उक्तियों का खंडन किया गया है। वे कहते हैं कि “मैं इसलिये एकाकी विचरण करता हूँ कि अन्य साधु शिथिलाचारी है, मैं उग्र आचारी हूँ अतः मैं उनके साथ कैसे रह सकता हूँ आदि”। सूत्रकार का कथन है कि इस प्रकार की आत्मप्रशंसा मात्र उन का वाक्जाल है। इस ‘उत्थितवाद’ को स्वयं को संयम में उत्थित बताने की मायापूर्ण उक्ति मात्र समझना चाहिये।

(२७४)

अट्टा पया माणव! कम्मकोविया जे अणुवरया अविजाए पलिमुक्खमाहु
आवट्टमेव अणुपरियट्ठंति त्ति बेमि।

॥ पंचम अज्झयणं पढमोहेसो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - अट्टा - विषय कषायों में आर्त - दुःखी, पया - प्रजा - सब प्राणी, कम्मकोविया - कर्म कोविद - कर्म पंडित - कर्म बांधने में निपुण, अणुवरया - अनुपरत - पाप से अनिवृत्त, अविजाए - अविद्या से, पलिमुक्खं - मोक्ष, आहु - बतलाते हैं, आवट्टमेव - संसार रूपी चक्र के आवर्त में ही, अणुपरियट्ठंति - भ्रमण करते रहते हैं।

भावार्थ - हे मानव! जो प्राणी विषय कषायों से आर्त-दुःखी है, कर्म बंधन करने में चतुर है, जो आस्रवों से विरत नहीं हैं, तो अविद्या से मोक्ष प्राप्त होना बतलाते हैं वे जन्म, मरणादि रूप संसार के आवर्त (भंवरजाल) में ही चक्कर काटते रहते हैं - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - मोक्ष से विपरीत संसार है। अविद्या संसार का कारण है अतः जो लोग अविद्या को विद्या मान कर मोक्ष का कारण बताते हैं वे संसार के भंवरजाल में बार-बार पर्यटन करते रहते हैं, उनके संसार का अन्त नहीं होता है।

॥ इति पांचवें अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥



पंचमं अज्झयणं बीओद्देसो

पांचवें अध्ययन का द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में जिनाज्ञा से विरुद्ध अकेला विचरने वाला मुनि नहीं है, यह बतलाया गया है। 'जिस तरह मुनि भाव प्राप्त किया जाता है' वह इस उद्देशक में बतलाया जाता है -

अनारंभजीवी

(२७५)

आवंती केयावंती लोयंसी अणारंभजीविणो एएसु चेव अणारंभ जीविणो।

कठिन शब्दार्थ - अणारंभजीविणो - अनारंभजीवी - आरंभ से रहित आजीविका करने वाले - आरंभ के त्यागी।

भावार्थ - इस लोक में जितने भी अनारंभजीवी हैं वे गृहस्थों के घर से निर्दोष आहारादि लेकर अनारंभ से ही अपने शरीर का निर्वाह करते हुए संयम जीवन से जीते हैं।

(२७६)

एत्थोवरए तं झोसमाणे 'अयं संधीति' अदक्खू, जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणेत्ति अण्णेसी।

कठिन शब्दार्थ - एत्थोवरए - सावद्य आरम्भ से निवृत्त, झोसमाणे - क्षय करता हुआ, अण्णेसी - अन्वेषण करता है, विग्गहस्स - शरीर का।

भावार्थ - इस सावद्य-आरम्भ से निवृत्त कर्मों का क्षय करता हुआ पुरुष मुनि भाव को प्राप्त होता है। यह संधि - उत्तम अवसर है - ऐसा देख कर क्षण भर भी प्रमाद न करे। इस औदारिक शरीर का यह वर्तमान क्षण है, इस प्रकार जो अन्वेषण करता है यानी प्रत्येक क्षण का जो महत्त्व समझता है, वह प्रमाद नहीं करता है।

विवेचन - असंयत प्राणियों का जीवन आरम्भ से युक्त होता है किन्तु मुनि का जीवन अनारंभी - आरंभ से रहित होता है। वह किसी भी परिस्थिति में आरम्भ - हिंसा का सेवन नहीं करता। वह तीन करण तीन योग से हिंसा का त्यागी होता है। संसार में रहते हुए भी वे

जल कमलवत्-निर्लेप रहते हैं। शरीर का निर्वाह भी वे निरवद्य विधि से करते हैं - यही अनारंभजीवी साधक का लक्षण है। वह अप्रमत्त जीवन जीने वाला होता है।

अप्रमाद का मार्ग

(२७७)

एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, उट्टिए णो पमायए, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं।

भावार्थ - यह अप्रमाद का मार्ग आर्य पुरुषों-तीर्थकरों ने कहा है, सभी प्राणियों के सुख दुःख को अलग-अलग जान कर उत्थित (धर्माचरण के लिए तत्पर) पुरुष प्रमाद न करे।

सम्यक् प्रव्रज्या

(२७८)

पुढो छंदा इह माणवा, पुढो दुक्खं पवेइयं से अविहिंसमाणे अणवयमाणे,
पुढो फासे विप्पणोल्लए। एस समिया परियाए वियाहिए।

कठिन शब्दार्थ- छंदा - अभिप्राय, अविहिंसमाणे - हिंसा न करता हुआ, अणवयमाणे- झूठ नहीं बोलता हुआ, विप्पणोल्लए - समभाव से सहन करे, समियाए - सम्यक्, शमिता (समता का), परियाए - पर्याय वाला।

भावार्थ - इस जगत् में मनुष्यों के भिन्न-भिन्न अभिप्राय (अध्यवसाय या संकल्प) होते हैं इसलिए उनके दुःख भी भिन्न-भिन्न कहे गये हैं। वह अनारंभजीवी साधक किसी भी जीव की हिंसा न करता हुआ, असत्य नहीं बोलता हुआ, शीत उष्ण आदि परीषहों का स्पर्श पाकर अर्थात् परीषह उपसर्गों के आने पर उन्हें समभाव से सहन करे। ऐसा समभावी साधक सम्यक् पर्याय वाला (उत्तम चारित्र संपन्न) कहा गया है।

विवेचन - प्रत्येक प्राणी के सुख दुःख और अभिप्राय भिन्न-भिन्न हैं यह जानने वाला और अनारंभजीवी - बिना आरंभ के जीविका करने वाला साधक प्राणियों की हिंसा न करता हुआ, मिथ्या भाषण तथा अदत्तादान आदि का त्याग करता हुआ पांच महाव्रतों का सम्यक् पालन करे और जो परीषह उपसर्ग आवे उन्हें समभाव पूर्वक सहन करे। जो परीषह उपसर्गों को समभाव से सहन करता है, वही सम्यक् प्रव्रज्या वाला है।



(२७६)

जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं उदाहु ते आयंका फुसंति इइ उदाहु धीरे ते फासे पुट्टो अहियासए।

कठिन शब्दार्थ - असत्ता - आसक्त नहीं है - अनासक्त, आयंका - आतंक - रोग, अहियासए - सहन करे।

भावार्थ - जो पुरुष पापकर्मों में आसक्त नहीं है यदि कदाचित् उनको रोग स्पर्श करें तो धीर पुरुषों (तीर्थंकरों) ने ऐसा कहा है कि वे उन रोगों के स्पर्श करने पर उस कष्ट को समभाव पूर्वक सहन करे।

(२८०)

से पुव्वं पेयं, पच्छापेयं भेउरधम्मं विद्धंसणधम्मं अधुवं अणिइयं असासयं चयावचइयं विपरिणामधम्मं, पासह एयं रूवसंधिं।

कठिन शब्दार्थ - पुव्वं पेयं - पहले मैंने ही भोगा है, पच्छापेयं - बाद में भी मुझे ही भोगना पड़ेगा, भेउरधम्मं - भिदुरधर्मः - छिन्न-भिन्न (भेदन) होने वाला, विद्धंसणधम्मं - विध्वंसनधर्म - विध्वंस होने वाला, चयावचइयं - चयापचयिक - चय उपचय वाला, विपरिणामधम्मं - विपरिणामधर्मः - विविध परिणाम (परिवर्तन) वाला, रूवसंधिं - रूप संधि को - देह स्वरूप और अमूल्य अवसर को।

भावार्थ - वह रोगग्रस्त मुनि यह सोचे कि मैंने पहले भी रोगादि दुःखों को सहन किया था और बाद में भी मुझे ही भोगना पड़ेगा। यह औदारिक शरीर छिन्न-भिन्न होने वाला है, विध्वंस होने वाला है। यह अधुव है, अनित्य है, अशाश्वत है, यह चय-अपचय (घट-बढ़) वाला है और विपरिणाम - विविध परिणाम वाला है। अतः इस रूप संधि - देह के स्वरूप को देखो, अमूल्य अवसर को देखो।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि परीषह उपसर्ग और रोगादि के आने पर साधक उन्हें अनाकुल और धैर्यवान् होकर समभाव से सहन करे और सोचे कि इस प्रिय लगने वाले शरीर को पहले या पीछे एक न एक दिन अवश्य छोड़ना पड़ेगा। मेरे द्वारा पूर्व में किये हुए असाता वेदनीय कर्मों के उदय से ही ये दुःख (परीषह, उपसर्ग रोगादि) आये हैं और इन



दुःखों को मुझे समभाव से सहन करना है क्योंकि कृत कर्मों को मुझे ही क्षय करना है। इनका फल भोगे बिना छुटकारा होने वाला नहीं है।

एक आचार्य ने ठीक ही कहा है -

स्वकृत परिणतानां दुर्नयानां विपाकः।

पुनरपि सहनीयोऽन्न ते निर्गुणस्य।

स्वयमनुभवताऽसौ दुःख मोक्षाय सद्यो।

भव शत गति हेतु जयितेऽनिच्छतस्ते॥

- खेद रहित होकर स्वकृत-कर्मों के बंध का विपाक अभी नहीं सहन करोगे तो फिर (कभी न कभी) सहन करना (भोगना) ही पड़ेगा। यदि वह कर्म फल स्वयं स्वेच्छा से भोग लगे तो शीघ्र ही दुःख से छुटकारा हो जायगा। यदि अनिच्छा से भोगोगे तो वह सौ भवों (जन्मों) में गमन का कारण हो जाएगा।

यह सोच कर प्राप्त अवसर का लाभ उठायें और अप्रमत्त रूप से साधना करें।

यह शरीर अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। इसे सफल बनाने के लिए शुभ अनुष्ठान करना ही विवेकी पुरुषों का कर्तव्य है। अतएव शास्त्रकार फरमाते हैं कि 'पांच इन्द्रियों से परिपूर्ण शरीर की जो प्राप्ति हुई है यह धर्माचरण करने का बड़ा भारी अवसर है। ऐसे सुअवसर को पाकर धर्माचरण करो और धर्माचरण करने में एक क्षण भर भी प्रमाद मत करो।

(२८१)

समुप्पेहमाणस्स इक्काययणरयस्स इह विप्पमुक्कस्स णत्थि मग्गे विरयस्स त्ति बेमि।

कठिन शब्दार्थ - समुप्पेहमाणस्स - सम्यक् प्रकार से अनुप्रेक्षा करने वाले को, इक्काययणरयस्स - एकायत नरतस्य - आत्मरमण रूप एक आयतन में लीन, ज्ञान दर्शन और चारित्र में रत, विप्पमुक्कस्स - शरीर के ममत्त्व से रहित, विरयस्स - विरत के लिए।

भावार्थ - 'यह शरीर अनित्य है' - इस प्रकार सम्यक् अनुप्रेक्षा करने वाला, ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय का आराधक शरीर पर ममत्त्व नहीं रखने वाला हिंसादि आस्रवों से विरक्त (निवृत्त) साधक के लिए नरक, तिर्यच आदि गति में जाने का मार्ग नहीं है - ऐसा मैं कहता हूँ।



विवेचन - जो साधक रत्नत्रयी की साधना में संलग्न है, शरीर के ममत्व एवं हिंसादि आस्रवों से निवृत्त है वह नरक, तिर्यच आदि दुर्गति में नहीं जाता है - ऐसा सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया है।

परिग्रह की भयंकरता

(२८२)

आवंती केयावंती लोगंसि परिग्गहावंती, से अप्पं वा, बहं वा, अणुं वा, थूलं वा, चित्तमंतं वा, अचित्तमंतं वा, एएसु चेव परिग्गहावंती।

कठिन शब्दार्थ - परिग्गहावंती - परिग्रह वाले हैं, अप्पं - अल्प (थोड़ा), बहं - बहुत, अणुं - अणु, थूलं - स्थूल, चित्तमंतं - चेतना वाला, अचित्तमंतं - अचेतनावान्-चेतना से रहित।

भावार्थ - इस लोक में जितने भी परिग्रहवान् - परिग्रह वाले हैं वे अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त वस्तुओं का परिग्रहण (संग्रह) करते हैं।

परिग्रह त्याग का उपदेश

(२८३)

एतदेवेगेसिं महब्भयं भवइ, लोगवित्तं च णं उवेहाए।

कठिन शब्दार्थ - महब्भयं - महान् भयदायक, लोगवित्तं - लोगों के वित्त-धन या लोकवृत्त (संज्ञाओं) को उवेहाए - उत्प्रेक्ष्य - ज्ञ परिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग दे, उपेक्षा कर दे।

भावार्थ - इन वस्तुओं में परिग्रह - मूर्च्छा ममत्व रखने के कारण ही यह परिग्रह उनके लिए महान् भय का कारण होता है। असंयमी पुरुषों के वित्त (धन) को या परिग्रह आदि संज्ञाओं का विचार कर उनका परित्याग कर दे।

(२८४)

एए संगे अविद्याणओ से सुपडिबद्धं सूवणीयंति णच्चा, पुरिसा! परम-चक्खू विप्परिककमा, एएसु चेव बंभचेरं ति बेमि।



कठिन शब्दार्थ - संगे - संग को, अवियाणओ - नहीं जानता हुआ, सुपडिबद्धं - सम्यक् प्रकार से प्रतिबद्ध, सूवणीयंति - ज्ञानादि प्राप्त है, परमचक्खू - परम चक्षुष्मान् - ज्ञान एवं मोक्ष में दृष्टि रखते हुए, विप्परिक्कमा - पराक्रम करे।

भावार्थ - जो पुरुष इस संग (परिग्रह जनित आसक्तियों) को नहीं जानता है वह महाभय को पाता है अर्थात् जो परिग्रह का त्याग कर देता है उसको भय नहीं होता है। परिग्रह का त्याग करने वाला पुरुष सम्यक् प्रकार से प्रतिबुद्ध और ज्ञानादि को प्राप्त होता है यह जानकर हे परम चक्षुष्मान् पुरुष! (ज्ञानरूप चक्षु रखने वाले, मोक्ष में दृष्टि रखने वाला पुरुष) संयम पालन में पराक्रम (पुरुषार्थ) कर। जो परिग्रह से रहित हैं, ज्ञान एवं मोक्ष में दृष्टि रखने वाले हैं उन्हीं में ब्रह्मचर्य होता है - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्रों में परिग्रह की भयंकरता बताते हुए उसके त्याग की प्रेरणा दी गयी है। परिग्रह चाहे थोड़ा सा भी हो, सूक्ष्म हो, सच्चित्त (शिष्य, शिष्या, भक्त या भक्ता) का हो या अच्चित्त (शास्त्र, पुस्तक, वस्त्र, पात्र, क्षेत्र, प्रसिद्धि आदि) का हो, अल्प मूल्यवान् हो या बहुमूल्य, थोड़े से वजन का हो या भारी हो, यदि साधक की ममता, मूर्च्छा या आसक्ति इनमें से किसी पदार्थ पर है तो वह महाव्रत धारी होते हुए भी गृहस्थ के समान ही है।

वस्तुओं में आसक्ति होने के कारण उनकी सुरक्षा का भय भी बना रहता है इसीलिए परिग्रह को महाभय रूप कहा है। जो पुरुष परिग्रह का त्याग कर देता है वह निर्भय होता है और उसका ज्ञान उत्तम होता है अतः विवेकी पुरुषों को परिग्रह का त्याग कर देना चाहिये।

“एएसु च्चेव बंधघेरं” का आशय यह है कि जिसकी शरीर और वस्तुओं के प्रति मूर्च्छा - ममता होगी वह इन्द्रिय संयम रूप ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकेगा। अहिंसादि आवरण रूप ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं कर सकेगा, न ही गुरु कुलवास रूप ब्रह्मचर्य में रह पाएगा और न ही वह आत्मा-परमात्मा (ब्रह्म) में विचरण कर पाएगा। इसीलिए कहा गया है कि परिग्रह से विरत मनुष्यों में ही सच्चे अर्थ में ब्रह्मचर्य रह सकेगा।

(२८५)

से सुयं च मे, अज्झत्थयं च मे, बंधपमुक्खो अज्झत्थेव।

कठिन शब्दार्थ - सुयं - सुना है, अज्झत्थयं - अध्यात्म - आत्मा में अनुभव (स्थित), बंधपमुक्खो - बंध से मुक्ति।



भावार्थ - मैंने सुना है और मेरे अध्यात्म (आत्मा) में भी स्थित है यानी मैंने अनुभव किया है कि बंध से छुटकारा अध्यात्म अर्थात् ब्रह्मचर्य (परिग्रहत्याग) से ही होता है।

(२८६)

इत्थ विरए अणागारे दीहरायं तितिक्खए।

कठिन शब्दार्थ - विरए - विरत, दीहरायं - दीर्घ रात्रि - जीवन पर्यन्त, तितिक्खए - समभाव पूर्वक सहन करे।

भावार्थ - अतः परिग्रह से विरत अनगार जीवन पर्यंत परिषहों को समभाव से सहन करे।

(२८७)

पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्तो परिव्वए।

भावार्थ - जो प्रमत्त (प्रमादी) है उन्हें निर्ग्रन्थ धर्म से बाहर देख (समझ)। अतः अप्रमत्त होकर संयम में विचरण कर।

(२८८)

एयं मोणं सम्मं अणुवासिज्जासि त्ति बेमि।

॥ पंचमं अज्झयणं बीओहेसो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - एयं - इस, मोणं - मौन-मुनि धर्म का सम्यक् प्रकार से, अणुवासिज्जासि - अनुपालन कर।

भावार्थ - इस मुनिधर्म का सम्यक् अनुपालन कर - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - जो परिग्रह से रहित नहीं है तथा विषय कषायों में आसक्त है, वह निर्ग्रन्थ धर्म से बहिर्भूत है। इस बात को जान कर विवेकी पुरुष प्रमाद का त्याग करे और अप्रमत्त होकर शुद्ध संयम का पालन करें।

॥ इति पांचवें अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्ता ॥



पंचम अज्झयाणं तडओद्वेसो

पांचवें अध्ययन का तृतीय उद्देशक

पांचवें अध्ययन के दूसरे उद्देशक में अविरत पुरुष को परिग्रही कहा है। अब तीसरे उद्देशक में अपरिग्रही पुरुष का वर्णन किया जाता है। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

अपरिग्रही कौन?

(२८६)

आवंती केयावंती लोयंसि अपरिग्गहावंती एएसु चेव अपरिग्गहावंती सोच्चा वई मेहावी, पंडियाणं णिसामिया।

कठिन शब्दार्थ - अपरिग्गहावंती - अपरिग्रही - परिग्रह से रहित, वई - वचन, पंडियाणं- पंडितों के, णिसामिया - हृदय में विचार कर।

भावार्थ - इस लोक में जितने भी अपरिग्रही हैं वे इन वस्तुओं में मूर्च्छा ममत्व आसक्ति नहीं रखने के कारण ही अपरिग्रही हैं। अतः मेधावी साधक तीर्थकरों की आगम रूपी वाणी सुन कर तथा गणधर एवं आचार्य आदि पंडितों के वचन हृदयंगम करके अपरिग्रही होते हैं।

विवेचन - तीर्थकर भगवान् के उपदेश को सुन कर एवं तीर्थकरोक्त आगम के रहस्य को जान कर जो पुरुष अल्प या बहुत सब प्रकार के परिग्रह का त्याग कर देते हैं, वे अपरिग्रही होते हैं।

(२६०)

समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए जहित्थ मए संधी झोसिए एवमण्णत्थ संधी दुज्झोसए भवइ, तम्हा बेमि णो णिणहवेज्ज वीरियं।

कठिन शब्दार्थ - समियाए - समता में, समता से, आरिएहिं - आर्यों - तीर्थकरों ने, जहा - जिस प्रकार, इत्थ - इस धर्म - ज्ञान, दर्शन, चरित्र रूप धर्म से, संधी - कर्म संतति का, झोसिए - क्षय किया है, अण्णत्थ - अन्यत्र, दुज्झोसए - क्षय करना (दुःसाध्य) कठिन है, वीरियं - वीर्य (शक्ति) को, णो णिणहवेज्ज - छिपाना नहीं चाहिये।

भावार्थ - आर्यों (तीर्थकरों) ने समता में धर्म कहा है अथवा आर्यों ने समभाव से धर्म कहा है। भगवान् ने फरमाया है कि जिस प्रकार मैंने ज्ञान दर्शन चारित्र रूप धर्म से कर्म का

क्षय किया है उसी प्रकार अन्यत्र (अन्य धर्म में) कर्म संतति का क्षय करना दुःसाध्य - कठिन है। इसलिये मैं कहता हूँ कि संयम परिपालन में (मोक्षमार्ग की साधना में) अपनी शक्ति का गोपन मत करो अर्थात् अपनी शक्ति को छिपाओ मत, पराक्रम करो।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में रत्नत्रय की समन्वित साधना करने की प्रेरणा की गयी है। तीर्थंकर भगवान् स्वयं फरमाते हैं कि यह आर्हत दर्शन ज्ञान, दर्शन चारित्र रूप तथा समतामय है। ऐसे वीतराग प्रतिपादित धर्म में स्थित होकर जिस प्रकार कर्मों का क्षय किया जाता है वैसा अन्य धर्मों में नहीं है क्योंकि अन्य धर्मों में कर्मक्षय का सम्यक् उपाय नहीं बतलाया गया है। अतः तीर्थंकर भगवान् स्वयं फरमाते हैं कि मैंने भी इसी धर्म में स्थित होकर विशिष्ट तप के द्वारा कर्मों का क्षय किया है। इसलिये अन्य मोक्षार्थियों को भी ऐसा ही करना चाहिये तथा संयमानुष्ठान और तपाराधन में अपने पराक्रम को नहीं छिपाना चाहिये।

(२६१)

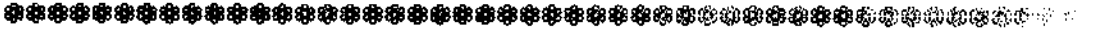
जे पुव्वुट्ठाई णो पच्छाणिवाई, जे पुव्वुट्ठाई पच्छाणिवाई, जे णो पुव्वुट्ठाई
णो पच्छाणिवाई, सेऽवि तारिसए सिया, जे परिण्णाय लोगमण्णेसयंति, एयं
णियाय मुणिणा पवेइयं।

कठिन शब्दार्थ - पुव्वुट्ठाई - पूर्वोत्थायी - पूर्व में साधना के लिए उद्यत, पच्छाणिवाई- पश्चान्निपाती - बाद में पतित होता है, लोगं - लोक का, अण्णेसयंति - अन्वेषण करते हैं, णियाय - जान कर, मुणिणा - मुनि ने - केवलज्ञानी तीर्थंकर प्रभु ने, पवेइयं - कहा है।

भावार्थ - जो पहले संयम साधना के लिए उद्यत होता है और बाद में संयम से पतित नहीं होता है। जो पहले संयम अंगीकार करता है और बाद में पतित हो जाता है। जो पहले भी संयम स्वीकार नहीं करता और बाद में पतित भी नहीं होता है। जो साधक लोक को जान कर और त्याग कर पुनः लोक का अन्वेषण करते हैं, लोकैषणा में निमग्न रहते हैं वे भी वैसे ही (गृहस्थ तुल्य ही) है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में दीक्षित होने वाले साधकों की तीन श्रेणियां बताई है, जो इस प्रकार है-

१. पूर्वोत्थायी पश्चात् अनिपाती - जो मनुष्य संसार के स्वरूप को अच्छी प्रकार जान कर सिंह के समान वीरता पूर्वक गृह त्याग कर प्रव्रजित होते हैं और सिंह के समान ही संयम का पालन करते हैं। वे प्रथम भंग के स्वामी उत्तम कोटि के महात्मा होते हैं। जैसे कि - काकंदी के धन्ना अनगार, गौतमकुमार, गजसुकुमाल आदि।



२. पूर्वोत्थायी पश्चान्निपाती - जो पहले सिंह के समान संयम स्वीकार करते हैं किंतु बाद में श्रृगाल के समान वृत्ति वाले होकर संयम से पतित हो जाते हैं। ऐसे पुरुष दूसरे भंग के स्वामी हैं। जैसे कि पुंडरीक राजा का छोटा भाई कंडरीक मुनि (ज्ञाता सूत्र अध्ययन १६)।

३. न पूर्वोत्थायी न पश्चान्निपाती - जो न तो पहले दीक्षित होते हैं और न ही पीछे गिरते हैं। इस भंग के स्वामी गृहस्थ हैं और शाक्य आदि भी इसी भंग में हैं क्योंकि वे सावद्य योग का त्याग नहीं करते हैं अतः वे गृहस्थ के तुल्य ही हैं।

चौभंगी के हिसाब से एक चौथा भंग भी बन सकता है -

४. न पूर्वोत्थायी, पश्चान्निपाती - जो पहले संयम ग्रहण नहीं करता है और पीछे पतित हो जाता है। यह भंग शून्य है। इसलिये इस भंग को उपरोक्त सूत्र में नहीं लिखा गया है।

धर्म स्थिरता के सूत्र

(२६२)

इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, पुव्वावरायं जयमाणे सया सीलं संपेहाए।

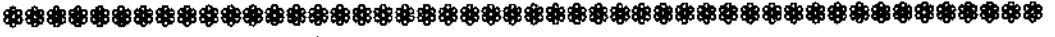
कठिन शब्दार्थ - पुव्वावरायं - पूर्व रात्रि (रात्रि का प्रथम प्रहर) और अपर रात्रि (रात्रि का अंतिम प्रहर) में, सीलं - शील एवं संयम को, संपेहाए - भली प्रकार जान कर उसका पालन करे।

भावार्थ - इस विषय (उत्थान-पतन) को केवलज्ञान के द्वारा जान कर मुनि ने अर्थात् तीर्थंकर भगवान् ने कहा है। इस जिनशासन में स्थित पुरुष तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा की इच्छा करे, पंडित - सत् और असत् का विवेक रखने वाला बने, स्नेह रहित (रागद्वेष, आसक्ति रहित) हो, पूर्व रात्रि और अपर रात्रि में यत्नपूर्वक सदाचार - स्वाध्याय ध्यान में रत रहे और सदा शील को भली प्रकार जान कर उसका पालन करे।

(२६३)

सुणिया भवे अकामे अझंझे।

भावार्थ - शील एवं संयम पालन के फल को सुन कर अकाम - काम रहित और अझंझ - मायादि से रहित बने (होवे)।



विवेचन - प्रस्तुत दो सूत्रों में साधक के लिए धर्म में स्थिरता हेतु आठ मूल सूत्र बताए हैं जो इस प्रकार हैं -

१. आज्ञाकांक्षी - आज्ञा के दो अर्थ हैं - १. तीर्थकरों का उपदेश और २. तीर्थकर प्रतिपादित आगम। साधक आज्ञाकांक्षी (आज्ञा रुचि) वाला हो।

२. पण्डित - वह पण्डित कहलाता है जो १. सद असद् विवेकी हो २. इन्द्रियों एवं मन से पराजित न हो ३. ज्ञान रूपी अग्नि से कर्मों को जलाने वाला हो ४. क्षण को पहचानने वाला हो, उसे ज्ञानियों ने पण्डित कहा है।

३. स्नेह रहित हो - स्नेह-रागद्वेष (आसक्ति) रहित हो।

४. पूर्व रात्रि अपर रात्रि में यत्नवान् - पूर्व रात्रि - रात्रि के प्रथम प्रहर में और अपर रात्रि-रात्रि के पिछले प्रहर में स्वाध्याय, ध्यान, ज्ञानचर्चा या आत्मचिंतन करते हुए अप्रमत्त रहे।

५. शीलसंप्रेक्षा - चार प्रकार के शील कहे गये हैं - १. महाव्रतों की साधना २. तीन गुप्तियां ३. पंचेन्द्रिय दमन ४. चार कषायों का निग्रह - इनका सतत निरीक्षण करना शील संप्रेक्षा है।

६. श्रवण - लोक में सारभूत परमतत्त्व - ज्ञान दर्शन चारित्र रूप मोक्ष मार्ग का श्रवण करना।

७. अकाम (काम-रहित) - इच्छा - काम और मदन - काम से रहित होना।

८. अज्ञांझ - माया या लोभेच्छा से रहित होना।

उपर्युक्त आठ उपायों के सहारे साधक सतत संयम पालन में अप्रमत्त रहता हुआ आगे बढ़ता रहे।

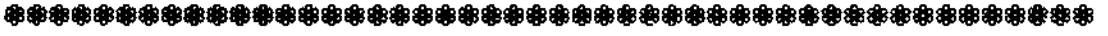
आंतरिक युद्ध

(२६४)

इमेणं चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्जेण बज्जाओ? जुद्धारिहं खलु दुल्लहं।

कठिन शब्दार्थ - जुज्झाहि - युद्ध कर, बज्जाओ - बाहर के, जुज्जेण - युद्ध से, जुद्धारिहं - भाव युद्ध के योग्य।

भावार्थ - इस कर्म शरीर (कषायात्मा) के साथ युद्ध कर, बाहर के युद्ध से तुझे क्या प्रयोजन है? भाव युद्ध के योग्य औदारिक शरीर आदि साधन प्राप्त करना निश्चय ही दुर्लभ है।



विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार ने आंतरिक युद्ध की प्रेरणा दी है। हमें बाह्य शत्रुओं के साथ युद्ध नहीं करना है। शरीर और कर्मों के साथ आंतरिक युद्ध करना है। औदारिक शरीर जो इन्द्रियों और मन के शस्त्र लिए हुए है तथा कर्म शरीर - जिसके पास काम क्रोध मद लोभ आदि सेना है। इन दोनों के साथ आंतरिक युद्ध करके कर्मों को क्षीण कर देना ही साधक का लक्ष्य होना चाहिये। विषय कषाय में प्रवृत्त इन्द्रियों और मन के साथ युद्ध करके उन्हें जब तक वश में नहीं किया जाता - जीत नहीं लिया जाता तब तक आत्म-कल्याण नहीं हो सकता है। इसीलिये ज्ञानियों ने इस आंतरिक युद्ध (भाव युद्ध) के लिये योग्य साधन-सामग्री प्राप्त होना दुर्लभ बताया है।

(२६५)

जहित्थ कुसलेहिं परिण्णाविवेगे भासिए, चुए हु बाले गब्भाइसु रज्जइ।

कठिन शब्दार्थ - परिण्णा विवेगे - परिज्ञा और विवेक, चुए - च्युत, गब्भाइसु - गर्भ आदि में, रज्जइ - फंस जाता है।

भावार्थ - कुशल पुरुषों (तीर्थंकरों) ने इस जगत् में भाव युद्ध का जो परिज्ञा विवेक (ज्ञान) बताया है। साधक को तदनुसार मानना और आचरण करना चाहिये। धर्म से च्युत अज्ञानी जीव गर्भ आदि में फंस जाता है।

(२६६)

अस्सिं चेयं पव्वुच्चइ, रूवंसि वा छणंसि वा।

भावार्थ - इस आर्हत प्रवचन में यह कहा जाता है कि रूप आदि विषयों में तथा हिंसा आदि में आसक्त होने वाला जीव धर्म से पतित (च्युत) हो जाता है।

(२६७)

से हु एगे संविद्धपहे मुणी अण्णहा लोगमुवेहमाणे।

कठिन शब्दार्थ - संविद्धपहे - मोक्ष मार्ग पर चलने वाला, अण्णहा - अन्यथा, उवेहमाणे - उत्प्रेक्षण - गहराई से अनुप्रेक्षण करता हुआ।

भावार्थ - निश्चय से वह एक मुनि ही मोक्ष मार्ग पर चलने वाला है जो विषय कषायादि के वशीभूत एवं हिंसादि प्रवृत्त लोक को देख कर उसकी उपेक्षा करता है।



(२६८)

इति कम्मं परिण्णाय सव्वसो से ण हिंसइ संजमइ णो पगब्भइ, उवेहमाणो पत्तेयं सायं।

कठिन शब्दार्थ - परिण्णाय - जान कर, संजमइ - संयम का पालन करता है, णो पगब्भइ - धृष्टता नहीं करता है।

भावार्थ - इस प्रकार कर्म और उसके कारण को सम्यक् प्रकार से जान कर वह मुनि सब प्रकार से जीव हिंसा नहीं करता है। संयम का पालन करता है और असंयम में धृष्टता नहीं करता है। प्रत्येक प्राणियों के सुख दुःख को अलग अलग देखता हुआ किसी की भी हिंसा न करे।

(२६९)

वण्णाएसी णारभे कंचणं सव्वलोए, एगप्पमुहे विदिसप्पइण्णे णिव्विण्णचारी अरए पयासु।

कठिन शब्दार्थ - वण्णाएसी - यश अथवा रूप का अभिलाषी, एगप्पमुहे - एक मोक्ष की ओर मुख - दृष्टि करके, विदिसप्पइण्णे - विपरीत दिशाओं - संयम विरोधी मार्गों को पार करके, णिव्विण्णचारी - विरक्त होकर, अरए - अरत, पयासु - स्त्रियों में।

भावार्थ - यश का अथवा रूप का अभिलाषी होकर मुनि समस्त लोक में किसी भी प्रकार का आरंभ (सावद्य कार्य-हिंसा) न करे। एक मात्र मोक्ष मार्ग में दृष्टि रखता हुआ विपरीत दिशाओं को (संयम विरोधी मार्गों को) तेजी से पार कर जाए। वैराग्ययुक्त होकर आचरण करने वाला साधक स्त्रियों के प्रति अरत (अनासक्त) रहे।

(३००)

से वसुमं सव्वसमण्णागयपण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावकम्मं तं णो अण्णेसी।

कठिन शब्दार्थ- वसुमं - धनी - संयम रूप धन का स्वामी, सव्व समण्णागयपण्णाणेणं- सर्व समन्वागत प्रज्ञा से - विशिष्ट ज्ञान से, अण्णेसी - अन्वेषण करे।



भावार्थ - वह संयम रूप धन का स्वामी मुनि समस्त पदार्थों का विशिष्ट ज्ञान रखने वाली अपनी आत्मा से नहीं करने योग्य उस पाप कर्म का अन्वेषण न करे अर्थात् पाप कर्म का आचरण न करे।

(३०१)

जं सम्मं ति पासहा तं मोणं ति पासहा, जं मोणं ति पासहा तं सम्मं ति पासहा।

कठिन शब्दार्थ - सम्मं - सम्यक् (सम्यक्त्व, सत्यत्व), मोणं - मौन - संयमानुष्ठान, पासहा - देखो।

भावार्थ - जो सम्यक् (सम्यक्त्व, सत्यत्व) को देखता है वह मुनित्व (संयम) को देखता है और जो मुनित्व को देखता है वह सम्यक् को देखता है।

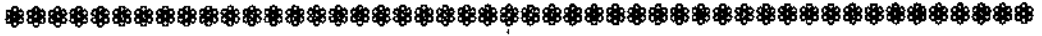
विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में सम्यक् से रत्नत्रयी - सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का ग्रहण और मौन - मुनित्व से संयम का ग्रहण किया गया है। जहां रत्नत्रयी होगी वहां मुनित्व (संयम) होगा और जहां संयम है वहां रत्नत्रयी अवश्य होगी।

(३०२)

ण इमं सककं सिढिलेहिं अद्दिज्जमाणेहिं गुणासाएहिं वंकसमायारेहिं पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं।

कठिन शब्दार्थ - सककं - शक्य, सिढिलेहिं - शिथिल - संयम और तप में दृढ़ता से रहित, अद्दिज्जमाणेहिं - पुत्रादि के स्नेह से आर्द्र - अनुरक्त, गुणासाएहिं - शब्दादि विषयों के स्वाद में आसक्त, वंकसमायारेहिं - वक्राचारी (मायावी), पमत्तेहिं - प्रमादी, गारमावसंतेहिं - गृहवासी - गृहस्थ भाव अपनाए हुए।

भावार्थ - उन साधकों द्वारा संयम पालन शक्य नहीं है जो शिथिल हैं, पुत्रादि से स्नेह युक्त हैं, शब्दादि विषयों के स्वाद में आसक्त हैं, वक्राचारी हैं, प्रमादी हैं और गृहवासी - गृहस्थ भाव अपनाए हुए हैं।



(३०३)

मुणी मोणं समायाए, धुणे कम्मसरीरंगं, पंतं लूहं सेवंति, वीरा सम्मत्त-
दंसिणो ॥ एस ओहंतरे मुणी, तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्ति बेमि ॥३०३॥

॥ तइओहेसो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - पंतं - प्रान्त (बचा खुचा थोड़ा सा) लूहं - रूक्ष (रूखा - नीरस),
ओहंतरे - ओघंतर - संसार रूप समुद्र को तिरने वाला, तिण्णे - तीर्ण - तिरा हुआ, मुत्ते -
मुक्त, विरए - विरत, वियाहिए - कहा गया है।

भावार्थ - मुनि संयम को स्वीकार करके कर्म शरीर को - कर्मों को धुन डाले - विनाश
करे। सम्यक्त्वदर्शी (समत्वदर्शी) वीर मुनि अन्त प्रान्त और रूक्ष आहार का सेवन करते हैं।

इस संसार रूप समुद्र को तिरने वाला मुनि तीर्ण (तिरा हुआ), मुक्त और विरत कहा गया
है - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - संयम का पालन करना सरल नहीं है। हर कोई प्राणी संयम का पालन नहीं कर
सकता है। तप संयम में शिथिल, स्त्री पुत्रादि में ममत्व रखने वाला, शब्दादि विषयों में गृद्ध,
मायावी और प्रमादी पुरुषों से समस्त पापों के त्याग रूप संयम का पालन नहीं हो सकता है किन्तु
संसार के स्वरूप को भलीभांति जान कर उसका त्याग करने वाले और कर्म विदारण में निपुण मुनि
ही संयम का पालन कर सकते हैं। वे अन्त प्रान्त और रूक्ष आहार का सेवन कर संयम यात्रा का
निर्वाह करते हैं और तप द्वारा कर्मों का क्षय करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाते हैं।

॥ इति पांचवें अध्ययन का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

पंचमं अज्झयणं चउत्थोद्देशो

पांचवें अध्ययन का चौथा उद्देशक

तीसरे उद्देशक में बतलाया गया है कि हिंसा, विषय भोग और परिग्रह में महान् दोष है अतः
इन से जो विरत है वही मुनि है। अब चौथे उद्देशक में अकेले विचरने वाले के दोषों को बता कर
उसके मुनि न होने का कारण बताया जाता है। इस उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार है -



दोष युक्त एकल विहार

। (३०४)

गामाणुगामं दूइजमाणस्स दुज्जायं दुप्परक्कंतं भवइ अवियत्तस्स भिक्खुणो।

कठिन शब्दार्थ - गामाणुगामं - ग्रामानुग्राम - एक ग्राम से दूसरे ग्राम को, दूइजमाणस्स-विचरते हुए, दुज्जायं - दुर्यात - अवांछनीय (बुरा) गमन, दुप्परिक्कंतं - दुष्पराक्रांत - दुःसाहस से युक्त पराक्रम, अवियत्तस्स - अव्यक्त - वय और श्रुत में अगीतार्थ (अपरिपक्व)।

भावार्थ - अव्यक्त (अपरिपक्व-अगीतार्थ) साधु का ग्रामानुग्राम विचरण करना दुर्यात और दुष्पराक्रांत है यानी सुखप्रद नहीं है, उनके चारित्र का पतन होने की संभावना रहती है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में अव्यक्त (अगीतार्थ) साधु के एकल विहार का निषेध किया गया है। जो साधु श्रुत में और वय (अवस्था) में परिपक्व नहीं है वह 'अव्यक्त' कहलाता है। जो आचार कल्प का अर्थ नहीं जानता है और अवस्था में भी अल्प है ऐसा साधु यदि गच्छ से निकल कर अकेला विचरता है तो उसका विहार दोष युक्त होना संभव है क्योंकि मार्ग में अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों के आने से उसकी संयम से भ्रष्ट हो जाने की सम्भावना रहती है और जिस स्थान पर वह ठहरता है वहां पर भी अनेक दोष लगने की संभावना रहती है। इसीलिए आगमकार एकल विहार का निषेध करते हैं।

अव्यक्त की श्रुत और वय की अपेक्षा से चतुर्भंगी इस प्रकार है -

१. श्रुत और वय से अव्यक्त - जिसने नौवें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु तक का अध्ययन नहीं किया है वह श्रुत से अव्यक्त है और १६ वर्ष की वय से जो नीचे का है वह वय से अव्यक्त है, जो श्रुत से भी अव्यक्त है और वय से भी अव्यक्त है उसका अकेला विचरना उचित नहीं है क्योंकि उसके संयम और शरीर की हानि संभव है।

२. श्रुत से अव्यक्त किंतु वय से व्यक्त - जो श्रुत-आचार के ज्ञान से तो अव्यक्त है किंतु वय से व्यक्त यानी १६ वर्ष से अधिक उम्र वाला है ऐसा साधक भी अकेला विचरण करे तो अगीतार्थ होने के कारण उसके भी संयम और शरीर की विराधना संभव है।

३. श्रुत से व्यक्त किंतु वय से अव्यक्त - आचार के ज्ञान से युक्त किंतु १६ या १६ वर्ष से कम अवस्था का साधक एकाकी विचरण करे तो अवस्था में छोटा होने के कारण वह सब का अपमान पात्र होता है।



४. श्रुत से व्यक्त और वय से व्यक्त - आचार ज्ञान से युक्त और १६ वर्ष से अधिक अर्थात् परिपक्व अवस्था वाला साधक कारण विशेष से गुरु आज्ञा से अकेला विचर सकता है। कारण विशेष के अभाव में श्रुत और वय से व्यक्त साधक के एकाकी विचरण में कई दोषों की संभावनाएं होने के कारण ही आगमकार एकल विहार का निषेध करते हैं।

(३०५)

वयसावि एगे बुइया कुप्पंति माणवा, उण्णयमाणे य णरे महया मोहेण मुज्झइ संबाहा बहवे भुज्जो-भुज्जो दुरइक्कमा अजाणओ, अपासओ, एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं।

कठिन शब्दार्थ - वयसा - वचन से, बुइया - कहे हुए, कुप्पंति - कुपित हो जाते हैं, उण्णयमाणे - अत्यंत मान (अहंकार) करता हुआ, मुज्झइ - मोहित होता है, अजाणओ-दुःख निवृत्ति के उपायों को न जानता हुआ, संबाहा - बाधाएं, दुरइक्कमा - दुरतिक्रमाः - दुर्लभ्य - पार करना अत्यंत कठिन।

भावार्थ - कई एक मनुष्य थोड़े से प्रतिकूल वचन सुनकर कुपित हो जाते हैं। स्वयं को उन्नत (ऊँचा) मानने वाला अभिमानी मनुष्य प्रबल मोह से मोहित (मूढ) हो जाता है। दुःखों की निवृत्ति के उपायों को न जानने वाले और दुःखों को सहन करने के फल को नहीं देखने वाले अपरिपक्व साधक को बार-बार बहुत-सी परीषह उपसर्ग जनित बाधाएं (पीड़ाएं) आती हैं जिन्हें पार करना उसके लिए अत्यंत कठिन होता है। अतः एकाकी विचरण का विचार तुम्हारे मन में भी न हो, यह कुशल पुरुषों (तीर्थंकरों) का दर्शन (उपदेश, अभिप्राय) है।

(३०६)

तद्धिइए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तण्णिवेसणे जयं विहारी चित्तणिवाइ पंथणिउज्जाइ पलिबाहिरे, पासिय पाणे गच्छिज्जा। से अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे संकुचमाणे पसारेमाणे विणिवट्टमाणे संपलमज्जमाणे।

कठिन शब्दार्थ - तद्धिइए - उस (दर्शन, आचार्य-गुरु) में ही दृष्टि रखे, तम्मुत्तीए - उसी में मुक्ति माने, तप्पुरक्कारे - उसी को आगे रखे, तस्सण्णी - उसी में संज्ञान - स्मृति रखे, तण्णिवेसणे - उसी के सान्निध्य में रहे, जयं विहारी - यतना पूर्वक विहार करे,

चित्तणिवाई- चित्तनिपाती - चित्त के अनुसार क्रिया करे, पंथणिज्जाई - पथनिर्ध्यायी - मार्ग को सतत देखते हुए चले, पलिबाहिरे - आज्ञा के बाहर न हो, अभिक्कममाणे - जाता हुआ, पडिक्कममाणे- लौटता हुआ, संकुचमाणे - संकोचता हुआ, पसारेमाणे - फैलाता हुआ, विणिवट्टमाणे - निवृत्त होता हुआ, संपलिमज्जमाणे - सम्यक् प्रकार से प्रमार्जन करता हुआ।

भावार्थ - साधक आचार्य - गुरु में ही एक मात्र दृष्टि रखे, गुरु की आज्ञा में ही तन्मय हो जाय, उनके बताए मार्ग में ही मुक्ति माने, आचार्य (गुरु) को आगे रखकर विचरण करे अर्थात् गुरु के आदेश को सदा अपने आगे रखे या शिरोधार्य करे, उसी का संज्ञान-स्मृति सब कार्यों में रखे, उन्हीं के सान्निध्य में तल्लीन होकर रहे। मुनि यतनापूर्वक विहार करे। गुरुजनों के चित्त के अनुसार वर्तन करे। गुरु के मार्ग को देखे अर्थात् सम्यक् प्रकार से गुरु की आराधना करे। गुरु की आज्ञा के बाहर कभी न हो और प्राणियों को देख कर गमन करे।

वह साधु जाता हुआ, वापस लौटता हुआ, हाथ पैर आदि अंगों को सिकोड़ता हुआ, फैलाता हुआ समस्त अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्त होकर सम्यक् प्रकार से परिमार्जन करता हुआ समस्त क्रियाएं करे।

विवेचन - जो साधु धर्म में निपुण नहीं है तथा सत्य वस्तु को नहीं जानते हैं वे तप या संयम के अनुष्ठान में कोई भूल करने पर जब गुरु के द्वारा शिक्षा वचन दिये जाते हैं तो वे गुरु के उस धर्ममय वचन से कुपित हो जाते हैं और कहने लगते हैं कि गुरु महाराज ने हमारा अपमान कर दिया। ऐसे क्रोधी और अभिमानी साधु गच्छ छोड़ कर बाहर चले जाते हैं जब उनके मार्ग में अनेक बाधाएं उपस्थित होती हैं परीषह उपसर्ग आते हैं तब वे घबरा जाते हैं, संयम से गिर जाते हैं और उनके शरीर की हानि की भी संभावना रहती है। अतः अपना आत्म-कल्याण चाहने वाले साधु को चाहिये कि वह सदा आचार्य की आज्ञा में ही विचरे। उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करे। इस प्रकार गच्छ में रह कर आचार्य की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने वाला मुनि आत्म-कल्याण का भागी होता है।

परिणाम से बंध

(३०७)

एगया गुणसमिद्यस्स रीयओ कायसंफासं समणुचिण्णा एगइया पाणा



उदायन्ति, इहलोगवेयणवेजावडियं जं आउट्टीयं कम्मं तं परिण्णाय विवेगमेइ, एवं से अप्पमाएणं विवेगं किट्टइ वेयवी।

कठिन शब्दार्थ - गुणसमियस्स - गुणों से समित (गुण युक्त), रीयओ - भलीभांति प्रवृत्ति करते हुए, कायसंफासं - काया का स्पर्श, समणुचिण्णा - पाकर, उदायन्ति - मर जाते हैं या परिताप पाते हैं, इहलोगवेयणवेजावडियं - इस लोक में वेदन करके, आउट्टीयं कम्मं - आकुट्टि - जानबूझ कर किया हुआ हिंसादि कर्म।

भावार्थ - किसी समय यतनापूर्वक प्रवृत्ति करते हुए गुणयुक्त साधु के शरीर का स्पर्श पाकर कोई प्राणी मर जाते हैं, परिताप पाते हैं तो उसके इस जन्म में वेदन करने योग्य कर्म का बन्ध हो जाता है किंतु आकुट्टि से - जानबूझ कर हिंसादि कर्म किया जाता है तो उसका ज्ञ परिज्ञा से जान कर प्रायश्चित्त से शुद्धि करे। इस प्रकार उस कर्म का ज्ञाता पुरुष (आगमवेत्ता) अप्रमाद से यानी प्रायश्चित्त के द्वारा विवेक अर्थात् क्षय होना बताते हैं।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में अप्रमत्त (ईर्यासमिति पूर्वक गमन करने वाले) साधक और प्रमत्त साधक से होने वाले आकस्मिक जीव वध के विषय में चिंतन किया गया है। एक समान प्राणिवध होने पर भी कषायों की तीव्रता - मंदता या परिणामों की धारा के अनुसार अलग-अलग कर्मबंध होता है यानी परिणामों के भेद से कर्मबंध में भेद होता है जिसका परिणाम उस प्राणी को मारने का नहीं है, उसका फल इसी भव में प्राप्त हो जाता है किंतु यदि जान बूझ कर किसी प्राणी का घात किया गया हो तो प्रायश्चित्त के द्वारा उसकी शुद्धि होती है, यह आगम के ज्ञाता लोग बताते हैं।

आगमों में दस प्रकार के प्रायश्चित्त बताये गये हैं -

१. आलोचनाहं २. प्रतिक्रमणार्हं ३. तदुभयार्हं ४. विवेकार्हं ५. व्युत्सर्गार्हं ६. तपाहं ७. छेदाहं ८. मूलार्हं ९. अनवस्थाप्यार्हं और १०. पाराञ्चिकार्हं।

(३०८)

से पभूयदंसी पभूयपरिण्णणे उवसंते समिह सहिए सया जए, दहुं विप्पडिवेएइ अप्पाणं, “किमेस जणो करिस्सइ? एस से परमारामो जाओ लोणंमि इत्थीओ” मुण्णिणा हु एयं पवेइयं।



कठिन शब्दार्थ - पभूयदंसी - प्रभूतदर्शी - कर्मों के विपाक को देखने वाला, पभूयपरिण्णाने - प्रभूत ज्ञान वाला, विप्पडिवेएइ - विप्रतिवेदयति - विचार करता है, परमारामो- परम आराम - मोहित करने वाली।

भावार्थ - प्रभूतदर्शी, प्रभूत ज्ञानी, उपशांत, समित (समिति युक्त) सहित (ज्ञानादि सहित) सदा यतनाशील मुनि स्त्री आदि के परीषह को देख कर पर्यालोचन करता है कि 'यह स्त्री आदि मेरा क्या कर सकती है?' अर्थात् संयम में रमण करते हुए यह मेरा कुछ नहीं कर सकती है। लोक में जो ये स्त्रियां हैं वे मोह रूप हैं, परमाराम-मोह में डालने वाली हैं और संयम ही परम सुख रूप है। निश्चय ही यह भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया है।

स्त्री संग एवं विषयों की उग्रता

(३०६)

उब्बाहिज्जमाणे गामधम्महिं अवि णिब्बलासए, अवि ओमोयरियं कुज्जा, अवि उहं ठाणं ठाइज्जा, अवि गामाणुगामं दूइज्जिज्जा, अवि आहारं वुच्छिंदिज्जा, अवि चए इत्थीसु मणं।

कठिन शब्दार्थ - उब्बाहिज्जमाणे - पीड़ित किया जाता हुआ, गामधम्महिं - इन्द्रिय विषयों से, णिब्बलासए - निर्बल - निःसार अन्त प्रांतादि आहार करने वाला, ओमोयरियं - ऊनोदरी तप, ठाणं - स्थान पर, ठाइज्जा - स्थित हो जाय, दूइज्जिज्जा - विहार करे, वुच्छिंदिज्जा - त्याग कर दे, चए - छोड़ देवे।

भावार्थ - इन्द्रियों के विषयों से पीड़ित किया जाता हुआ साधु निर्बल यानी अन्त प्रान्त आहार करे अथवा ऊनोदरी तप करे अथवा ऊंचे स्थान पर स्थित हो जाय यानी शीत और उष्ण काल में कायोत्सर्ग करके आतापना ले अथवा ग्रामानुग्राम विहार कर जाय अथवा आहार का त्याग कर दे किंतु स्त्रियों में मन को न जाने दे।

(३१०)

पुव्वं दंडा पच्छा फासा, पुव्वं फासा पच्छा दंडा, इच्चेए कलहासंगकरा भवंति। पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्ति वेमि।



कठिन शब्दार्थ - दंडा - दण्ड, फासा - स्पर्श, कलहासंगकरा - कलह के कारण अथवा राग द्वेष को बढ़ाने वाले, अणासेवणाए - सेवन न करने की, आणविज्जा - आज्ञा दे।

भावार्थ - स्त्री भोग में आसक्ति होने से पहले तो दण्ड प्राप्त होता है और पीछे नरकादि पीड़ाएं भोगनी पड़ती है अथवा पहले स्त्री स्पर्श होता है और पीछे दण्ड भोगना पड़ता है। इस प्रकार ये स्त्री संबंध कलह के कारण अथवा रागद्वेष को बढ़ाने वाले होते हैं। अतः स्त्री संबंधों को पूर्वोक्त अनर्थों का कारण समझ कर एवं जान कर सेवन न करने की आज्ञा दे अर्थात् सेवन न करे, ऐसा मैं कहता हूं।

(३११)

से णो काहिए, णो पासणिए, णो संपसारए णो मामए णो कयकिरिए, वड्गुत्ते, अज्झप्पसंवुडे, परिवज्जए सया पावं, एयं मोणं समणुवासिज्जासि-त्ति बेमि।

॥ पंचमं अज्झयणं चउत्थोद्देशो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - काहिए - कहे, पासणिए - देखे, संपसारए - संप्रसारण करे, मामए- ममत्व, कयकिरिए - वैयावृत्य, वड्गुत्ते - वचन गुप्त, अज्झप्पसंवुडे - अध्यात्म संवृत, परिवज्जए - वर्जित करे।

भावार्थ - ब्रह्मचारी कामकथा - कामोत्तेजक कथा न करे, राग पूर्वक स्त्रियों के अंगोपांगों को न देखे, परस्पर कामुक भावों - संकेतों का प्रसारण न करे, उन पर ममत्व न करे, उनकी वैयावृत्य न करे, वाणी का संयम रखे, स्त्रियों के साथ विशेष आलाप संलाप न करे, स्त्री भोगों में चित्त न दे, सदा पाप का परित्याग करे। इस प्रकार मुनिव्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करे - ऐसा मैं कहता हूं।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्रों में स्त्री संग एवं विषयों की उग्रता का वर्णन करते हुए ब्रह्मचर्य की साधना पर बल दिया गया है। जो साधक शांत, दांत एवं तत्त्वदर्शी होता है उसे स्त्रियों से भय नहीं होता। वह यही चिंतन करता है कि 'यह स्त्रीजन मेरा क्या बिगाड़ सकती है' अर्थात् कुछ भी नहीं। संयम में विचरण करते हुए साधु की यदि इन्द्रियां उसे पीड़ित करे अथवा स्त्री आदि का परीषह उपस्थित हो जाय तो काम निवारण के निम्न छह उपाय आगमकार ने बताये हैं -

१. नीरस भोजन करना - विगय त्याग २. कम खाना - उनोदरी करना ३. कायोत्सर्ग -

विविध आसन करना ४. ग्रामानुग्राम विहार - एक स्थान पर अधिक न रहना ५. आहार त्याग-दीर्घकालिन तपस्या करना ६. स्त्री संग के प्रति मन की सर्वथा विमुख रखना।

इन उपायों में से जिस साधक के लिए जो उपाय अनुकूल और लाभदायी हो, उसी का अभ्यास करते हुए साधक विषयेच्छा से निवृत्त हो। सभी उपायों के अन्त में आजीवन सर्वथा आहार त्याग कर ले, संलेखना संथारा कर ले किंतु स्त्री के साथ अनाचार सेवन की बात भी मन में न लाए।

॥ इति पांचवें अध्ययन का चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

पंचम अज्झयणं पंचमोद्देशो

पांचवें अध्ययन का पांचवाँ उद्देशक

चौथे उद्देशक में एकल विहार की हानियाँ बतला कर एकल विहार का निषेध किया गया है। इस पांचवें उद्देशक में यह बताया जाता है कि साधु को सदा आचार्य के समीप ही रहना चाहिये। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

आचार्य की महिमा

(३१२)

से बेमि-तंजहा, अवि हरए पडिपुण्णे समंसि भोमे चिट्ठइ उवसंतरए सारक्खमाणे, से चिट्ठइ सोयमज्झगए, से पास, सव्वओ गुत्ते, पास लोए महेसिणो, जे य पण्णाणमंता पबुद्धा आरंभोवरया सम्ममेयंति पासह, कालस्स कंखाए परिव्वयंति त्ति बेमि।

कठिन शब्दार्थ - हरह - हृद - तालाब (जलाशय), पडिपुण्णे - परिपूर्ण, समंसि - सम, भोमे - भूमि भाग, उवसंतरए - उपशांत रज - रज (कीचड़) से रहित, सारक्खमाणे - संरक्षण-रक्षा करता हुआ, सोयमज्झगए - स्रोत के मध्य में स्थित, पण्णाणमंता - ज्ञानवान् - आगमज्ञाता, पबुद्धा - प्रबुद्ध, आरंभोवरया - आरम्भ से रहित, कालस्स - समाधि मरण रूप काल की, कंखाए - आकांक्षा करते हुए, परिव्वयंति - परिवर्जन (उद्यम) करते हैं।



भावार्थ - मैं कहता हूँ - जैसे कि जल से परिपूर्ण सम भूमिभाग में स्थित रज (कीचड़) से उपशांत (रहित) अनेक जलचर जीवों की रक्षा करता हुआ, स्रोत के मध्य में स्थित तथा सब ओर से गुप्त (सुरक्षित) कोई एक जलाशय (तालाब) है, ऐसा देखो (समझो)। इसी तरह मनुष्य लोक में जो ज्ञानवान् (आगमज्ञाता) प्रबुद्ध एवं आरम्भ से रहित महर्षि हैं वे उस तालाब के समान हैं। ऐसा देखो (समझो)। वे समाधि मरण रूप काल की आकांक्षा करते हुए संयम मार्ग में भलीभांति प्रयत्न (उद्यम) करते हैं। - ऐसा मैं कहता हूँ।

प्रस्तुत सूत्र में हृद (जलाशय) के रूपक द्वारा आचार्य की महिमा का वर्णन किया गया है। चार प्रकार के हृद (तालाब) कहे हैं -

१. एक हृद (तालाब) ऐसा होता है जिसमें जल निकलता है और बाहर से आता भी है। जैसे - गंगा प्रपात कुण्ड, सीता और सीतोदा नामक नदियों के प्रवाह में स्थित हृद के समान।

२. दूसरा तालाब ऐसा है जिसमें से पानी निकलता ही है किंतु आता नहीं है। जैसे - गंगा का उद्गम स्थान, हिमवान् पर्वत पर स्थित पद्म त्रह।

३. तीसरा तालाब वह है जिसमें से पानी निकलता नहीं है किंतु बाहर से पानी आता है। जैसे - लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र।

४. चौथा हृद वह है जिसमें से न तो पानी निकलता है और न ही बाहर से आता ही है। जैसे - अढ़ाई द्वीप (मनुष्य लोक) के बाहर के समुद्र।

चार प्रकार के हृद की तरह आचार्य भी चार प्रकार के कहे गये हैं -

१. प्रथम प्रकार के आचार्य वे होते हैं जो शास्त्रज्ञान एवं आचार का उपदेश भी देते हैं और स्वयं भी ग्रहण एवं आचरण करते हैं। जैसे - गणधर देव और उनके पाटानुपाट आचार्य।

२. दूसरे भेद में जो शास्त्रज्ञान एवं उपदेश देते तो हैं किंतु उन्हें लेने की आवश्यकता नहीं रहती। जैसे- तीर्थंकर भगवान्।

३. तीसरे प्रकार के आचार्य वे कहलाते हैं जो शास्त्र ज्ञान देते नहीं किंतु शास्त्रीय ज्ञान लेते हैं। जैसे - यथालंघिक आदि विशेष साधना करने वाले साधु।

४. चौथे भंग में वे आचार्य हैं जो न तो ज्ञान देते हैं और न ही ज्ञान लेते हैं। जैसे - प्रत्येक बुद्ध, स्वयंबुद्ध आदि।

प्रस्तुत सूत्र में प्रथम श्रेणी के आचार्य का ही वर्णन किया है जो ज्ञान का आदान और प्रदान दोनों करते हैं। प्रथम श्रेणी के आचार्य वे होते हैं जो आचार्य के ३६ गुणों, आठ संपदाओं

और निर्मल ज्ञान से युक्त होते हैं। वे दोष रहित सुख विहार योग्य (सम) क्षेत्र में रहते हैं अथवा रत्नत्रयी रूप समता की भावभूमि में रहते हैं। उनके कषाय उपशांत हो चुके हैं या जिनका मोह कर्म रज उपशांत हो गया है। जो छह जीवनिकाय या संघ के रक्षक हैं अथवा दूसरों को सदुपदेश देकर नरक आदि दुर्गतियों से बचाते हैं और श्रुतज्ञान रूप स्रोत के मध्य में रहते हैं।

विचिकित्सा का परिणाम

(३१३)

वितिगिच्छासमावण्णेणं अप्पाणेणं णो लभइ समाहिं।

भावार्थ - विचिकित्सा प्राप्त (संशय युक्त) आत्मा समाधि को प्राप्त नहीं कर सकती है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में विचिकित्सा का फल बताया गया है। विचिकित्सा से मन में खिन्नता पैदा होती है जिस कारण जीव समाधि को प्राप्त नहीं कर पाता। विचिकित्सा ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों में हो सकती है।

ज्ञान विचिकित्सा - आगमोक्त ज्ञान सच्चा है या झूठा? इस ज्ञान को लेकर कहीं मैं धोखा तो नहीं खा जाऊँगा? ऐसी शंका रखना।

दर्शन विचिकित्सा - मैं भव्य हूँ या नहीं? ये जो नौ तत्त्व या षट् द्रव्य हैं क्या ये सत्य हैं? अर्हन्त और सिद्ध कोई होते हैं या यों ही इनकी कल्पना की गई है आदि शंकाएं करना।

चारित्र विचिकित्सा - इतने कठोर तप, संयम और महाव्रत रूप चारित्र का कुछ सुफल मिलेगा या यों ही व्यर्थ का कष्ट सहना है आदि।

इस प्रकार की विचिकित्सा (शंकाएं) साधक के चित्त को अस्थिर, भ्रान्त, अस्वस्थ और असमाधि युक्त बना देती है। अतः साधक को विचिकित्सा नहीं करनी चाहिये।

विचिकित्सा को दूर करने का उपाय

(३१४)

सिया वेगे अणुगच्छंति, असिया वेगे अणुगच्छंति, अणुगच्छमाणेहिं अणुगच्छमाणे कहां ण णिव्विज्जे, तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।



कठिन शब्दार्थ - सिया - सित - बद्ध (गृहस्थ), अणुगच्छन्ति - अनुगमन करते हैं - आचार्य के उपदेश को मानते हैं, असिया - असित - गृह बंधन से रहित (अनगार), णिव्विज्जे-निर्वेद - खेद, जिणेहिं - जिनेश्वरों के द्वारा, सच्चं - सत्य, णीसंकं - शंका रहित।

भावार्थ - कोई कोई (कितनेक) सित - गृहवास में रहे हुए पुरुष आचार्य का अनुगमन करते हैं - आचार्य के उपदेश को मानते हैं और कोई कोई असित - गृह बंधन से रहित अनगार पुरुष आचार्य का अनुगमन करते हैं। अनुगमन करने वालों के बीच में रहने वाला और अनुगमन नहीं करने वाला - सम्यक्त्व (तत्त्व) को नहीं समझने वाला कैसे निर्वेद (खेद) को प्राप्त नहीं होगा?

जो जिनेश्वर भगवंतों का कहा गया है वही सत्य और निःशंक - शंका रहित है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में विचिकित्सा को दूर करने का उपाय बताया है कि जो तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित है वही सत्य है, इसमें शंका के लिए कोई अवकाश नहीं है क्योंकि - रागद्वेष पर विजय पाये हुए तीर्थंकर भगवान् वीतराग सर्वज्ञ होते हैं, वे मिथ्यावचन नहीं कहते हैं। उनका वचन सत्य अर्थ को बतलाने वाला और संशय रहित होता है।

परिणामों की विचित्रता

(३१५)

सट्ठिस्स णं समणुण्णस्स संपव्वयमाणस्स समियंति मण्णमाणस्स एगया समिया होइ समियंति मण्णमाणस्स एगया असमिया होइ असमियंति मण्णमाणस्स एगया समिया होइ असमियंति मण्णमाणस्स एगया असमिया होइ।

कठिन शब्दार्थ - सट्ठिस्स - श्रद्धालु, समणुण्णस्स - सम्यक् प्रकार से अनुज्ञा - जिनोपदेश के अनुसार, दीक्षा के योग्य, संपव्वयमाणस्स - संप्रव्रजित - सम्यक् प्रकार से प्रव्रज्या को स्वीकार करते हुए को, समियं - सम्यक् - यथार्थ, असमिया - असम्यक्, मण्णमाणस्स - मानते हुए को।

भावार्थ - श्रद्धालु, प्रव्रज्या ग्रहण करने के योग्य, प्रव्रज्या को सम्यक् स्वीकार करने वाला मुनि जिनेन्द्र भगवान् के वचनों को सम्यक् मानता है और उत्तरकाल (बाद) में भी सम्यक् मानता है। कोई पुरुष दीक्षा लेते समय जिनोक्त तत्त्व को सम्यक् मानता है किंतु संयम स्वीकार



करने के बाद असम्यक् मानने लगता है। कोई जिनोक्त तत्त्व को पहले असम्यक् मानता हुआ भी बाद में सम्यक् मानने लगता है। कोई साधक जिनोक्त तत्त्व को पहले असम्यक् (मिथ्या) मानता हुआ पीछे भी असम्यक् ही मानता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में परिणामों की विचित्रता बतलाई गई है। वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान् ने जो फरमाया है वह सत्य है और शंका रहित है। इस प्रकार की मान्यता को रख कर जो पुरुष प्रव्रज्या अंगीकार करता है उस पुरुष के प्रव्रज्या के बाद वह मान्यता अधिक हो सकती है अथवा ज्यों की त्यों रह सकती है अथवा कम हो जाती है या बिलकुल नष्ट भी हो सकती है। इस प्रकार परिणामों की विचित्रता को बतलाने के लिए चौभंगी बतलाई गई है -

१. प्रव्रज्या के समय किसी पुरुष की "वही सत्य और निःशंक हैं जो सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान् ने फरमाया है"- ऐसी सम्यक् श्रद्धा, होती है और पीछे भी सम्यक् ही श्रद्धा रहती है।

२. किसी की श्रद्धा प्रव्रज्या के समय तो सम्यक् होती है किंतु पीछे असम्यक् - मिथ्या हो जाती है।

३. किसी पुरुष की श्रद्धा पहले तो असम्यक् (मिथ्या) होती है किंतु प्रव्रज्या के बाद उसकी श्रद्धा सम्यक् हो जाती है।

४. किसी पुरुष की श्रद्धा पहले भी असम्यक् होती है और पीछे भी असम्यक् ही रहती है।

(३१६)

समियंति मण्णमाणस्स समिया वा, असमिया वा, समिया होइ उवेहाए।

कठिन शब्दार्थ - उवेहाए - उत्प्रेक्षा - सम्यक् पर्यालोचन रखता है।

भावार्थ - जिनोक्त तत्त्व को सम्यक् (सत्य) मानते हुए पुरुष को चाहे वह पदार्थ सम्यक् हो या असम्यक् हो किंतु उसकी सम्यक् उत्प्रेक्षा होने के कारण उसके लिए सम्यक् ही है।

(३१७)

असमियंति मण्णमाणस्स समिया वा, असमिया वा, असमिया होइ उवेहाए।

भावार्थ - जो साधक जिनोक्त तत्त्व को असम्यक् मान रहा है वह सम्यक् हो या असम्यक् उसके लिए असम्यक् उत्प्रेक्षा होने के कारण वह असम्यक् ही है।



विवेचन - आगमकार फरमाते हैं कि जिस पुरुष की श्रद्धा सम्यक् है और उसमें किसी प्रकार की शंका नहीं रखता हुआ उसको वैसा ही सम्यक् होने की भावना रखता है वह वस्तु सम्यक् हो या असम्यक् हो उसकी उसमें सम्यक् भावना होने के कारण उसके लिए वह सम्यक् ही है अर्थात् उसको सम्यक् रूप से ही परिणमती है। जो पुरुष किसी वस्तु को असम्यक् मानता है वह वस्तु सम्यक् हो या असम्यक् हो उसके लिए वह असम्यक् ही है अर्थात् असम्यक् रूप से ही परिणमती है क्योंकि उसमें उसकी असम्यक् भावना - बुद्धि है।

(३१८)

उवेहमाणो अणुवेहमाणं ब्रूया- “उवेहांहि समियाए इच्चेवं तत्थ संधी झोसिओ भवइ” ।

कठिन शब्दार्थ- उवेहमाणो - उत्प्रेक्षा - सत् असत् का विचार करने वाला, अणुवेहमाणं- उत्प्रेक्षा नहीं करने वाले से, ब्रूया - कहे, संधी - कर्म संतति रूप संधि, झोसिओ - क्षपित-नष्ट होती है।

भावार्थ - उत्प्रेक्षा करने वाला (सम्यक् प्रकार से पर्यालोचन करने वाला) उत्प्रेक्षा नहीं करने वाले से कहे कि सम्यक् (सम) भाव से उत्प्रेक्षा करो, इस प्रकार सम्यक् उत्प्रेक्षा करने से कर्मसंतति रूप संधि नष्ट होती है।

(३१९)

से उट्टियस्स ठियस्स गइं समणुपासह, इत्थवि बालभावे अप्पाणं णो उवदंसेज्जा ।

कठिन शब्दार्थ - उट्टियस्स - उत्थित - संयम में जागृत - पुरुषार्थवान् की, ठियस्स-स्थित की, णो उवदंसेज्जा - प्रदर्शित न करे।

भावार्थ - उस संयम में उत्थित और असंयम में स्थित पुरुष की गति को देखो। इस बाल भाव रूप असंयम में अपने आपको (अपनी आत्मा) को प्रदर्शित मत करो।

विवेचन - संयम में उद्यम करने वाले पुरुष की श्रेष्ठ गति को और संयम में शिथिलता करने वाले तथा असंयम प्रवृत्ति करने वाले पुरुष की बुरी गति को देखकर विवेकी पुरुष को

चाहिये कि वह अपनी आत्मा को असंयम में प्रवृत्त न होने दे और संयम में किञ्चिन्मात्र भी शिथिलता न करते हुए एक क्षण भर भी प्रमाद न करे।

हिंसा से निवृत्ति का उपदेश

(३२०)

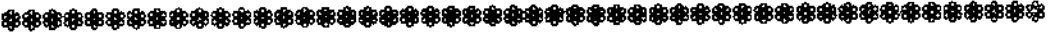
तुमंसि णाम सच्चेव, जं हंतव्वंति मण्णसि, तुमंसि णाम सच्चेव, जं अज्जावेयव्वंति मण्णसि, तुमंसि णाम सच्चेव, जं परियावेयव्वंति मण्णसि, एवं जं परिघेत्तव्वंति मण्णसि, जं उद्दवेयव्वंति मण्णसि।

अंजू चेयं-पडिबुद्धजीवी तम्हा ण हंता, ण विघायए, अणुसंवेयणमप्पाणेणं जं हंतव्वं णाभिपत्थए।

कठिन शब्दार्थ - तुमंसि णाम - तुम ही हो, सच्चेव - तंचेव - वह, हंतव्वंति - हनन योग्य, मण्णसि - मानते हो, अज्जावेयव्वंति - आज्ञा में रखने योग्य, परियावेयव्वंति - परिताप देने योग्य, परिघेत्तव्वंति - परिग्रह रूप में रखने - दास बनाने योग्य, उद्दवेयव्वंति - मारने योग्य, पडिबुद्धजीवी - प्रतिबुद्ध जीवी - ज्ञान युक्त (विवेक पूर्वक) जीवन व्यतीत करने वाला, अणुसंवेयणं - अनुसंवेदन - कृत कर्म (हिंसा) का दुःख रूप फल वेदन, णाभिपत्थए - इच्छा मत करो।

भावार्थ - जिसे तुम हनन योग्य मानते हो, वह तुम ही हो। जिसे तुम आज्ञा में रखने योग्य मानते हो, वह तुम ही हो। जिसे तुम परिताप देने योग्य मानते हो, वह तुम ही हो। जिसे तुम दास बनाने - ग्रहण करने योग्य मानते हो, वह तुम ही हो। जिसे तुम मारने योग्य मानते हो, वह तुम ही हो।

ज्ञानी पुरुष ऋजु (सरल स्वभाव वाला) होता है। वह विवेकपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करता है इसलिये वह स्वयं किसी प्राणी का घात न करे और न दूसरों से घात करवाए तथा घात करने वाली का अनुमोदन भी न करे क्योंकि कृत कर्म के अनुरूप स्वयं को ही उसका फल भोगना पड़ता है अतः किसी प्राणी को मारने (हनन करने) की इच्छा मत करो।



विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में “आयतुले पयासु” प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के तुल्य समझते हुए हिंसा से निवृत्त होने का उपदेश दिया है।

आत्म-लक्षण

(३२१)

जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया, जेण वियाणइ से आया, तं पडुच्च पडिसंखाए, एस आयावाई समियाए परियाए वियाहिए त्ति बेमि।

॥ पंचम अज्झयणं पंचमोद्देशो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - आया - आत्मा, विण्णाया - विज्ञाता, पडुच्च - कारण, पडिसंखाए-प्रतिसंख्यायते - आत्मा का ज्ञान होता है, आयावाई - आत्मवादी।

भावार्थ - जो आत्मा है वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वह आत्मा है। जिससे (मति आदि ज्ञान से) जानता है वह आत्मा है। उस ज्ञान परिणाम से आत्मा ज्ञानवान् कहा जाता है। जो ज्ञान से अभिन्न आत्मा को मानता है वह आत्मवादी है। वह सम्यक् भाव से दीक्षा पर्याय वाला कहा गया है। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में द्रव्य और गुण दोनों अपेक्षाओं से आत्मा का लक्षण बताया गया है।

ज्ञान आत्मरूपी द्रव्य का पर्याय है इसलिए आगमकार फरमाते हैं कि “जे आया से विण्णाया” अर्थात् नित्य और उपयोग रूप जो आत्मा है वही विज्ञाता है अर्थात् वस्तुओं को जानने वाला भी वही है किंतु उस आत्मा से भिन्न ज्ञान पदार्थ का ज्ञाता नहीं है और जो पदार्थों को जानने वाला उपयोग है, आत्मा भी वही है क्योंकि जीव का लक्षण उपयोग है और उपयोग ज्ञान रूप है। इस प्रकार ज्ञान और आत्मा का अभेद सम्बन्ध है। यह आत्मा ज्ञान परिणाम के कारण मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और केवलज्ञानी आदि कहा जाता है। इस प्रकार जो पुरुष ज्ञान और आत्मा को अभिन्न जानता है, वही आत्मवादी है। अतएव उसका संयमानुष्ठान सम्यक् है।

॥ इति पांचवें अध्ययन का पांचवां उद्देशक समाप्त ॥



पंचम अज्झयणं छट्ठोद्देशो

पांचवें अध्ययन का छठा उद्देशक

पांचवें अध्ययन के पांचवें उद्देशक में कहा गया है कि आचार्य को तालाब के समान होना चाहिये। अब छठे उद्देशक में यह बतलाया जाता है कि ऐसे आचार्य के सम्पर्क से ही कुमार्ग का त्याग और रागद्वेष की हानि होती है। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

आज्ञा-पालन

(३२२)

अणाणाए एगे सोवट्ठाणा आणाए एगे णिरुवट्ठाणा एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं।

कठिन शब्दार्थ - अणाणाए - अनाज्ञा में, सोवट्ठाणा - सोपस्थानाः - उद्यमी, णिरुवट्ठाणा - अनुद्यमी - पुरुषार्थ नहीं करते हैं।

भावार्थ - कुछ साधक अनाज्ञा में - तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा से विरुद्ध उद्यमी होते हैं और कुछ साधक आज्ञा में अनुद्यमी होते हैं। यह अनाज्ञा में उद्यम और आज्ञा में अनुद्यम - तुम्हारे जीवन में न हो। यह तीर्थंकर भगवान् का दर्शन - उपदेश - अभिप्राय है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में तीर्थंकर भगवतों की आज्ञा-अनाज्ञा के अनुसार चलने वाले साधकों का वर्णन किया गया है। दो प्रकार के साधक होते हैं - १. अनाज्ञा में सोपस्थान - तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध उद्यम - पुरुषार्थ करने वाले। २. आज्ञा में निरुपस्थान - तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा में उद्यत नहीं रहने वाले, उद्यम (पुरुषार्थ) नहीं करने वाले। दोनों ही प्रकार के साधकों को ठीक नहीं कहा गया है। क्योंकि कुमार्ग का आचरण और सन्मार्ग का अनाचरण दोनों ही त्याज्य है। तीर्थंकरों का दर्शन है - अनाज्ञा में निरुद्यम और आज्ञा में उद्यम।

(३२३)

तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तण्णिण्वेसणे, अभिभूय अदक्खु, अणभिभूए पभू णिरालंबणयाए, जे महं अबहिं मणे।



कठिन शब्दार्थ - तद्दिष्टीए - आगम-तीर्थकरों के दर्शन एवं आचार्य की दृष्टि - आज्ञानुसार चले, अभिभूय - अभिभूत - परीषह उपसर्गों (घातीकर्मों) को जीत कर, अदक्खू-तत्त्व को देखा है, अणभिभूए - अनभिभूत, णिरालम्बणयाए - निरालम्बनता (निराश्रयता)।

भावार्थ - साधक आचार्य की दृष्टि एवं आगम (तीर्थकर के दर्शन) की दृष्टि में अपनी दृष्टि नियोजित करे, उनके द्वारा उपदेश की हुई मुक्ति में अपनी मुक्ति माने, आचार्य को आगे करके, उनके विचारों के अनुसार प्रवृत्त हो और उनके निकट ही निवास करे। जिसने परीषह-उपसर्गों को (या घातीकर्मों को) जीत लिया है उसी ने तत्त्व को देखा है। जो परीषह उपसर्गों द्वारा अभिभूत - पराजित नहीं होता वह निरालम्बनता पाने में समर्थ होता है। जो महान् होता है उसका मन (तीर्थकर आज्ञा से, संयम से) बाहर नहीं होता है।

विवेचन - साधक को सर्वज्ञ भगवान् के बताए हुए मार्ग पर चलना चाहिये और आचार्य (गुरु) महाराज की आज्ञा का सदैव पालन करना चाहिये। जो पुरुष परीषह उपसर्गों द्वारा पराजित नहीं होता है वह पुरुष निरवलम्ब रहने में समर्थ होता है।

(३२४)

पवाएणं पवायं जाणिज्जा, सहसम्मइयाए, परवागरणेणं अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा।

कठिन शब्दार्थ - पवाएणं - प्रवाद - तीर्थकरों के वचन से, पवायं - प्रवाद - अन्य तीर्थिकों के वाद की, सहसम्मइयाए - सन्मति से, परवागरणेणं - तीर्थकर आदि के उपदेश से।

भावार्थ - प्रवाद - सर्वज्ञ तीर्थकरों के वचन - से, प्रवाद - अन्यतीर्थियों के मत को जाने। अपनी बुद्धि से (अथवा पूर्वजन्म की स्मृति से) तीर्थकरों के उपदेश (आगम) से या आचार्यादि अन्य से सुन कर यथार्थ तत्त्व - वस्तु स्वरूप को जाने।

विवेचन - साधक तीर्थकर भगवान् के वचनों के द्वारा अन्यतीर्थियों की मत की परीक्षा करे, वस्तु तत्त्व को समझे। अन्यतीर्थियों की अणिमा आदि सिद्धियों को देख कर भी तीर्थकर भगवान् की आज्ञा से बाहर मन नहीं लगावे।

‘पवाएणं पवायं जाणिज्जा’ का अर्थ इस प्रकार भी किया जाता है - “आगम वाक्यों का अर्थ, परमार्थ गुरु परम्परा के अनुसार जानना चाहिये।’ परम्परा से आया हुआ अर्थ का भी बहुत वैशिष्ट्य होता है।



(३२५)

णिद्देसं णाडवट्टेज्जा मेहावी सुपडिलेहिय सव्वओ सव्वयाए सम्ममेव समभिजाणिया।

कठिन शब्दार्थ - णिद्देसं - निर्देश - तीर्थकरों की आज्ञा/उपदेश, णाडवट्टेज्जा - उल्लंघन नहीं करे, सव्वयाए - संपूर्ण रूप से - सामान्य और विशेष रूप से, सम्ममेव - सम्यक् प्रकार से, समभिजाणिया- जाने।

भावार्थ - मेधावी (बुद्धिमान् पुरुष) तीर्थकर आदि के उपदेश-आदेश का उल्लंघन (अतिक्रमण) नहीं करे। वह सब प्रकार से, भलीभांति विचार कर संपूर्ण रूप से - सामान्य और विशेष रूप से यथार्थता को जाने अर्थात् मिथ्यावाद का निराकरण करे।

(३२६)

इह आरामं परिण्णाय अल्लीणगुत्तो परिव्वए, णिट्ठियट्ठी वीरे आगमेणं सया परक्कमेज्जासि त्ति बेमि।

कठिन शब्दार्थ - आरामं - संयम को, अल्लीणगुत्तो - आत्मलीन जितेन्द्रिय, तीन गुप्तियों से गुप्त होकर, णिट्ठियट्ठी - मोक्षार्थी, आगमेणं - आगम से, परक्कमेज्जासि - पराक्रम करे।

भावार्थ - इस मनुष्य लोक में संयम को स्वीकार करके आत्मलीन - जितेन्द्रिय और तीन गुप्तियों से गुप्त होकर विचरण करे। मोक्षार्थी, वीर यानी कर्मों को विदारण करने में समर्थ मुनि आगमानुसार संयम में पराक्रम करे - ऐसा मैं कहता हूं।

विवेचन - बुद्धिमान् पुरुष अन्यतीर्थियों के मत को भलीभांति जान कर उसका त्याग करदे और तीर्थकर भगवान् के मार्ग का अनुसरण करे। संयम अंगीकार कर अपनी इन्द्रियों और मन को वश में रखता हुआ मुनि कर्म रूपी शत्रुओं पर अपना पराक्रम दिखावे।

(३२७)

उहं सोया, अहे सोया, तिरियं सोया वियाहिया।

एए सोया वियक्खाया, जेहिं संगंति पासहा॥

कठिन शब्दार्थ - सोया - स्रोत - आस्रव द्वार, वियक्खाया - कहे गये हैं, संगंति - आसक्ति से - संग से कर्म बंध होता है।

भावार्थ - ऊपर स्रोत (कर्मों के आगमन - आस्रव के द्वार) हैं, नीचे स्रोत हैं और तिरछी दिशा में भी स्रोत कहे गये हैं। ये कर्मों के स्रोत यानी आस्रव द्वार कहे गये हैं। इनके संग से (आसक्ति से) कर्मों का बंध होता है, ऐसा तुम देखो।

विवेचन - तीनों लोकों में स्रोत - विषयासक्ति के स्थान, कर्मों के आगमन के द्वार बताए हैं। ऊर्ध्वस्रोत है - वैमानिक देवांगनाओं या देवलोक के विषय सुखों की आसक्ति। अधोस्रोत है - भवनवासी देवों के विषय सुखों में आसक्ति। तिर्यक् स्रोत है - व्राणव्यंतर देव, मनुष्य तिर्यच संबंधी विषय - सुखासक्ति। इन स्रोतों - आस्रवद्वारों से साधक को सावधान रहते हुए, कर्मबंधन से बचना चाहिये।

(३२८)

आवटं तु उवेहाए, एत्थ विरमिज्ज वेयवी।

कठिन शब्दार्थ - आवटं - आवर्त को, उवेहाए - देखकर, विरमिज्ज - विरत हो जाय, वेयवी - आगमविद्।

भावार्थ - आगमविद् - आगम को जानने वाला पुरुष आवर्त (विषयासक्ति रूप भावावर्त) को देखकर उससे निवृत्त हो जाय।

विवेचन - किसी किसी प्रति में 'एत्थ विरमिज्ज वेयवी' के स्थान पर 'विवेगं किट्टइ वेयवी' ऐसा पाठ भी मिलता है। जिसका अर्थ है - आगम को जानने वाला पुरुष आस्रवों के निरोध से कर्मों का अभाव बताता है।

(३२९)

विणइत्तु सोयं णिक्खम्म एस महं अकम्मा जाणइ, पासइ, पडिलेहाए णाव-
कंखइ, इह आगइं गइं परिणाय अच्चेइ जाइमरणस्स वट्टमगं विक्खायरए।

कठिन शब्दार्थ - विणइत्तु - हटाने के लिए, णिक्खम्म - निष्क्रमण - दीक्षा लेकर, अकम्मा - अकर्म - कर्मरहित होकर, वट्टमगं - वट (वृत्त) मार्ग को, विक्खायरए - विख्यातरत-मोक्ष मार्ग में स्थित।



भावार्थ - स्रोत - आस्रवद्वार को दूर करने के लिये प्रव्रज्या धारण करके यह महान् साधक अकर्म - कर्मरहित होकर लोक को - सभी पदार्थों को जानता देखता है। वह लोक में प्राणियों की गति और आगति को जान कर अर्थात् संसार परिभ्रमण के कारण का ज्ञान कर उन (विषय सुखों) की इच्छा नहीं करता। इस प्रकार जीवों की गति-आगति के कारणों को जान कर मोक्ष मार्ग में रत मुनि जन्म मरण के वृत्त (चक्राकार) मार्ग को पार कर जाता है।

मुक्तात्मा का स्वरूप

(३३०)

सव्वे सरा णियट्ठंति, तक्का जत्थ ण विज्जइ, मई तत्थ ण गाहिया, ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयण्णे।

कठिन शब्दार्थ - सरा - स्वर, णियट्ठंति - निवृत्त हो जाते हैं, लौट जाते हैं, तक्का-तर्क, ण विज्जइ - विद्यमान नहीं है, गाहिया - ग्राहक, ओए - ओज रूप - ज्योति स्वरूप, अप्पइट्ठाणस्स - अप्रतिष्ठान - मोक्ष का, खेयण्णे - खेदज्ञ - निपुण।

भावार्थ - सभी स्वर लौट जाते हैं यानी परमात्म स्वरूप को शब्दों के द्वारा नहीं कहा जा सकता है, वहां कोई तर्क नहीं है वह बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं है। मोक्ष में वह समस्त कर्म मल से रहित ज्योतिस्वरूप खेदज्ञ (ज्ञानमय) है।

(३३१)

से ण दीहे ण हस्से ण वट्टे ण तंसे ण चउरंसे ण परिमंडले, ण किण्हे, ण णीले, ण लोहिए, ण हालिदे ण सुक्किल्ले ण सुरहिगंधे ण दुरहिगंधे ण तित्ते ण कडुए, ण कसाए, ण अंबिले, ण महुरे, ण कक्खडे, ण मउए ण गरुए ण लहुए ण सीए ण उण्हे ण णिद्धे ण लुक्खे ण काऊ ण रुहे ण संगे ण इत्थी ण पुरिसे ण अण्णहा, परिण्णे सण्णे।

कठिन शब्दार्थ - काऊ - काय या लेश्या, रुहे - कर्मबीज - जन्मधर्मा, संगे - संग युक्त, परिण्णे - परिज्ञः - सर्वात्म प्रदेशों का ज्ञाता, सण्णे - संज्ञः - ज्ञान दर्शन के उपयोग से युक्त।

भावार्थ - वह (सिद्ध आत्मा-परमात्मा) न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त है, न त्रिकोण है,

न चतुष्कोण है और न परिमण्डल है। वह न काला है, न नीला है, न लाल है, न पीला है और न सफेद है। वह न सुगंध वाला है और न दुर्गंध वाला है। वह न तीखा है, न कड़वा है, न कषैला है, न खट्टा है और न मीठा है। वह न कर्कश है, न कोमल है, न गुरु (भारी) है, न लघु (हल्का) है, न ठण्डा है, न गर्म है, न चिकना है और न रूखा है। वह कायवान् नहीं (अशरीरी) है अथवा अलेशी है, न जन्मने वाला है (अजन्मा है) और न संग वाला है (असंग-निर्लेप है) न स्त्री है, न पुरुष है और न अन्यथा यानी नपुसंक है। वह परिज्ञ (समस्त पदार्थों को विशेष रूप से जानने वाला) है और वह संज्ञ (समस्त पदार्थों को सामान्य रूप से जानने वाला) है।

(३३२)

उवमा ण विज्जे, अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं णत्थि।

भावार्थ - उसकी कोई उपमा नहीं है। वह अरूपी (रूप रहित) सत्ता है। वह अपद (पदातीत - वचन अगोचर) है उसका बोध कराने के लिये कोई पद नहीं है।

(३३३)

से ण सदे, ण रूवे, ण गंधे, ण रसे, ण फासे, इच्चेयावन्ति त्ति वेमि।

॥ छट्ठोद्देशो समन्तो ॥

॥ लोगसार णामं पंचमं अज्झयणं समत्तं ॥

भावार्थ - वह मुक्तात्मा न शब्द है, न रूप है, न गंध है, न रस है और न स्पर्श है। बस इतना ही है। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्रों में मोक्ष एवं मुक्तात्मा के विषय में विशद विवेचन किया गया है।

इस संसार में जन्म मरण का कारण कर्म है। जो पुरुष जन्म मरण के कारणभूत कर्मों को सर्वथा क्षय कर डालता है वह मोक्ष पद को प्राप्त करता है। मोक्ष को शब्द के द्वारा प्रकट करना शक्य नहीं है। वह तर्क का भी विषय नहीं है। औत्पत्तिकी आदि चार प्रकार की मति उसको ग्रहण करने में समर्थ नहीं है, वह समस्त विकल्पों से अतीत है। उस परम पद रूप मोक्ष में स्थित पुरुष अनंतज्ञान और अनंत दर्शन संपन्न होता है। वह शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श



आदि विशेषणों से रहित है क्योंकि ये सब पुद्गल-जड़ में ही पाये जाते हैं। मुक्त जीव में इनमें से कुछ भी नहीं पाया जाता है इसलिये उसका वाचक कोई शब्द नहीं है। उसकी अवस्था शब्दों द्वारा अवर्णनीय है।

यहाँ सूत्र क्रमांक ३३२-३३३ के मूल पाठ में बतलाया गया है कि - सिद्ध भगवान् में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श कुछ नहीं है। इस पर विचार करना है कि चैत्र मास और आसोज मास में कुछ सन्त सतियों द्वारा नवपद की आयंबिल की ओली कराई जाती है। उसमें सिद्ध भगवान् का रंग लाल बताकर लाल अनाज (गेहूँ आदि) खाने की प्रेरणा दी जाती है वह उचित नहीं है। सिद्ध भगवान् में लाल रंग बतलाना आगम विपरीत है। बाकी चार पदों में अरहन्त का रंग सफेद, आचार्य का रंग पीला, उपाध्याय का रंग हरा और साधु का रंग काला बताने की कल्पना भी आगमानुकूल नहीं है। क्योंकि इस प्रकार रंगों का विवरण किसी भी आगम में नहीं है।

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये पद पांच ही हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप तो इनके गुण हैं। गुण, गुणी को छोड़ कर अलग नहीं रहते हैं अतः इनको अलग पद गिनना उचित नहीं है।

आयंबिल, एक तप है। उसका अपना महत्त्व है किन्तु उपवास से आयंबिल का फल अधिक होता है यह कहना उचित नहीं है तथा यह कहना भी उचित नहीं है कि जब तक द्वारिका में आयंबिल तप होता रहा तब तक द्वारिका की रक्षा होती रही और जिस दिन आयंबिल हुआ नहीं उस दिन द्वीपायन बालतपस्वी के द्वारा जला दी गई। यह कथन आगमानुकूल नहीं है क्योंकि किसी भी आगम में इस प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता है। आयंबिल लूखा और अलूणा आहार द्वारा किया जाता है उसमें अचित्त नमक आदि का प्रयोग भी नहीं करना चाहिये। आयंबिल अच्छा तप है। इसमें रसनेन्द्रिय को जीता जाता है। इसके लिए कोई तिथि या मास निश्चित नहीं है। यह कभी भी किया जा सकता है। सबका फल एक सरीखा है। आयंबिल की ओली के दिनों में श्रीपाल चरित्र पढ़ने की परिपाटी भी है किन्तु श्रीपाल चरित्र में सांसारिक लालसाएं बताई गई हैं। इसलिए उसे पढ़ना भी उचित नहीं है। इसमें किसी भी प्रकार की सांसारिक लालसाएं नहीं होनी चाहिये किन्तु केवल निर्जरा की भावना से करना चाहिये।

॥ छठा उद्देशक समाप्त ॥

॥ इति लोकसार नामक पांचवाँ अध्ययन समाप्त ॥

धूताखं णामं छठं अज्झयणं

धूताख्य नागक छठा अध्ययन

पांचवें अध्ययन में लोक में सारभूत संयम और मोक्ष का वर्णन किया गया है। वह मोक्ष निःसंग हुए बिना और कर्मों का क्षय किये बिना नहीं होता है। इसलिये इन विषयों का प्रतिपादन करने के लिये छठे अध्ययन का प्रारम्भ किया जाता है। इस अध्ययन में कर्मों के विध्वनन का यानी क्षय करने का उपदेश है। इसलिये इसका नाम 'धूत' अध्ययन है। धूत नामक इस छठे अध्ययन के प्रथम उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

पठमो उद्देशो-प्रथम उद्देशक

(३३४)

ओबुज्झमाणे इह माणवेसु आघाइ से णरे, जस्सिमाओ जाइओ सब्बओ सुपडिलेहियाओ भवंति, आघाइ से णाणमणेलिसं।

कठिन शब्दार्थ - ओबुज्झमाणे - अबबुध्यमानः - अबबुद्ध - ज्ञाता, आघाइ - आख्यान - धर्म का कथन करता है, जाइओ - जातियाँ, सुपडिलेहियाओ - सुप्रतिलेखित - अच्छी तरह ज्ञात, अणेलिसं - अनीदृश - अनुपम।

भावार्थ - इस मनुष्य लोक में सद्बोध को प्राप्त हुआ (स्वर्ग, अपवर्ग तथा उनके कारणों को एवं संसार और उसके कारणों को जानने वाला-ज्ञाता) पुरुष मनुष्यों के प्रति धर्म का कथन करता है। जिसे ये एकेन्द्रिय आदि जातियाँ सब प्रकार से भलीभाँति ज्ञात होता हैं वही अनुपम (विशिष्ट) ज्ञान का एवं धर्म का कथन करता है।

आत्मज्ञान से शून्य मनुष्यों की दशा

(३३५)

से किट्टइ तेसिं समुट्टियाणं णिक्खित्तदंडाणं समाहियाणं पण्णाणमंताणं इह मुत्तिमगं, एवं पेगे महावीरा विप्परक्कमंति, पासह एगे अविसीयमाणे अणत्तपण्णे।

कठिन शब्दार्थ - किट्टड़ - कहता है, समुद्रियाणं - समुत्थित - धर्माचरण के लिए सम्यक् प्रकार से उद्यत (उत्थित), णिक्खित्तदंडाणं - निक्षिप्तदण्ड - हिंसा त्यागी, समाहियाणं- तप संयम आदि में समाहित-प्रवृत्त, पण्णाणमंताणं - ज्ञानवान् - उत्तम ज्ञान संपन्न, अविसीयमाणे - संयम में क्लेश - अवसाद पाते हुए, अणत्तपण्णे - अनात्मप्रज्ञ - आत्म कल्याण की बुद्धि से रहित।

भावार्थ - वह इस लोक में उनके लिये मुक्ति मार्ग का कथन करता है जो धर्माचरण के लिये समुत्थित है, दण्ड रूप हिंसा का त्यागी है, तप और संयम में उद्यत है और सम्यग् ज्ञानवान् हैं। इस प्रकार तीर्थंकर आदि के उपदेश को सुनकर कोई महान् वीर पुरुष संयम में पराक्रम करते हैं। जो आत्मप्रज्ञा से शून्य (आत्म कल्याण की बुद्धि से रहित) हैं वे संयम में विषाद पाते हैं उन्हें (उनकी करुण दशा को) देखो।

विवेचन - तीर्थंकर भगवान्, सामान्य केवली अथवा दूसरे अतिशय ज्ञानी या श्रुतकेवली धर्मोपदेश देते हैं। यद्यपि ये सामान्यतः सभी प्राणियों के लिए धर्म का उपदेश करते हैं तथापि जो लोग धर्म के प्रति रुचि रखते हैं वे हलुकर्मी जीव ही उनका उपदेश सुन कर धर्माचरण करने के लिए तत्पर होते हैं किंतु जो लोग धर्माचरण करने में प्रमाद करते हैं उनकी बुद्धि आत्मकल्याण करने वाली नहीं है।

(३३६)

से बेमि-से जहावि कुम्मे हरए विणिविट्टचित्ते पच्छण्णपलासे उम्मगं से णो लहइ।

कठिन शब्दार्थ - कुम्मे - कछुआ, हरए - हृद-सरोवर, विणिविट्टचित्ते - चित्त को लगाया हुआ, पच्छण्णपलासे - शैवाल और कमल पत्तों से ढका हुआ, उम्मगं - ऊपर आने के मार्ग (विवर) को।

भावार्थ - मैं कहता हूँ - जैसे शैवाल और कमल के पत्तों से ढंके हुए हृद-सरोवर (तालाब) में अपने चित्त को लगाया हुआ कछुआ उन्मुक्त आकाश को देखने के लिए कहीं छिद्र को नहीं पाता है।



(३३७)

भंजगा इव सण्णिवेसं णो चयंति, एवं पेगे अणेगरूवेहिं कुलेहिं जाया, रूवेहिं सत्ता, कलुणं थणंति णियाणओ ते ण लहंति मुक्खं।

कठिन शब्दार्थ - भंजगा इव - जैसे वृक्ष, सण्णिवेसं - सन्निवेश - स्थान को, चयंति - छोड़ते हैं, कुलेहिं - कुलों में, जाया - उत्पन्न हुए, कलुणं - करुण, थणंति - विलाप करते हैं, णियाणओ - कर्मों से।

भावार्थ - जैसे वृक्ष अपने स्थान को नहीं छोड़ते हैं वैसे ही कोई (कई) पुरुष अनेक प्रकार के कुलों में जन्म लेते हैं, रूपादि विषयों में आसक्त होकर करुण रुदन करते हैं किंतु अपने कर्मों से मुक्ति यानी छुटकारा प्राप्त नहीं करते हैं।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्रों में आत्मज्ञान से शून्य मनुष्यों की करुण दशा को समझने के लिये शास्त्रकार ने दो दृष्टान्त दिये हैं जो इस प्रकार हैं -

१. कछुए का दृष्टान्त - किसी स्थान में एक सरोवर था। वह लाख योजन का विस्तार वाला था। वह शैवाल और लताओं से ढंका हुआ था। दैवयोग से सिर्फ एक स्थान में एक इतना छोटा सा छिद्र था जिसमें कछुए की गर्दन बाहर निकल सके। उस तालाब का एक कछुआ अपने समूह से भ्रष्ट होकर अपने परिवार को ढूँढने के लिए अपनी गर्दन को ऊपर उठा कर घूम रहा था। दैवयोग से उसकी गर्दन उसी छिद्र में पहुंच गई तब उसने आकाश की शोभा को देखा। आकाश में निर्मल चांदनी छिटक रही थी जिससे ऐसा मालूम पड़ता था कि क्षीर सागर का निर्मल प्रवाह बह रहा है और उसमें तारागण विकसित कमल के समान दिखाई पड़ते थे। आकाश की ऐसी शोभा को देख कर उस कछुए ने सोचा कि - इस अपूर्व दृश्य को यदि मेरा परिवार भी देखे तो अच्छा हो। ऐसा सोच कर वह अपने परिवार को ढूँढने के लिए फिर तालाब में घुसा जब उसे उसका परिवार मिल गया तो उस छिद्र-बिल को ढूँढने के लिए निकला परंतु वह छिद्र उसको फिर नहीं मिला। आखिर उस छिद्र को ढूँढते ढूँढते वह मर गया।

इसका दार्ष्टान्तिक यह है कि - यह संसार एक सरोवर है। जीव रूपी कछुआ है जो कर्म रूपी शैवाल से ढंका हुआ है। किसी समय मनुष्य भव, आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल और सम्यक्त्व की प्राप्ति रूपी अवकाश को प्राप्त करके भी मोह के उदय से अपने परिवार के लिए विषय भोग उपार्जन में ही अपने जीवन को समाप्त करके फिर संसार में भ्रमण करने लगता है। उसको

फिर यह सुयोग मिलना बड़ा कठिन है। अतः सैकड़ों जन्मों में भी दुर्लभ सम्यक्त्व को प्राप्त करके मनुष्य को क्षणभर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

२. वृक्ष का दृष्टान्त - जैसे वृक्ष सर्दी, गर्मी, कम्प, शाखा, छेदन आदि उपद्रवों को सहन करता हुआ भी कर्म परवश होने से अपने स्थान को नहीं छोड़ सकता है इसी प्रकार भारी कर्मा जीव धर्माचरण योग्य सामग्री के प्राप्त होने पर भी विषयों में आसक्त होकर नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख भोगते हुए करुण रुदन करते हैं फिर भी वे उन दुःखों के कारणभूत विषयों को एवं गृहवास को नहीं छोड़ते हैं।

प्रथम उदाहरण एक बार सत्य का दर्शन कर (सम्यक्त्व पाकर) पुनः मोहमूढ अवसर-भ्रष्ट आत्मा का है जो पूर्वाध्यास या पूर्व संस्कारों के कारण संयम-पथ का दर्शन करके भी पुनः उससे विचलित हो जाती है।

दूसरा उदाहरण अब तक सत्यदर्शन से दूर अज्ञानग्रस्त गृहवास में आसक्त आत्मा का है।

दोनों ही प्रकार के मोहमूढ पुरुष केवलप्ररूपित धर्म का, आत्मकल्याण का अवसर पाने से वंचित रह जाते हैं और वे संसार के दुःखों से त्रस्त होते हैं।

कृत कर्मों का फल

(३३८)

अह पास तेहिं कुलेहिं आयत्ताए जाया।

कठिन शब्दार्थ - आयत्ताए - स्व कर्म भोगने के लिए।

भावार्थ - अब उन कुलों में अपने कर्मों का फल भोगने के लिए उत्पन्न हुए पुरुषों को देखो।

(३३९)

गंडी अहवा कोढी, रायंसी अवमारियं।

काणियं झिमियं चेव, कुणियं खुजियं तथा॥

उदरिं पास मूयं च, सूणियं च गिलासिणिं।

वेवडं पीढसपिं च, सिलिवयं महुमेहणिं॥



सोलस एए रोगा, अक्खाया अणुपुव्वसो।

अह णं फुसंति आर्यंका, फासा य असमंजसा ॥

मरणं तेसिं संपेहाए, उववायं चवणं च णच्चा, परियागं च संपेहाए, तं सुणेह
जहा तथा।

कठिन शब्दार्थ - गंडी - गण्डमाला, रायंसी - राजयक्ष्मा - क्षय रोग, अवमारियं - अपस्मार - मृगी रोग, काणियं - काणा, झिमियं - जड़ता - शरीर के अवयवों का शून्य हो जाना, कुणियं - कुणित्व - हस्तकटा या पैरकटा अथवा एक हाथ या पैर छोटा और एक बड़ा, खुजियं - कुब्ज - कुबडापन, उदरिं - उदर रोग, मूयं - मूक रोग (गूंगापन) सूणियं - शोथरोग-सूजन, गिलासिणिं - भस्मक रोग, वेवइं - कम्पनवात्, पीठसपिं - पीठसर्पिं - पंगुता, सिलिवयं - श्लीपद रोग (हाथी पगा), महुमेहणिं - मधुमेह, आर्यंका - आतङ्क, असमंजसा - असमंजस-जीवन को शीघ्र नष्ट करने वाले - अप्रत्याशित, परियागं - परिणाम को।

भावार्थ - ये सोलह रोग क्रमशः कहे गये हैं। इनको देखो - १. गण्डमाला २. कोढ़ ३. राजयक्ष्मा ४. मृगी ५. कानापन ६. जड़ता - अंगोपांगों में शून्यता ७. कुणित्व - टूटापन ८. कुबडापन ९. उदर रोग - जलोदर, अफारा, उदरशूल आदि १०. मूक (गूंगापन) ११. सूजन १२. भस्मक १३. कम्पनवात् १४. पीठसर्पिं १५. श्लीपद और १६. मधुमेह।

ये शूलादि रोग और आतंक तथा जीवन को शीघ्र नष्ट करने वाले अन्य दुःखों के स्पर्श प्राप्त होते हैं।

उन मनुष्यों के मरण को देखकर, उपपात (उत्पत्ति) और च्यवन को जान कर तथा कर्मों के फल (परिणाम) का भलीभांति विचार साधक ऐसा पुरुषार्थ करे कि पूर्वोक्त रोगों का एवं दुःखों का भाजन न बनना पड़े। कर्मों के फल को जैसा है वैसा सुनो।

विवेचन - इस संसार में जीव अपने कृत कर्मों का फल भोगने के लिए गण्डमाला, मूर्छा, कोढ़, मृगी आदि नाना प्रकार के रोगों से पीड़ित होते रहते हैं। अतः शास्त्रकार उपदेश देते हैं कि हे भव्यजीवो! गृहवास एवं विषय भोगों में आसक्त रहने वाले प्राणियों को विविध रोगों से पीड़ित देख कर तथा बार-बार जन्म-मरण के दुःखों का विचार कर ऐसा कार्य करो कि जिससे इन रोगों का शिकार न बनना पड़े और जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा हो जाय।



भाव-अंधकार

(३४०)

संति पाणा अंधा तमंसि वियाहिया, तामेव सइं असइं अइ अच्च उच्चावयफासे पडिसंवेएइ, बुद्धेहिं एवं पवेइयं।

कठिन शब्दार्थ - तमंसि - अंधकार में - नरक गति आदि द्रव्य अंधकार में और मिथ्यात्व आदि भाव अंधकार में रहे हुए, सइं - एक बार, असइं - अनेक बार, अइ अच्च-प्राप्त करके, उच्चावयफासे - तीव्र और मंद (ऊँचे-नीचे) स्पर्शों (दुःखों) को, पडिसंवेएइ - प्रतिसंवेदन करते हैं।

भावार्थ - इस संसार में ऐसे प्राणी कहे गये हैं जो अंधे (द्रव्य और भाव से अंधे) हैं और अंधकार में ही रहते हैं। वे उसी अवस्था को एक बार और अनेक बार प्राप्त करके तीव्र और मंद दुःखों को भोगते हैं। यह सर्वज्ञ पुरुषों (तीर्थंकरों) ने कहा है।

(३४१)

संति पाणा वासगा, रसगा उदए उदएचरा आगासगामिणो, पाणा पाणे किलेसंति।

कठिन शब्दार्थ - वासगा - वर्षज - वर्षाऋतु में उत्पन्न होने वाले मेंढक आदि अथवा वासक - भाषा लब्धि सम्पन्न बेइन्द्रिय आदि, रसजा - रसज - रस में उत्पन्न होने वाले कृमि आदि अथवा रसग - रसज्ञा (संज्ञी जीव), उदए - उदक रूप - अप्काय के जीव, उदएचरा - जल में रहने वाले जलचर आदि, आगासगामिणो - आकाशगामी - नभचर आदि, किलेसंति-कष्ट देते हैं।

भावार्थ - और भी अनेक प्रकार के प्राणी होते हैं, जैसे - वर्षा ऋतु में उत्पन्न होने वाले मेंढक आदि अथवा भाषा लब्धि सम्पन्न बेइन्द्रिय आदि प्राणी, रस में उत्पन्न होने वाले कृमि आदि जन्तु अथवा रस को जानने वाले संज्ञी जीव, अप्कायिक जीव या जल में उत्पन्न होने वाले या जलचर जीव आकाशगामी आकाश में उड़ने वाले पक्षी आदि। वे प्राणी अन्य प्राणियों को कष्ट देते हैं।



लोक में भय

(३४२)

पास लोए महब्भयं।

भावार्थ - इस प्रकार लोक में महान् भय को देखो।

विवेचन - नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव, इन चारों गतियों में पड़े हुए प्राणी अपने अपने कर्मों के फल को भोगने के लिए नाना प्रकार की वेदनाएं सहन करते हैं। कोई जन्म से ही अंधा होकर अनेकविध कष्टों को भोगता है और कोई नेत्र युक्त होकर भी सम्यक्त्व रूपी भाव नेत्र से हीन होता है। कोई नरक गति आदि अंधकार में पड़ा हुआ है तो कोई मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय आदि भाव अंधकार में पड़ा हुआ है। यह भाव अंधकार प्राणियों के लिए महान् दुःखदायी है। इसमें पड़े हुए प्राणी दूसरे प्राणियों का घात करते हैं। इस प्रकार यह लोक महान् भय का स्थान है। यह जान कर जीव को इस संसार से पार जाने के लिए शीघ्र ही रत्नत्रयी - ज्ञान, दर्शन, चारित्र का आश्रय लेना चाहिए।

(३४३)

बहुदुक्खा हु जंतवो।

भावार्थ - इस संसार में प्राणी निश्चय ही बहुत दुःखी हैं।

(३४४)

सत्ता कामेसु माणवा, अबलेण वहं गच्छंति सरिरेणं पभंगुरेण।

कठिन शब्दार्थ - अबलेण - बल से रहित, पभंगुरेण - क्षण भंगुर।

भावार्थ - मनुष्य काम भोगों में आसक्त है। वे इस बल रहित (निर्बल) क्षण भंगुर शरीर को सुख देने के लिए वध को प्राप्त होते हैं अर्थात् प्राणियों की हिंसा करते हैं।

(३४५)

अट्टे से बहुदुक्खे, इइ बाले पकुव्वइ। एए रोगा बहु णच्चा, आउरा परियावए।



कठिन शब्दार्थ - अट्टे - आर्त्त, परियावए - परिताप देता है।

भावार्थ - आर्त्त और बहुत दुःखों से युक्त वह अज्ञानी प्राणी, प्राणियों को कष्ट देता है। इन अनेक रोगों को उत्पन्न हुआ जान कर उन रोगों की वेदना से आतुर मनुष्य चिकित्सा के लिए दूसरे प्राणियों को परिताप देता है।

सावद्य - चिकित्सा त्याग

(३४६)

णालं पास, अलं तवेएहिं। एयं पास मुणी! महब्भयं, णाइवाएज्ज कंचणं।

कठिन शब्दार्थ - ण अलं - समर्थ नहीं, ण अइवाएज्ज - अतिपात (वध) मत कर।

भावार्थ - ये चिकित्सा विधियाँ कर्मोदय जनित रोगों का शमन करने में समर्थ नहीं है, यह देखो। अतः जीवों को परिताप देने वाली सावद्य चिकित्सा विधियों से तुम दूर रहो। हे मुने! तू देख! इस सावद्य चिकित्सा में होने वाली जीव हिंसा महान् भय रूप है। अतः किसी भी प्राणी का अतिपात (वध) मत कर।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में हिंसा मूलक चिकित्सा का निषेध किया गया है।

स्वकृत जब अशुभ कर्म उदय में आते हैं तब प्राणी उनके विपाक से अत्यंत दुःखी, पीड़ित व त्रस्त हो उठता है। जब ये कर्म विविध रोगों के रूप में उदय में आते हैं तब प्राणी रोगोपशमन के लिए हिंसक औषधोपचार करता है। इसके लिए वह अनेक प्राणियों का वध करता है - करवाता है। उनके रक्त, मांस आदि का अपनी शारीरिक चिकित्सा के लिए उपयोग करता है परन्तु प्रायः देखा जाता है कि उन प्राणियों की हिंसा करके चिकित्सा कराने पर भी वह रोग मुक्त नहीं हो पाता क्योंकि रोग का मूल कारण तो कर्म है उनका क्षय किये बिना रोग मिटेगा कहाँ से? किन्तु मोह वश अज्ञानी प्राणी यह नहीं समझता है और प्राणियों को परिताप देखकर भयंकर कर्म बंध कर लेता है। इसीलिए मुनि को हिंसा मूलक चिकित्सा का निषेध किया गया है।

धूत बनने की प्रक्रिया

(३४७)

आयाण भो! सुस्सूस भो! धूयवायं पवेयइस्सामि इह खलु अत्तत्ताए तेहिं तेहिं



कुलेहिं अभिसेण, अभिसंभूया, अभिसंजाया, अभिणिव्वट्टा, अभिसंवुट्ठा, अभिसंबुद्धा, अभिणिक्खंता अणुपुव्वेणं महामुणी।

कठिन शब्दार्थ - आयाण - समझो, सुस्सूस - सुनने की इच्छा करो, धूयवायं - धूतवाद को, अभिसेण - शुक्र शोणित के अभिषेक से, अभिसंभूया - अभिसंभूत - गर्भ में कलल रूप हुआ, अभिसंजाया - अभिसंजात - मांस और पेशी रूप बना, अभिणिव्वट्टा - अभिनिर्वृत-अंग उपांग से परिपूर्ण हुआ, अभिसंवुट्ठा - अभिसंवृद्ध - संवर्द्धित हुआ, अभिसंबुद्धा - अभिसम्बुद्ध - संबोधि को प्राप्त हुआ, अभिणिक्खंता - अभिनिष्क्रमण हुआ, अणुपुव्वेणं - अनुक्रम से।

भावार्थ - हे शिष्य! तुम समझो और सुनने की इच्छा करो। मैं धूतवाद - कर्म धूने के वाद का निरूपण करूँगा। इस संसार में अपने अपने कर्मों के अनुसार उन उन कुलों में शुक्र और शोणित के संयोग से माता के गर्भ में कलल रूप हुए, फिर मांस और पेशी रूप बने, तदनन्तर अंगोपांग - स्नायु, नस, रोम आदि विकसित हुए, फिर जन्म लेकर संवर्द्धित हुए, तदनन्तर संबोधि को प्राप्त हुए फिर धर्म श्रवण कर दीक्षा अंगीकार की, इस प्रकार अनुक्रम से महामुनि हुए हैं।

विवेचन - कर्मों का सम्पूर्ण क्षय करके ही जीव परम सुखी बन सकता है। आठ कर्मों को धूने - झाड़ने का 'धूत' कहते हैं। धूत का वाद-सिद्धान्त या दर्शन 'धूतवाद' कहलाता है। प्रस्तुत सूत्र में धूतवाद का वर्णन करते हुए अभिसम्भूत से अभिनिष्क्रांत तक की धूत बनने की प्रक्रिया को दर्शाया है। इस प्रकार इस सूत्र में साधना मार्ग पर आगे बढ़ने वाले मुनि के जीवन विकास का चित्रण किया गया है।

(३४८)

तं परक्कमंतं परिदेवमाणा मा णे चयाहि इइ ते वयंति, "छंदोवणीया अज्झोववण्णा," अक्कंदकारी जणगा रुयंति। अत्तारिसे मुणी ण य ओहं तरए, जणगा जेण विप्पजढा।

कठिन शब्दार्थ - परक्कमंतं - पराक्रम करते हुए, परिदेवमाणा - करुण विलाप करते हुए, णे - हमें, मा - मत, चयाहि - छोड़ों, छंदोवणीया - छंदोपनीत - इच्छा के अनुसार चलने

वाले, अज्ज्ञोववण्णा - अध्युपपन्ना - हमे तुम पर विश्वास है, स्नेह है, अवकंदकारी - आक्रन्दन करते हुए, जणगा - माता पितादि, रुयंति - रुदन करते हैं, अतारिसे मुणी - मुनि नहीं हो सकता है, ण ओहं तरए- संसार को पार नहीं कर सकता है, विप्पजढा - छोड़ दिया है।

भावार्थ - संयम के लिए उद्यत उस पुरुष के प्रति उसके माता-पिता आदि रोते हुए इस प्रकार कहते हैं कि - तुम हमें मत छोड़ो, हम तुम्हारी इच्छानुसार व्यवहार करेंगे, तुम पर हमें भरोसा है, ममत्व है, इस प्रकार आक्रन्दन करते हुए वे रुदन करते हैं। वे कहते हैं कि जिसने माता पिता को छोड़ दिया है ऐसा मुनि नहीं हो सकता है और न ही वह संसार सागर को पार कर सकता है।

(३४६)

सरणं तत्थ णो समेइ कहं णु णाम से तत्थ रमइ? एयं णाणं सया समणुवासिज्जासि त्ति वेमि।

॥ छट्टं अज्जयणं पढमोद्देशो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - णो समेइ - स्वीकार नहीं करता है, रमइ - रमण करता है, समणुवासिज्जासि- स्थापित कर ले, हृदय में बसा ले।

भावार्थ - पारिवारिकजनों के इस प्रकार के कथन को सुन कर उनकी शरण में नहीं जाता उनके वचनों को स्वीकार नहीं करता। क्योंकि वह तत्त्वज्ञ पुरुष (ज्ञानी) गृहवास में कैसे रमण कर सकता है? मुनि इस ज्ञान को सदा अपनी आत्मा में स्थापित कर ले, अपने हृदय में बसा ले। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - संसार के स्वरूप को भलीभांति जान कर जो पुरुष प्रव्रज्या अंगीकार करने को तैयार होता है, उसके माता-पिता आदि संबंधीजन मोह-ममता भरी बातें करके उसको गृहवास में रखने की कोशिश करते हैं किन्तु वह विवेकी पुरुष गृहवास को समस्त दुःखों का कारण समझ कर उसका त्याग कर देता है और संयम स्वीकार कर आठ कर्मों को धूने - क्षय करने के लिए अग्रसर हो जाता है।

॥ इति छठे अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥



छह अज्झयणं बीओ उद्देशो

छते अध्ययन का द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में स्वजन-परित्याग रूप मोह पर विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है। मोह पर विजय तभी हो सकती है जब कर्मों का विधूनन-क्षय किया जाय। इस द्वितीय उद्देशक में कर्म विधूनन का उपदेश दिया जाता है। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

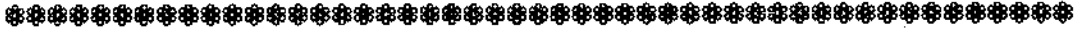
चारित्र भ्रष्टता के कारण

(३५०)

आउरं लोयमायाए चइत्ता पुव्वसंजोगं, हिच्चा उवसमं, वसित्ता बंभचेरंमि, वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्मं जहा तहा, अहेगे तमचाइ कुसीला, वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं विउसिज्जा, अणुपुव्वेण अणहियासेमाणा परीसहे दुरहियासए, कामे ममायमाणस्स, इयाणिं वा मुहुत्तेण वा अपरिमाणाए भेओ एवं से अंतराइएहिं कामेहिं आकेवलिएहिं अवइण्णा चेए।

कठिन शब्दार्थ - आयाए - जानकर, हिच्चा - प्राप्त करके, वसित्ता - बस कर, वसु - साधु, अणुवसु - अनुवसु - श्रावक, पडिग्गहं - पात्र, पायपुंछणं - रजोहरण को, दुरहियासए- दुस्सह, अणहियासेमाणा - सहन न करते हुए, ममायमाणस्स - गाढ ममत्व रखने वाले का, अपरिमाणाए - अपरिमित काल में, अंतराइएहिं - अंतरायों से युक्त, आकेवलिएहिं - द्वन्द्वों (विरोधों) से युक्त, अवइण्णा - तृप्त हुए बिना ही।

भावार्थ - आतुर लोक को भली भांति जान कर पूर्व संयोग को छोड़कर उपशम भाव को प्राप्त कर ब्रह्मचर्य में वास करके साधु अथवा श्रावक धर्म को यथार्थ रूप से जान कर भी कुछ कुशील (मलिन चारित्र वाले) व्यक्ति उस धर्म का त्याग कर देते हैं अथवा उसका पालन करने में समर्थ नहीं होते। संयम के दुस्सह परीषहों को सहन नहीं करने के कारण कामभोगों में तीव्र आसक्त बने हुए उस पुरुष का इसी समय यानी प्रव्रज्या त्याग के बाद ही मुहूर्त मात्र में या अपरिमित समय में शरीर छूट जाता है। इस प्रकार वह भोगाभिलाषी पुरुष बहुत अन्तराय और विघ्न बाधाओं से युक्त कामभोगों से तृप्त हुए बिना ही शरीर भेद को प्राप्त हो जाता है।



विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में चारित्र से भ्रष्ट होने के कारणों एवं उसके दुष्परिणाम का वर्णन किया गया है।

मनुष्य जन्म पाना बड़ा दुर्लभ है। मनुष्य जन्म प्राप्त कर सर्व विरति रूप चारित्र अंगीकार करना तो और भी दुर्लभ है। ऐसे चारित्र को अंगीकार करके जब दुःसह परीषहों का आक्रमण होता है तब उन्हें सहन करना बड़ा कठिन हो जाता है। कोई धीर पुरुष ही उन्हें सहन करते हैं। अधीर पुरुष तो उनसे घबरा कर संयम का त्याग करके गृहस्थ बन जाते हैं। वे विषय भोगों में आसक्त होकर विषय भोगों को भोगने के लिए प्रवृत्त होते हैं किन्तु अनेक विघ्न बाधाओं और अंतराय के कारण वे अपनी इच्छानुसार भोग भोगे बिना ही शरीर को त्याग देते हैं। इस प्रकार वे संयम से भी भ्रष्ट हो जाते हैं और भोगों को भी नहीं भोग सकते हैं।

(३५१)

अहेगे धम्ममायाय आयाणप्पभिइसु पणिहिए चरे अप्पलीयमाणे दढे।

कठिन शब्दार्थ - आयाणप्पभिइसु - धर्मोपकरणादि से युक्त होकर, पणिहिए चरे - धर्माचरण करते हैं, अप्पलीयमाणे - अलिप्त - अनासक्त होते हुए, दढे - दृढ़।

भावार्थ - कई पुरुष श्रुत और चारित्र रूप धर्म को स्वीकार करके, धर्मोपकरणों से युक्त होकर धर्माचरण करते हैं। वे माता-पिता आदि में तथा लोक - कामभोगों में अलिप्त/अनासक्त होकर धर्म में दृढ़ रहते हैं।

(३५२)

सव्वं गिद्धिं परिण्णाय एस पणए महामुणी।

कठिन शब्दार्थ - गिद्धिं - गृद्धि (आसक्ति) को, पणए - प्रणत - संयम में अथवा कर्म क्षय में प्रवृत्त।

भावार्थ - समस्त गृद्धि (आसक्ति) को ज्ञ परिज्ञा से जान कर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर प्रणत - संयम अथवा कर्म क्षय में प्रवृत्त महामुनि होता है।

संयमी के लक्षण

(३५३)

अइअच्च सव्वओ संगं “ण महं अत्थित्ति इइ एगोहमंसि” जयमाणे एत्थ

विरए, अणगारे, सव्वओ मुंडे, रीयंते, जे अचले परिवुसिए संचिक्खइ ओमोयरियाए।

कठिन शब्दार्थ - अइअच्च - त्याग कर, ण महं - मेरी नहीं, अंसि - इस जिन प्रवचन में स्थित, जयमाणे - यत्न पूर्वक पालन करता हुआ, रीयंते - विचरता हुआ, अचले - अचेल-अल्प वस्त्र से युक्त, परिवुसिए - पर्युषितः-अनियतवासी या अन्त प्रान्त आहार करता हुआ, ओमोयरियाए - ऊनोदरी आदि तप करता हुआ, संचिक्खइ - भली प्रकार से स्थित होता है।

भावार्थ - वह महामुनि सब प्रकार के संगों को छोड़ कर यह भावना करे कि "मेरा कोई नहीं है, मैं अकेला ही हूँ।" इस प्रकार वह जिन प्रवचन (तीर्थकर के संघ) में स्थित, विषय भोगों - सावद्य प्रवृत्तियों से विरत, दशविध समाचारी में यतनाशील, द्रव्य और भाव से मुण्ड अनगर सब प्रकार से संयम में प्रवृत्त रहता हुआ अचेल - अल्पवस्त्र से युक्त (अथवा जिनकल्पी) रहता है। अंत प्रांत आहार करता हुआ (अनियतवासी) ऊनोदरी तप आदि करता हुआ सम्यक् प्रकार से संयम में स्थित होता है।

(३५४)

से आकुट्टे वा, हए वा, लुंचिए वा, पलियं पकत्थ, अदुवा पकत्थ, अतहेहिं सहफासेहिं, इइ संखाए एगयरे अण्णयरे अभिण्णाय तित्तिक्खमाणे परिव्वए, जे य हिरी जे य अहिरीमाणा, चिच्चा सव्वं विसोत्तियं संफासे फासे समियदंसणे।

कठिन शब्दार्थ - आकुट्टे - आक्रोशित हुआ, हए - दण्ड आदि से ताड़ित, लुंचिए - केश लुंचन करे, पलियं - पलित - पूर्वकृत अशुभ कार्यों का, पकत्थ - कथन करके निंदा करे, अतहेहिं - अयथार्थ, सहफासेहिं - वचनों से या कष्टों से पीड़ित करे, संखाए - विचार कर - जान कर, हिरी - मन को प्रसन्न करने वाले, अहिरीमाणा - अप्रिय लगने वाले, अभिण्णाय - जानकर, तित्तिक्खमाणे - सहन करता हुआ, विसोत्तियं- शंकाओं को, सांसारिक संबंधों को, समियदंसणे- सम्यग्दृष्टि साधु।

भावार्थ - उस मुनि को कोई आक्रोश वश गाली देता है, डंडे आदि से मारता-पीटता है अथवा केश उखाड़ता या खींचता है अथवा पूर्वकृत अशुभ कार्यों का कथन करके निंदा करता है अथवा घृणित या असभ्य शब्द प्रयोग करता है। झूठे शब्दों से तथा कष्टों से पीड़ित करता है

तो वह साधु इनको अपने पूर्वकृत कर्मों का फल समझ कर समभावों से सहन करे। जो मन में आह्लाद उत्पन्न करने वाले अनुकूल परीषह हैं उन्हें और जो मन को अप्रिय लगने वाले प्रतिकूल परीषह हैं उन्हें जानकर लज्जाकारी और अलज्जाकारी परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करता हुआ संयम में विचरण करे।

सम्यग्दृष्टि साधु परीषहों को सहन करने में सभी प्रकार की शंकाओं को छोड़कर दुःख - स्पर्शों को समभाव से सहे।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्रों में संयमनिष्ठ, मोक्षार्थी महामुनि के जो लक्षण बताये हैं, वे इस प्रकार हैं-

१. मुनि धर्मोपकरणों का निर्ममत्व भाव से यतना पूर्वक उपयोग करने वाला हो।

२. परीषह-सहिष्णुता का अभ्यासी हो।

३. समस्त प्रमादों का त्यागी।

४. स्वजन लोक में/कामभोगों में अलिप्त-अनासक्त।

५. तप संयम तथा धर्माचरण में दृढ़।

६. समस्त गृद्धि - भोगासक्ति का त्यागी।

७. संयम या कर्म क्षय में प्रवृत्त।

८. "मेरा कोई नहीं है, मैं अकेला हूँ" - इस प्रकार एकत्व भावना से सांसारिक संगों का सम्पूर्ण/सर्वथा त्यागी।

९. द्रव्य एवं भाव से मुण्डित।

१०. अचेलक - अल्प वस्त्र को धारण करने वाला। अथवा जिनकल्प को स्वीकार करने वाला।

११. अनियत - अप्रतिबद्ध विहारी।

१२. अन्त प्रान्त भोजी और ऊनोदरी तप करने वाला।

१३. अनुकूल और प्रतिकूल परीषहों को समभावों से सहन करने वाला।

वध, आक्रोश आदि प्रतिकूल परीषहों के उपस्थित होने पर स्थानांग सूत्र स्थान ५ उद्देशक ३ के अनुसार साधक चिंतन करे कि -

१. यह पुरुष कि यक्ष (भूत-प्रेत) आदि से ग्रस्त है।

२. यह व्यक्ति पागल है।

३. इसका चित्त दर्प से युक्त है।

४. मेरे ही किसी जन्म में किये हुए कर्म उदय में आए हैं तभी तो यह पुरुष मुझ पर आक्रोश करता है, बांधता है, हैरान करता है, पीटता है, संताप देता है।



५. ये कष्ट समभाव से सहन किये जाने पर एकांततः कर्मों की निर्जरा होगी।

उपरोक्तानुसार चिंतन करता हुआ मुनि समभावों से परीषहों को सहन करे और संयम में विचरण करे।

भावनग्न

(३५५)

ए ए भो णगिणा वुत्ता, जे लोयंसि अणागमणधम्मिणो।

कठिन शब्दार्थ - णगिणा - भाव नग्न, अणागमणधम्मिणो - अनागमनधर्मी - दीक्षा लेकर गृहवास में नहीं लौटने वाले।

भावार्थ - हे शिष्य! लोक में उन्हीं को भावनग्न कहा गया है जो अनागमन धर्मी - दीक्षित होकर पुनः गृहवास में नहीं आते हैं।

(३५६)

“आणाए मामगं धम्मं” एस उत्तरवाए इह माणवाणं विथाहिए।

कठिन शब्दार्थ - आणाए - आज्ञानुसार, मामगं - मेरा, माणवाणं - मनुष्यों के लिए, उत्तरवाए- उत्कृष्टवाद।

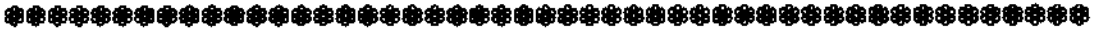
भावार्थ - आज्ञा में मेरा (तीर्थंकर का) धर्म हैं। यह इस लोक में मनुष्यों के लिए उत्कृष्ट वाद (सिद्धान्त) कहा गया है।

विवेचन - तीर्थंकर भगवान् की आज्ञानुसार संयम का पालन करने वाले जो पुरुष सब प्रकार के परीषह उपसर्गों को समभाव से सहन करते हैं और परिग्रह से रहित होते हैं, वे पुरुष भाव नग्न कहे गये हैं।

(३५७)

एत्थोवरए तं झोसमाणे, आयाणिज्जं परिणाय परिआएण विगिंचइ।

कठिन शब्दार्थ - एत्थोवरए - इस कर्म क्षय के उपाय, संयम में रत विषयों से उपरत, झोसमाणे - क्षय करता हुआ, आयाणिज्जं - आदानीय - कर्मों के स्वरूप को, परिआएण - संयम पर्याय से, विगिंचइ- नष्ट करता है।



भावार्थ - विषयों से उपरत, इस कर्म क्षय के उपाय संयम में रत रहने वाला कर्मों का क्षय कर देता है। वह कर्मों के स्वरूप को जान कर संयम पर्याय से उनका क्षय करता है।

एकल विहार प्रतिमाधारी

(३५८)

इहमेगेसिं एगचरिया होइ, तत्थियरा इयरेहिं कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए से मेहावी परिव्वए, सुब्धिं अदुवा दुब्धिं अदुवा तत्थ भेरवा पाणापाणे किलेसंति, ते फासे पुट्ठो धीरो अहियासेज्जासि त्ति बेमि॥३५८॥

॥ बीओद्देसो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ- एगचरिया - एकाकी चर्या (एकल विहार प्रतिमा की साधना), सुद्धेसणाए- शुद्ध एषणा से - एषणा के दस दोषों से रहित, सव्वेसणाए - सर्वेषणा से - उद्गम, उत्पादना आदि सभी दोषों से रहित, सुब्धिं - सुगंध वाला, दुब्धिं - दुर्गन्ध युक्त, भेरवा - भयंकर शब्दों को सुनकर या भयंकर रूपों को देख कर, अहियासेज्जासि - सहन करे।

भावार्थ - इस प्रवचन में स्थित कोई साधु एकाकी चर्या वाले होते हैं, अकेले विचरते हैं। वे अकेले विचरने वाले जिनकल्पी दूसरे सामान्य साधुओं से विशिष्ट होते हैं। वे मेधावी साधु विभिन्न कुलों से एषणा के दस दोषों से रहित और उद्गम, उत्पादना आदि सब दोषों से रहित प्राप्त शुद्ध आहारादि द्वारा संयम का पालन करे। वे सुगंध युक्त अथवा दुर्गन्ध युक्त आहार को समभावों से ग्रहण करे। एकाकी विहार साधना में भयंकर स्थानों में अकेले रहते हुए भयंकर शब्दों को सुनकर या भयंकर रूपों को देखकर भी भयभीत नहीं हो। अथवा जो प्राणी अन्य प्राणियों को मारते हैं, उन हिंसक प्राणियों द्वारा सताये जाने पर उन दुःखों का स्पर्श होने पर धीर मुनि उन्हें समभाव पूर्वक सहन करे। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में कर्म क्षय करने के लिए एकल विहार प्रतिमा स्वीकार करने वाले स्थविर कल्पी अथवा जिनकल्पी साधुओं को आने वाले परीषह उपसर्गों का वर्णन करते हुए उन्हें समभावों से सहन करने की प्रेरणा की गयी है।

॥ छठे अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥



छहं अज्झयणं तइओ उद्देशो

छठे अध्ययन का तीसरा उद्देशक

दूसरे उद्देशक में कर्मों के धूनन (क्षय) का उपदेश दिया है किन्तु कर्मों का क्षय शरीर और उपकरणों की आसक्ति का त्याग किये बिना संभव नहीं है। अतः प्रस्तुत उद्देशक में शरीर और उपकरणों के धूनन का उपदेश दिया जाता है। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

(३५६)

एयं खु मुणी आयाणं सया सुअक्खायधम्मे विधूयकप्पे णिज्झोसइत्ता।

कठिन शब्दार्थ - आयाणं - आदान - कर्म बंध का कारण जानकर, सुअक्खायधम्मे - सुआख्यात - सम्यक् प्रकार से कथित धर्म वाला, विधूयकप्पे - विद्यूत कल्पी - आचार का सम्यक् पालन करने वाला, णिज्झोसइत्ता - त्याग कर देता है।

भावार्थ - सर्वज्ञ प्रणीत धर्म का आचरण करने वाला और साधु के आचार को भलीभांति पालन करने वाला साधु मर्यादा से अधिक वस्त्रादि को कर्म बंध का कारण जान कर त्याग देता है।

(३६०)

जे अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवइ परिजुण्णे मे वत्थे वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, वोक्कसिस्सामि, परिहिस्सामि, पाउणिस्सामि।

कठिन शब्दार्थ - वत्थे - वस्त्र, परिजुण्णे - जीर्ण हो गया है, जाइस्सामि - याचना करूँगा, सुत्तं - सूत्र - धागे (डोरे) की, सूइं - सूई की, संधिस्सामि - सांधूँगा, जोड़ूँगा, सीविस्सामि - सीजूँगा, उक्कसिस्सामि - बड़ा बनाऊँगा, वोक्कसिस्सामि - छोटा बनाऊँगा, परिहिस्सामि - पहनूँगा, पाउणिस्सामि - ओढ़ूँगा।

भावार्थ - जो अचेल - अल्पवस्त्र से युक्त अथवा वस्त्र रहित जिनकल्पी, संयम में स्थित साधु होता है उसे ऐसी चिंता नहीं रहती कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है अतः मैं वस्त्र की याचना करूँगा, फटे हुए वस्त्र को सीने के लिए डोरे की याचना करूँगा, सूई की याचना करूँगा

फिर उस वस्त्र को सांधूंगा, उसे सीऊंगा, छोटा है इसलिए टुकड़ा जोड़कर बड़ा बनाऊंगा, बड़ा है अतः फाड़ कर छोटा बनाऊंगा फिर उसे पहनूंगा और शरीर को ढकूंगा।

द्रव्य और भाव लाघवता

(३६१)

अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति, एगयरे अण्णयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ, अचेले, लाघवं आगममाणे, तवे से अभिसमण्णागए भवइ।

कठिन शब्दार्थ - तणफासा - तृण स्पर्श का, सीयफासा - शीत स्पर्श का, तेउफासा - गर्मी के स्पर्श का, दंसमसगफासा - डांस तथा मच्छरों का स्पर्श, अहियासेइ - सहन करता है, लाघवं - लाघव - लघुभाव को, आगममाणे - जानता हुआ, अभिसमण्णागए - अभिसमन्वागत - युक्त।

भावार्थ - अथवा अचेलत्व साधना में पराक्रम करते हुए मुनि को बारबार तिनकों का स्पर्श, सर्दी और गर्मी का स्पर्श तथा डांस और मच्छरों का स्पर्श पीड़ित करता है। अचेलक मुनि उनमें से एक या दूसरे, नाना प्रकार के परीषहों (स्पर्शों) को समभाव से सहन करता है। इस प्रकार अपने आपको लाघव युक्त (द्रव्य और भाव से हलका) जानता हुआ वह अचेलक साधु तप से सम्पन्न होता है। कायक्लेश आदि तप से युक्त होता है।

(३६२)

जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमेच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिजा एवं तेसिं महावीराणं चिरराइं पुव्वाइं वासाणि रीयमाणानं दवियाणं पास, अहियासियं।

कठिन शब्दार्थ - अभिसमेच्चा - जानकर, सव्वत्ताए - सर्व रूप से, सर्वात्मा से, सम्मत्तमेव - सम्यक्त्व का ही, सम्यक्तया समत्व का ही, चिरराइं - चिर काल तक, पुव्वाइं वासाणि - बहुत वर्षों तक अर्थात् जीवन पर्यन्त, रीयमाणानं - संयम में विचरते हुए का, दवियाणं - द्रव्य यानी मुक्ति गमन योग्य।



भावार्थ - जिस प्रकार से भगवान् ने अचेलत्व (लाघवत्व) के विषय में फरमाया है उसे उसी रूप में जान कर - समझ कर सब प्रकार से, सर्वात्मना सम्यक्त्व को जाने अथवा समत्व का सेवन करे। इस प्रकार बहुत वर्षों तक जीवन पर्यंत संयम में विचरण करने वाले, मुक्ति गमन के योग्य वीर पुरुषों ने जो परीषह आदि सहन किये हैं, उसे तू देख।

(३६३)

आगयपण्णाणाणं किस्सा बाहा भवंति, पयणुए य मंससोणिए, विस्सेणिं कट्टु परिण्णाए, एस तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए ति बेमि।

कठिन शब्दार्थ - आगयपण्णाणाणं - आगत प्रज्ञानानं - जिनको उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति हो गई है - प्रज्ञावान्, किस्सा - कृश, बाहा - भुजाएं, पयणुए - बहुत कम हो जाता है, मंससोणिए - मांस और शोणित - रक्त, विस्सेणिं - विश्रेणी को - संसार वृद्धि की राग द्वेष कषाय रूप श्रेणी को, तिण्णे - तीर्ण - तिरा हुआ, मुत्ते - मुक्त, विरए - विरत।

भावार्थ - तपस्या से तथा परीषह सहन करने से प्रज्ञावान् मुनियों की भुजाएं कृश (दुर्बल) हो जाती है तथा उनके शरीर में मांस और रक्त बहुत कम हो जाते हैं। संसार वृद्धि की राग द्वेष कषाय रूप श्रेणी को जान कर क्षमा आदि से उसे नष्ट करके वह मुनि संसार समुद्र से तीर्ण, मुक्त एवं विरत कहलाता है-ऐसा मैं कहता हूँ।

(३६४)

विरयं भिक्खुं रीयंतं चिरराओसियं अरई तत्थ किं विधारए।

कठिन शब्दार्थ - चिरराओसियं - चिरकाल तक संयम में रहते हुए, विधारए - उत्पन्न हो सकती है।

भावार्थ - विरत, प्रशस्त मार्ग में गमन करते हुए, चिर काल तक संयम में रहते हुए साधु को क्या संयम में अरति उत्पन्न हो सकती है?

(३६५)

संधेमाणे समुट्टिए, जहा से दीवे असंदीणे।

कठिन शब्दार्थ - संधेमाणे - उत्तरोत्तर संयम स्थान से आत्मा को जोड़ता हुआ, दीवे - द्वीप, असंदीणे - असंदीन - जल बाधा से रहित।



भावार्थ - जो सम्यक् प्रकार से संयम मार्ग में उपस्थित हुआ है और उत्तरोत्तर संयम स्थान से आत्मा को जोड़ता है अथवा उत्तरोत्तर गुणस्थानों में चढ़ता जाता है, ऐसे मुनि को अरति कैसे हो सकती है, कदापि नहीं हो सकती। वह मुनि तो जल बाधा से रहित द्वीप जैसा है अर्थात् असंदीन द्वीप, जल से सर्वथा रहित होने से डूबते हुए प्राणियों के लिए आश्रयभूत है उसी प्रकार मुनि भी द्वीप के समान अन्य जीवों का रक्षक है।

(३६६)

एवं से धम्मे आयरियपदेसिए।

कठिन शब्दार्थ - आयरियपदेसिए - आर्य प्रदेशितः - तीर्थंकर प्रणीत।

भावार्थ - इसी प्रकार से वह तीर्थंकर प्ररूपित धर्म है।

(३६७)

ते अणवकंखमाणा, पाणे अणइवाएमाणा दइया मेहाविणो पंडिया।

कठिन शब्दार्थ - अणवकंखमाणा - भोगों को नहीं चाहते हुए, अणइवाएमाणा - हिंसा न करते हुए, दइया - लोकप्रिय, मेहाविणो - मेधावी, पंडिया - पंडित।

भावार्थ - वे मुनि भोगों की आकांक्षा नहीं करने वाले एवं प्राणियों की हिंसा नहीं करने वाले होने के कारण लोकप्रिय, मेधावी और पण्डित हैं।

(३६८)

एवं तेसिं भगवओ अणुट्ठाणे जहा से दियापोए एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेण वाइय त्ति बेमि।

॥ छट्ठं अज्झयणं तइओद्देसो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - अणुट्ठाणे - अनुत्थित - धर्म में जो सम्यक् प्रकार से उत्थित नहीं है, दियापोए- द्विज-पक्षी, अपने पोत - बच्चे का पालन करता है, सिस्सा - शिष्य, वाइय - वाचना आदि के द्वारा।

भावार्थ - जिस प्रकार पक्षी अपने बच्चे का पालन करता है उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान्



के धर्म में जो सम्यक् प्रकार से उत्थित नहीं है उन शिष्यों का आचार्य दिन रात क्रमशः वाचना आदि से संवर्द्धन - पालन करते हैं-ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - जो साधु असंयम से निवृत्त हो चुका है और प्रशस्त मार्ग में विचरण करता है और जो चिरकाल तक संयम में स्थिर रह चुका है उस मुनि को क्या संयम में अरति उत्पन्न हो सकती है? इस प्रश्न के दो उत्तर संभव है -

१. हाँ, हो सकती है क्योंकि कर्मों का परिणाम विचित्र है और मोह की शक्ति अति प्रबल है अतः ऐसे साधु को संयम में अरति उत्पन्न हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

२. नहीं, उपर्युक्त गुण वाले साधु को कभी अरति उत्पन्न नहीं हो सकती क्योंकि वह उत्तरोत्तर गुणस्थानों को स्पर्श करता हुआ यथाख्यात चारित्र के सन्मुख हो जाता है।

जिस प्रकार जल बाधा से रहित द्वीप समुद्र यात्रियों के लिए शरणभूत होता है उसी प्रकार उपर्युक्त गुण सम्पन्न मुनि दूसरे साधुओं के लिए भी आधारभूत होते हैं। ऐसे गुणों वाला मुनि केवल अपनी ही रक्षा नहीं करता किन्तु दूसरे को भी यदि संयम में अरति उत्पन्न हो जाय तो वह उसे भी दूर करके उसकी रक्षा करता है।

जैसे पक्षी अपने बच्चे का तब तक पालन पोषण करता है जब तक वह उड़ कर अन्यत्र जाने लायक नहीं हो जाता उसी प्रकार आचार्य तब तक अपने शिष्य का पालन - संवर्द्धन रक्षण करते हैं जब तक वह धर्म में निपुण नहीं हो जाता है। इस प्रकार भगवान् के धर्म में समुचित शिष्यों को संसार समुद्र पार करने में समर्थ बना देना परमोपकारक आचार्य अपना कर्तव्य समझते हैं।

॥ इति छठे अध्ययन का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

छठं अज्झयणं चउत्थोद्देशो

छठे अध्ययन का चौथा उद्देशक

छठे अध्ययन के तीसरे उद्देशक में शरीर और उपकरणों को कृश (कमी) करने का उपदेश दिया गया है किन्तु वे तब तक पूर्ण रूप से कृश नहीं होते जब तक मनुष्य तीन प्रकार गारव (गौरव) का त्याग नहीं करता है। अतः प्रस्तुत उद्देशक में तीन गौरवों के त्याग का उपदेश दिया जाता है। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -



ज्ञान ऋद्धि का गर्व

(३६६)

एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुब्बेण वाइया तेहिं महावीरेहिं पण्णाणमंतेहिं तेसिमंतिए पण्णाणमुवल्लब्भ हिच्चा उवसमं फारुसियं समाइयंति।

कठिन शब्दार्थ - पण्णाणं - ज्ञान को, उवल्लब्भ - प्राप्त करके, फारुसियं - परुषता को- कठोर भाव को, समाइयंति - धारण (ग्रहण) करते हैं।

भावार्थ - इस प्रकार वे शिष्य दिन और रात में उन महावीर और ज्ञानवंत आचार्यों द्वारा क्रमशः पढ़ाये हुए, प्रशिक्षित किये हुए होने पर भी, ज्ञान प्राप्त करके भी मोहोदय वश उपशम भाव को छोड़ कर परुषता को धारण करते हैं यानी अभिमानी बन कर गुरुजनों का अनादर करने लगते हैं।

(३७०)

वसित्ता बंभचेरंसि आणं तं णो त्ति मण्णमाणा।

कठिन शब्दार्थ - वसित्ता - निवास करके, बंभचेरंसि - ब्रह्मचर्य में, आणं - आज्ञा को।

भावार्थ - वे ब्रह्मचर्य में निवास करके भी (संयम का पालन करते हुए भी) उस आचार्य आदि की आज्ञा को “यह तीर्थंकर की आज्ञा नहीं है” ऐसा मानते हुए गुरुजनों के वचनों की अवहेलना करते हैं।

(३७१)

आघायं तु सोच्चा णिसम्म “समणुण्णा जीविस्सामो” एगे णिक्खंमंते असंभवन्ता विडज्झमाणा कामेहिं गिद्धा अज्झोववण्णा समाहिमाघायमजोसयन्ता सत्थारमेव फरुसं वयंति।

कठिन शब्दार्थ - आघायं - कुशीलों के विपाक को, समणुण्णा - समनोज्ञाः - लोक में माननीय - प्रामाणिक होकर, जीविस्सामो - जीवन जीएंगे, णिक्खंमंते - दीक्षा लेकर - गृहबंधन से निकल कर, असंभवन्ता - मोक्ष मार्ग में चलने के लिए समर्थ न होते हुए,



विडम्बामाणा - जलते हुए, अज्ज्ञोववण्णा - आसक्त होकर, समाहिमाघायं - तीर्थकर भगवान् द्वारा कही हुई समाधि का अजोसयंता - सेवन न करते, सत्थारमेव - शास्ता - उपदेशक को ही।

भावार्थ - कुछ पुरुष कुशीलों के आशातना आदि के दुष्परिणामों को सुन समझ कर भी “लोक में माननीय उत्कृष्ट संयमी जीवन जीएंगे” इस प्रकार की भावना से प्रव्रजित होकर मोह के उदय से मोक्ष मार्ग का अनुसरण नहीं करके ईर्ष्यादि में जलते हुए कामभोगों में गूढ़ या तीन गारवों में अत्यंत आसक्त होकर तीर्थकर द्वारा प्ररूपित समाधि का सेवन नहीं करते हैं और शास्ता - आचार्यादि उपदेशक को ही कठोर वचन कहते हैं।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में ऋद्धि गौरव के अंतर्गत ज्ञान ऋद्धि का गर्व कितना भयंकर होता है, यह बताया गया है।

ज्ञानी गुरु भगवंतों द्वारा अहर्निश वात्सल्यपूर्वक क्रमशः प्रशिक्षित-संवर्द्धित किये जाने पर भी कुछ शिष्यों को ज्ञान का गर्व हो जाता है। बहुश्रुत हो जाने के मद में उन्मत्त होकर वे गुरुजनों द्वारा किए गए समस्त उपकारों को भूल जाते हैं, उनके प्रति विनय, नम्रता, आदर सत्कार बहुमान आदि को ताक में रख कर उपकारी गुरुजनों के प्रति कठोरता धारण कर लेते हैं, अनादर करते हुए उनसे वितण्डावाद करते हैं, अपशब्द बोलने लग जाते हैं। निंदा और अपमान करते हैं ऐसे कुशिष्य शास्त्रोक्त समाधि का सेवन नहीं करते हैं और उन्हें आत्मशांति भी प्राप्त नहीं होती है।

दोहरी मूर्खता

(३७२)

सीलमंता उवसंता संखाए रीयमाणा “असीला” अणुवयमाणस्स बिडिया मंदस्स बालया।

कठिन शब्दार्थ - सीलमंता - शीलवंत - आचार सम्पन्न, उवसंता - उपशांत, अणुवयमाणस्स - कहने वाले, बालया - मूर्खता - अज्ञानता।

भावार्थ - शीलवान्, उपशांत एवं प्रज्ञा (विवेक) पूर्वक संयम का पालन करने वाले साधुओं को ‘ये अशीलवान् हैं’ ऐसा कहने वाले उस मंद बुद्धि, बाल अज्ञानी की यह दूसरी मूर्खता (मूर्खता-अज्ञानता) है।



विवेचन - जो साधु शीलसम्पन्न - आचारवान् हैं, कषायों के शांत होने से उपशांत हैं तथा विवेक पूर्वक संयम का पालन करते हैं ऐसे महात्माओं को अशील कहना अज्ञानियों का काम है। वे अज्ञानी स्वयं संयम का पालन नहीं करते हैं यह उनकी पहली मूर्खता है और संयम का पालन करने वाले महात्माओं को अशील कहना, यह उनकी दूसरी मूर्खता है।

(३७३)

णियट्टमाणा वेगे आचारगोचरमाइक्खंति।

कठिन शब्दार्थ - णियट्टमाणा - संयम से निवृत्त हुए, आचार गोचरं - आचार विचार का, आइक्खंति - कथन करते हैं।

भावार्थ - कुछ साधक संयम से निवृत्त होकर भी (मुनि वेश का त्याग कर देने पर भी) आचार सम्पन्न मुनियों के आचार विचार का बखान करते हैं।

(३७४)

णाणब्भट्टा दंसणलूसिणो णममाणा एगे जीवियं विप्परिणामंति।

कठिन शब्दार्थ - णाणब्भट्टा - ज्ञान से भ्रष्ट, दंसणलूसिणो - दर्शन के नाशक, णममाणा - नत होते हुए - ऊपर से विनय करते हुए, विप्परिणामंति - नाश कर देते हैं।

भावार्थ - जो ज्ञान से भ्रष्ट हो गये हैं वे दर्शन (सम्यग्दर्शन) के भी विध्वंसक हो जाते हैं। कई साधक ऊपर से आर्चायादि के प्रति नत - समर्पित होते हुए भी संयमी जीवन को बिगाड़ देते हैं।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में ज्ञान भ्रष्ट और दर्शन भ्रष्ट साधकों से सावधान रहने की सूचना की गयी है।

कोई साधक कर्मोदय से संयम का पूर्णतया पालन करने में समर्थ नहीं होते हैं फिर भी उनकी प्ररूपणा शुद्ध होती है ऐसे साधकों के आचार में दोष होने पर भी उनके ज्ञान में कोई दोष नहीं है। अतः ये ज्ञान से भ्रष्ट न होने के कारण दर्शन को दूषित नहीं करते हैं परन्तु जो ज्ञान से भ्रष्ट हैं और अपने असंयम जीवन और शिथिलाचार का समर्थन करते हुए उसे शास्त्र सम्मत बताने की धृष्टता करते हैं वे दर्शन का नाश करने वाले महा अज्ञानी हैं।

ज्ञान-भ्रष्ट और दर्शन-भ्रष्ट स्वयं तो चारित्र से भ्रष्ट होते ही हैं अन्य साधकों को भी



शंका ग्रस्त करके अपने दूषण का चेप लगाते हैं उन्हें भी सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट करके सन्मार्ग से विचलित कर देते हैं। अतः उभय-भ्रष्ट बहुत खतरनाक होते हैं उनसे अपने आप को दूर रखना चाहिए।

(३७५)

पुट्टा वेगे णियट्ठंति जीवियस्सेव कारणा, णिक्खंतं पि तेसिं दुण्णिक्खंतं भवइ।

कठिन शब्दार्थ - णियट्ठंति - निवृत्त हो जाते हैं, णिक्खंतं - निष्क्रमण, दुण्णिक्खंतं - दुर्निष्क्रमण।

भावार्थ - कुछ साधक परीषहों के स्पर्श को पाकर असंयम जीवन की रक्षा के लिए-सुख पूर्वक जीवन जीने के लिए संयम से निवृत्त हो जाते हैं - संयम छोड़ बैठते हैं उनका गृहवास से निष्क्रमण भी दुर्निष्क्रमण हो जाता है।

(३७६)

बालवयणिज्जा हु ते णरा पुणो पुणो जाइं पकप्पेंति अहे संभवन्ता विहायमाणा अहमंसि ति विउक्कसे उदासीणे फरुसं वयंति, पलियं पकत्थे अदुवा पकत्थे अतहेहिं तं मेहावी जाणिज्जा धम्मं।

कठिन शब्दार्थ - बालवयणिज्जा - बाल-अज्ञानों द्वारा निंदनीय, अहे - नीचे निम्न स्थान में, संभवन्ता - रहते हुए, विहायमाणा - विद्वान् मानते हुए, विउक्कसे - अभिमान करते हैं-डींग मारते हैं, उदासीणे - उदासीन - मध्यस्थ, पकत्थे - निंदा करते हैं, अतहेहिं - असत्य वचनों से।

भावार्थ - वे अज्ञानी जीवों के द्वारा भी निंदनीय हो जाते हैं तथा वे पुनः-पुनः जन्म धारण करते हैं। रत्नत्रयी में वे निम्न स्तर के होते हुए भी अपने आप को विद्वान् मान कर "मैं ही बहुश्रुत - सर्वाधिक विद्वान् हूँ" इस प्रकार अहंकार करते हैं। जो उनसे उदासीन (मध्यस्थ) रहते हैं उन्हें वे कठोर वचन बोलते हैं। वे साधु के पूर्वाचरण (पूर्व आचरित - गृहवास के समय किये हुए कर्म) को बताकर निंदा करते हैं अथवा असत्य आरोप लगा कर उन्हें बदनाम करते हैं किन्तु बद्धिमान् साधु श्रुत चारित्र रूप मुनि धर्म को भलीभांति जाने।



विवेचन - कितनेक पुरुष संयम स्वीकार करके पुनः विषय भोगों में गृद्ध बन कर असंयम जीवन धारण कर लेते हैं। ऐसे पुरुषों का संयम स्वीकार करना निरर्थक है क्योंकि उनका जन्म मरण के चक्र से छुटकारा हो नहीं सकता। वे अपने आपको विद्वान् मानते हुए महापुरुषों की निंदा करते हैं और उनके ऊपर मिथ्या दोषारोपण करने से भी नहीं हिचकते हैं। अतः बुद्धिमान् साधु को चाहिये कि वह उपर्युक्त कार्यों से अलग रहता हुआ श्रुत चारित्र रूप धर्म को भलीभांति जानकर पालन करे।

अहंकारी की कुचेष्टाएं

(३७७)

अहम्मट्टी तुमंसि णाम बाले, आरंभट्टी अणुवयमाणे “हणपाणे” घायमाणे, हणओयावि समणुजाणमाणे “घोरे धम्मे उदीरिए” उवेहइ णं अणाणाए एस विसण्णे वियदे वियाहिए त्ति बेमि।

कठिन शब्दार्थ - अहम्मट्टी - अधर्मार्थी, आरंभट्टी - आरम्भार्थी, उवेहइ - उपेक्षा करता है, विसण्णे - कामभोगों में आसक्त, वियदे - हिंसक।

भावार्थ - धर्म से पतित होने वाले अहंकारी साधक को आर्चायादि शिक्षा देते हैं - हे शिष्य! तुम अधर्मार्थी हो, बाल-अज्ञानी हो, आरंभार्थी हो - आरंभ में प्रवृत्त रहते हो। तुम इस प्रकार के वचन कहते हो-“प्राणियों का घात करो।” दूसरों से प्राणी वध कराते हो। प्राणी वध करने वालों का अनुमोदन करते हो। तीर्थंकर भगवान् ने संत्र निर्जरा रूप घोर धर्म का प्रतिपादन किया है, ऐसा कह कर तुम धर्म की उपेक्षा करते हो और तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करते हो। ऐसा पुरुष विषय भोगों में आसक्त तथा प्राणियों का हिंसक कहा गया है - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा की उपेक्षा करने वाले पुरुषों को लक्ष्य करके शास्त्रकार फरमाते हैं कि ऋद्धि गारव, रस गारव और साता गारव इन तीन गारवों में एवं कामभोगों में आसक्त बने हुए जीव पचन, पाचनादि क्रिया में प्रवृत्त होकर स्वयं हिंसा करते हैं, दूसरों से हिंसा करवाते हैं और हिंसा करने वालों का अनुमोदन करते हैं। वे आरंभ में प्रवृत्ति करने वाले अज्ञानी हैं।



(३७८)

किमणेणं भो? जणेण करिस्सामि त्ति मण्णमाणे एवं पेगे वडत्ता, मायरं पियरं हिच्चा, णायओ य परिग्गहं वीरायमाणा समुट्ठाए अविहिंसा सुव्वया दंता, पस्स दीणे उप्पइए पडिवयमाणे।

कठिन शब्दार्थ - णायओ - ज्ञातिजन, वीरायमाणा - वीर की तरह आचरण करते हुए, अविहिंसा - हिंसा रहित, सुव्वया - सुव्रती, उप्पइए - पतित होकर, पडिवयमाणे - गिरते हुए।

भावार्थ - हे भव्यो! तुम देखो कि कुछ लोग 'इस स्वार्थी स्वजन का मैं क्या करूँगा?' यह मानते हुए और कहते हुए माता-पिता, ज्ञातिजन और परिग्रह को छोड़ कर वीर की तरह आचरण करते हुए मुनि धर्म में सम्यक् प्रकार से उत्थित होते हैं, प्रव्रजित होते हैं और अहिंसक, सुव्रती और दांत-इन्द्रियों को दमन करने वाले बन जाते हैं। इस प्रकार पहले सिंह की भांति प्रव्रजित होकर फिर दीन बन कर कर्मोदय से पतित होकर संयम से गिर जाते हैं।

(३७९)

वसट्ठा कायरा जणा लूसगा भवन्ति।

कठिन शब्दार्थ - वसट्ठा - वशार्त्त - इन्द्रियों के वशीभूत, लूसगा - लूषक - नाश करने वाले।

भावार्थ - वे विषयों से पीड़ित, इन्द्रियों के वशीभूत बने कायर जन व्रतों को नाश करने वाले होते हैं।

(३८०)

अहमेगेसिं सिलोए पावए भवइ, से समणे भवित्ता समण-विब्भन्ते समण-विब्भन्ते।

कठिन शब्दार्थ - सिलोए - श्लाघा रूप कीर्ति, पावए - पाप रूप, समण - श्रमण, विब्भन्ते - विभ्रान्त होकर।

भावार्थ - दीक्षा छोड़ कर पतित बने हुए किसी पुरुष की श्लाघा रूप कीर्ति पाप रूप हो



जाती है, जगत् में उसकी निंदा होती है कि यह श्रमण विभ्रान्त है (साधु धर्म से भटक गया है) यह श्रमण विभ्रान्त है।

(३८१)

पासहेगे समण्णागएहिं सह असमण्णागए, णममाणेहिं अणममाणे विरएहिं अविरए दविएहिं अदविए।

कठिन शब्दार्थ - समण्णागएहिं - उद्यत विहारियों के, असमण्णागए - शिथिल विहारी हो जाते हैं, णममाणेहिं - नत-विनयशील के, अणममाणे - अनम्र-नम्रता रहित, दविएहिं - द्रव्य-मुक्ति गमन योग्य साधकों के।

भावार्थ - यह भी देख! संयम से पतित कई मुनि उत्कृष्ट आचार वालों के साथ रहते हुए भी शिथिलाचारी, विनयवान् (नत-समर्पित) मुनियों के बीच रहते हुए अविनीत/असमर्पित), विरत साधुओं के बीच रहते हुए भी अविरत तथा चारित्र सम्पन्न मोक्ष गमन योग्य मुनियों के बीच रहते हुए भी चारित्रहीन हो जाते हैं।

(३८२)

अभिसमेच्चा पंडिए मेहावी णिट्ठियट्ठे वीरे आगमेणं सया परक्कमिज्जासि त्ति वेमि।

॥ छट्टं अज्झयणं चउत्थोद्देशो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - णिट्ठियट्ठे - निष्ठितार्थ - विषय सुख से रहित, आगमेणं - आगमानुसार, परक्कमिज्जासि - पराक्रम करे।

भावार्थ - इस प्रकार के शिष्यों को भलीभांति जानकर पण्डित, मेधावी, निष्ठितार्थ - विषय सुख से निस्पृह, वीर (कर्मों का नाश करने में समर्थ) मुनि सदा आगम के अनुसार संयम में पराक्रम करे। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्रों में तीन गौरवों का त्याग कर साधक को जिन चढ़ते परिणामों से दीक्षा अंगीकार की वैसे ही चढ़ते परिणामों में संयम पालन करने की प्रेरणा की गयी है।

॥ इति छठे अध्ययन का चौथा उद्देशक समाप्त ॥



छठं अज्झयणं पंचमोद्देशो

छठे अध्ययन का पांचवां उद्देशक

चौथे उद्देशक में तीन गारवों के त्याग का उपदेश दिया गया है किन्तु वह परीषह सहन और सत्कार - पुरस्कारात्मक सम्मान का त्याग करने से ही सम्पूर्णता को प्राप्त होता है अतः प्रस्तुत उद्देशक में परीषह - जय का उपदेश दिया जाता है। इस का प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

(३८३)

से गिहेसु वा, गिहंतरेसु वा, गामेसु वा, गामंतरेसु वा, णगरेसु वा णगरंतरेसु वा, जणवएसु वा, जणवयंतरेसु वा, गामणयरंतरे वा, गामजणवयंतरे वा, णगरजणवयंतरे वा, संतेगइया जणा लूसगा भवंति, अदुवा फासा फुसंति, ते फासे पुट्ठो वीरो अहियासए ओए समियदंसणे।

कठिन शब्दार्थ - गिहंतरेसु - गृहान्तरो (घरों के आसपास) में, गामंतरेसु - ग्रामान्तरो में, जणवयंतरेसु - जनपदान्तरो - जनपदों के बीच में, ओए - ओज - राग द्वेष रहित अकेला, समियदंसणे - सम्यग्दृष्टि, समितदर्शी।

भावार्थ - वह श्रमण घरों में, अथवा गृहों के अंतराल में, ग्रामों में अथवा ग्रामों के अन्तर में, नगरों में या नगरों के अंतराल में जनपद में या जनपदान्तरो में, ग्राम नगर के अंतराल में, ग्राम जनपद के अन्तराल में, नगर जनपद के अन्तराल में विचरण करता है तब कुछ लोग हिंसक - उपद्रवी हो जाते हैं वे कष्ट देते हैं अथवा नाना प्रकार के (सर्दी गर्मी आदि के) परीषहों के स्पर्श (कष्ट) प्राप्त होते हैं। उन परीषह-कष्टों का स्पर्श पाकर रागद्वेष रहित अकेला वीर (धीर) सम्यग्दृष्टि मुनि उन्हें समभावों से सहन करे।

धर्मोपदेश क्यो, किसको और कैसे?

(३८४)

दयं लोगस्स, जाणित्ता पाईणं पडीणं, दाहिणं, उदीणं, आइक्खे, विभए, किट्टे वेयवी।

छठा अध्ययन - पांचवां उद्देशक - धर्मोपदेश क्यों, किसको और कैसे? २४७

कठिन शब्दार्थ - दयं - दया को, आइक्खे - आख्यान-धर्म का उपदेश करे, विभए-विभेद करके, किट्टे - कीर्तन करे।

भावार्थ - लोक की दया को जान कर यानी संसारी प्राणियों पर दया करके पूर्व, पश्चिम दक्षिण और उत्तर सभी दिशाओं में धर्म का कथन करे। वेदज्ञ - आगमज्ञ मुनि धर्म का विभेद-विभाग करके कीर्तन करे अर्थात् धर्माचरण के सुफल का प्रतिपादन करे।

(३८५)

से उट्टिएसु वा, अणुट्टिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेयए, संतिं, विरइं, उवसमं, णिब्वाणं, सोयं अज्जवियं महवियं लाघवियं अणइवत्तियं।

कठिन शब्दार्थ - सुस्सूसमाणेसु - धर्म सुनने के इच्छुक, पवेयए - धर्म का उपदेश करे, संतिं- शांति, सोयं - शौच (निर्लोभता) अज्जवियं - आर्जव (सरलता), महवियं - मार्दव (कोमलता), लाघवियं - लाघव (अपरिग्रह) अणइवत्तियं - आगम का अतिक्रम न करके यथायोग्य।

भावार्थ - वह साधु धर्माचरण के लिए उत्थित या अनुत्थित धर्म सुनने की इच्छा करने वाले प्राणियों के लिए शांति, विरति, उपशम, निर्वाण, शौच, आर्जव, मार्दव, लाघव का आगम के अनुसार यथायोग्य प्रतिपादन करे - धर्म का उपदेश करे।

(३८६)

सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खेज्जा।

भावार्थ - वह साधु सभी प्राणियों, सभी भूतों, सभी जीवों और सभी सत्त्वों का हित चिन्तन करके धर्म का कथन करे।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्रों में धर्मोपदेश क्यों, किसको और कैसे दिया जाय, इसका समाधान किया गया है।

सांसारिक जीवों पर दया करके उनके कल्याणार्थ साधु उनकी योग्यतानुसार अहिंसा, विरति, क्षमा, आर्जव, मार्दव आदि का धर्मोपदेश करे। धर्म का श्रोता कैसा हो? इसके लिए टीकाकार ने स्पष्ट किया है कि - वह आगमवेत्ता स्व पर सिद्धान्त का ज्ञाता मुनि यह देखे कि



जो भाव से उत्थित - पूर्ण संयम का पालन करने के लिए उद्यत हो उन्हें अथवा अनुत्थित - श्रावकों आदि को धर्म सुनने के जिज्ञासुओं अथवा गुरु आदि की पर्युपासना करने वाले उपासकों को संसार सागर से पार करने के लिए धर्म का कथन करे।

‘अणइवत्तियं’ शब्द के टीकाकार ने दो अर्थ किये हैं - १. जिस धर्म कथा से रत्नत्रयी का अतिव्रजन-अतिक्रमण न हो वैसी अनतिव्राजिक धर्म कथा कहे अथवा जिस कथा से अतिपात (हिंसा) न हो वैसी अनतिपातिक धर्म कथा कहे।

२. आगमों में जो वस्तु जिस रूप में कही है उस यथार्थ वस्तु स्वरूप का अतिक्रमण/अतिपात न करके धर्म कथा कहे।

(३८७)

अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे णो अत्ताणं आसाइज्जा, णो परं आसाइज्जा, णो अण्णाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं आसाइज्जा।

कठिन शब्दार्थ - अत्ताणं - अपनी आत्मा की, आसाइज्जा - आशातना करे, बाधा पहुँचाए।

- भावार्थ - विवेक पूर्वक धर्म का कथन करता हुआ साधु अपनी आत्मा की और दूसरों की आशातना न करे तथा न ही अन्य प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों की आशातना करे, न ही उन्हें बाधा पहुँचाए।

(३८८)

से अणासायए अणासायमाणे वज्झमाणणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं जहा से दीवे असंदीणे एवं से भवइ सरणं महामुणी।

कठिन शब्दार्थ - अणासायए - आशातना नहीं करने वाला, अणासायमाणे - आशातना नहीं करता हुआ, वज्झमाणणं - वध्यमान - वध किये जाते हुए, असंदीणे - असंदीन।

भावार्थ - आशातना नहीं करने वाला मुनि आशातना नहीं करता हुआ वध किये जाते हुए प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए असंदीन - जल बाधाओं से रहित द्वीप की तरह शरणभूत होता है।



(३८६)

एवं से उद्विष्टे ठियप्पा अणिहे अचले चले अबहिल्लेस्से परिव्वए।

कठिन शब्दार्थ - ठियप्पा - स्थितात्मा - आत्मभावों में (मोक्ष में) स्थित, अणिहे - अस्नेह - राग द्वेष रहित, अचले - अचल - परीषहों उपसर्गों आदि से विचलित न होने वाला, चले - चल - अप्रतिबद्ध विहारी, अबहिल्लेसे - अबर्हिलेश्य - अध्यवसाय (लेश्या) को संयम से बाहर न ले जाने वाला।

भावार्थ - इस प्रकार वह मुनि संयम में उत्थित, स्थितात्मा, अस्नेह, अविचल, चल (अप्रतिबद्ध विहारी) और अबर्हिलेश्य होकर संयम में विचरे।

(३९०)

संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिणिव्वुडे।

कठिन शब्दार्थ - पेसलं - उत्तम (पवित्र), दिट्ठिमं - सम्यग्दृष्टिमान्, परिणिव्वुडे - परिनिवृत्त - सर्वथा उपशांत।

भावार्थ - वह सम्यग्दृष्टि मुनि उत्तम धर्म को सम्यक् रूप से जान कर विषय-कषायों को सर्वथा उपशांत करे।

(३९१)

तम्हा संगइं पासह, गंथेहिं गढिया णरा विसण्णा कामक्कंता, तम्हा लूहाओ णो परिवित्तसेज्जा।

कठिन शब्दार्थ - संगइं - संग - आसक्ति के फल को, गंथेहिं - ग्रंथों में-परिग्रह में, गढिया - ग्रथित - जकड़े हुए गृद्ध, विसण्णा - निमग्न बने हुए, आसक्त, कामक्कंता - कामों से आक्रांत, लूहाओ - रूक्ष - संयम से, ण परिवित्तसेज्जा - भयभीत, उद्विग्न, खेदखिन्न न हो।

भावार्थ - इसलिए संग - विषयासक्ति को, आसक्ति के फल को देखो। बाह्य और आभ्यंतर ग्रन्थि - परिग्रह में गृद्ध और उनमें निमग्न बने हुए पुरुष कामभोगों से आक्रांत होते हैं उन्हें शांति प्राप्त नहीं होती है अतः मुनि निःसंग रूप संयम से, संयम के कष्टों से भयभीत न हो अर्थात् धैर्य पूर्वक संयम का पालन करे।



(३६२)

जस्सिमे आरंभा सब्बओ सब्बप्पयाए सुपरिण्णाया भवंति जेसिमे लूसिणो णो परिवित्तसंति से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च, एस तुट्टे वियाहिए त्ति बेमि।

कठिन शब्दार्थ - सब्बप्पयाए - सब प्रकार से, सुपरिण्णाया - सुपरिज्ञात, लूसिणो-लूषक - हिंसक, परिवित्तसंति - भयभीत नहीं होते हैं, वंता - वमन (त्याग) कर, तुट्टे - त्रोटक - भव भ्रमण से छूटा हुआ, संसार के (कर्मों के) बंधनों को तोड़ने वाला।

भावार्थ - जिन आरम्भों से हिंसक पुरुष भयभीत (उद्विग्न) नहीं होते हैं, उन आरम्भों को मुनि सब प्रकार, सर्वात्मना जान कर त्याग देते हैं। वे ही मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ का वमन कर (त्याग कर) त्रोटक - कर्म (संसार) बंधन से छूटे हुए कहे गये हैं। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - संयमशील साधक को आरम्भ-समारम्भ एवं विषय भोगों से निवृत्त रहना चाहिए क्योंकि इनमें आसक्त व्यक्ति कभी सुख-शांति को प्राप्त नहीं करता है। वह रात दिन अशांति की आग में जलता रहता है। जो पुरुष सांसारिक विषयों तथा कामभोगों को छोड़ कर संयम का पालन करता है, वही शाश्वत सुख शांति को प्राप्त करता है।

(३६३)

कायस्स वियावाए एस संगामसीसे वियाहिए, से हु पारंगमे मुणी, अविहम्ममाणे फलगावयट्ठी कालोवणीए कंखेज्जकालं जाव सरीरभेउ त्ति बेमि।

॥ धूताक्खं णामं छट्ठमज्झयणं समत्तं ॥

कठिन शब्दार्थ - कायस्स - शरीर का, वियावाए - व्यापात - विनाश, संगामसीसे-संग्रामशीर्ष - युद्ध का अग्रिम मोर्चा - हार जीत का निर्णायक स्थल, पारंगमे - पारगामी, अविहम्ममाणे - अविहन्यमानः - परीषहों से पराभूत नहीं होता, फलगावयट्ठी - फलक - लकड़ी के पाटिये की तरह स्थिर, कालोवणीए - मृत्यु काल के समीप आने पर, सरीर भेउ-शरीर का भेदन, कंखेज्ज - प्रतीक्षा करे।

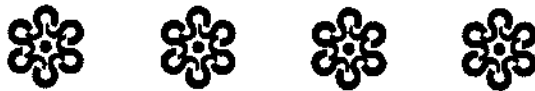


भावार्थ - शरीर के विनाश को - मृत्यु के समय की पीड़ा को संग्रामशीर्ष कहा गया है। जो मृत्यु को पण्डित मरण से महोत्सव बना देता है वही संसार से पारगामी होता है। परीषह उपसर्गों द्वारा पीड़ित किये जाने पर भी मुनि भयभीत (उद्विग्न) नहीं होता और फलक की तरह स्थिर रहता है। मृत्युकाल के समीप आने पर जब तक शरीर का भेदन न हो तब तक काल (आयु क्षय) की प्रतीक्षा करे, ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - मरण काल वस्तुतः साधक के लिए संग्राम का अग्रिम मोर्चा (संग्राम शीर्ष) है। मृत्यु का भय संसार में सबसे बड़ा भय है। इस पर विजय प्राप्त करने वाला, सभी भयों को जीत लेता है। अतः मृत्यु निकट आने पर मारणांतिक वेदना होने पर शांत अविचल रहना, मृत्यु के मोर्चे को जीतना है। जो इस मोर्चे पर हार जाता है वह प्रायः सारे संयमी जीवन की उपलब्धियों को खो देता है। शरीर के प्रति मोह ममत्व व आसक्ति से बचने के लिए ही ज्ञानीजनों ने संलेखना की विधि बताई है जिसके अंतर्गत कषाय और शरीर को कृश करना होता है। संलेखना करने वाले साधक को फलगावयट्टी - छीले हुए फलक की उपमा दी है। जैसे काष्ठ को दोनों ओर से छिल कर उसका पाटिया - फलक बनाया जाता है वैसे ही साधक शरीर और कषाय दोनों से कृश - दुबला हो जाता है। संलेखना के समय में साधक को परीषहों और उपसर्गों से नहीं घबराना चाहिये अपितु काष्ठ फलकवत् स्थिर रहना चाहिये तथा जब तक शरीर छूटे नहीं तब तक काल (मृत्यु) की प्रतीक्षा करनी चाहिये। इस प्रकार जो साधक मृत्यु के समय मोह मूढ़ नहीं होता, परीषह उपसर्गों से विचलित नहीं होता, वह सर्व कर्मों को क्षय कर संसार से पारगामी हो जाता है अर्थात् सर्व दुःखों का अंत कर मोक्ष के शाश्वत सुखों को प्राप्त कर लेता है।

॥ इति छठे अध्ययन का पांचवां उद्देशक समाप्त ॥

॥ धूतावख नामक छठा अध्ययन समाप्त ॥



महा परिण्णा णामं सत्तमं अज्झयणं वोच्छिण्णं

महापरिज्ञा नामक सातवां अध्ययन विच्छिण्ण

सातवें अध्ययन का नाम 'महापरिज्ञा' है। महापरिज्ञा अर्थात् महान् - विशिष्ट ज्ञान के द्वारा मोह जनित दोषों को जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा उनका त्याग करना। महापरिज्ञा नामक सातवें अध्ययन के सात उद्देशक हैं किन्तु यह अध्ययन व्युच्छिन्न हो गया है, आज हमारे समक्ष अनुपलब्ध है। अतः अब आठवां अध्ययन कहा जाता है।

विमोक्ख णामं अट्ठमं अज्झयणं

विमोक्ष नामक आठवां अध्ययन

आठवें अध्ययन का नाम 'विमोक्ष' है। छठे अध्ययन में कहा गया है कि मोक्षार्थी पुरुष को अपने शरीर, उपकरण आदि से ममत्व हटा कर निःसंग होकर विचरना चाहिये। ऐसा परम धीर (वीर) पुरुष ही कर सकता है उसे ही सम्यग् निर्याण की प्राप्ति होती है। अतः इस आठवें अध्ययन में सम्यग् निर्याण - भाव विमोक्ष का वर्णन किया जाता है। आठवें अध्ययन के प्रथम उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

पटमो उद्देशो - प्रथम उद्देशक

समनोज्ञ और असमनोज्ञ के साथ व्यवहार

(३६४)

से बेमि समणुण्णस्स वा असमणुण्णस्स वा असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा णो पाएज्जा, णो णिमंतिज्जा णो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति बेमि।

कठिन शब्दार्थ - समणुण्णस्स - समनोज्ञ - जो श्रद्धा और लिंग से तो अपने समान है किन्तु आहार आदि से समान नहीं है - उसको, असमणुण्णस्स - असमनोज्ञ - दर्शन, लिंग और

आचार - तीनों से असमान - को, णो पाएज्जा - न देवे, णो णिमंतिज्जा - निमंत्रित न करे, णो कुज्जा वेयावडियं - वैयावृत्य न करे, आढायमाणे - आदरवान् होकर, परं - अतिशय।

भावार्थ - मैं कहता हूँ - अतिशय आदरवान् हो कर समनोज्ञ को - जो दर्शन (श्रद्धा) और लिंग (वेश) से समान है किन्तु आचार से असमान है उसको तथा असमनोज्ञ (दर्शन, वेश और आचार से असमान) साधक को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल अथवा पादप्रोछन (रजोहरण आदि या पैर पोंछने का कपड़ा) न देवे, न देने के लिए निमंत्रित करे और न उनकी वैयावृत्य - सेवा करे।

विवेचन - उपर्युक्त सूत्र में आये हुए “परं आढायमाणे” का आशय यह है कि आदर एवं बहुमान से करने पर ही वैयावृत्य का लाभ मिलता है। अन्यथा अनादर भाव से करने पर तो मजदूरी या बेगारी जैसा होता है। अतः अनादर भाव से करने की हाँ नहीं की है। परन्तु आदर - बहुमान से करने को ही वैयावृत्य माना है।

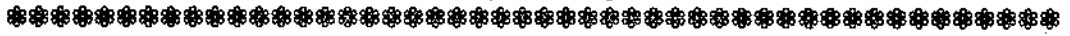
(३६५)

धुवं चेषं जाणेज्जा असणं वा जाव पायपुंछणं वा, लभिया णो लभिया, भुंजिया णो भुंजिया पंथं विउत्ता विउक्कम्म विभत्तं धम्मं जोसेमाणे समेमाणे चलेमाणे पाएज्जा वा णिमंतेज्जा वा कुज्जा वेयावडियं परं अणाढायमाणे त्ति बेमि।

कठिन शब्दार्थ - धुवं - ध्रुव-निश्चित, लभिया - प्राप्त करके, भुंजिया - खा कर, पंथं - मार्ग को, विउत्ता - अपक्रम - बदल कर, विउक्कम्म - व्युत्क्रम - उल्लंघन कर।

भावार्थ - इसे तुम ध्रुव यानी निश्चित जानो - अशन यावत् पादप्रोछन को प्राप्त करके अथवा प्राप्त न कर, भोजन करके अथवा न करके, मार्ग को बदल कर या उल्लंघन करके मेरे स्थान पर आया करें। भिन्न धर्म का सेवन करता हुआ असमनोज्ञ - बौद्ध भिक्षु आदि आता हुआ या जाता हुआ यदि कदाचित् ऐसा कहे अथवा आहार आदि दे या आहार आदि देने के लिए निमंत्रण दे अथवा अत्यंत आदर के साथ वैयावृत्य करे तो साधु उसे स्वीकार न करे, उसकी बात की उपेक्षा कर दे। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि प्रायः सम आचार वाले के साथ सांभोगिक व्यवहार संबंध रखा जाता है, विषम आचार वाले के साथ नहीं।



“समणुण्ण” शब्द का संस्कृत रूपान्तर ‘समनोज्ञ’ होता है जिसका अर्थ है - जो दर्शन (श्रद्धा) से और वेश (लिंग) से समान हो किन्तु भोजनादि व्यवहार से नहीं। इसके विपरीत जिसकी श्रद्धा, लिंग आदि सब भिन्न हैं, वह “असमणुण्ण” - असमनोज्ञ कहलाता है। असमनोज्ञ के लिए शास्त्रों में ‘अन्यसांभोगिक’ तथा ‘अन्यतीर्थिक’ शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। निहव आदि वेश से समनोज्ञ है परन्तु दृष्टि से असमनोज्ञ है।

मुनि अपने साधर्मिक (समानधर्मा) समनोज्ञ को ही आहारादि ले - दे सकता है किन्तु एक आचार होने पर भी जो शिथिल आचार वाले पार्श्वस्थ, कुशील, अपच्छद, अवसन्न आदि हों उन्हें मुनि आदर पूर्वक आहारादि नहीं ले - दे सकता है। निशीथ सूत्र अध्ययन २/४४ तथा अध्ययन १५। ७६-७७ में इसका स्पष्ट उल्लेख है। वस्तुतः यह निषेध भिन्न समनोज्ञ अथवा असमनोज्ञ के साथ राग द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, विरोध, वैर, भेदभाव आदि बढ़ाने के लिए नहीं किया गया है, यह तो सिर्फ अपनी आत्मा को ज्ञान, दर्शन, चारित्र की निष्ठा में शैथिल्य आने से बचाने के उद्देश्य से है। शास्त्र में विपरीत दृष्टि (मिथ्यादृष्टि) के साथ संस्तव, अति परिचय, प्रशंसा तथा प्रतिष्ठा - प्रदान को रत्नत्रय साधना दूषित करने का कारण बताया गया है अतः अन्यतीर्थियों के साथ साधु को किसी प्रकार का संबंध न रखना चाहिये।

तथाकथित असमनोज्ञ - अन्यतीर्थिक भिक्षुओं की ओर से किस-किस प्रकार से साधु को प्रलोभन, आदर भाव, विश्वास आदि से बहकाया, फुसलाया और फंसाया जाता है। यह प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है। अपरिपक्व साधक इससे विचलित न हो जाय, अतः शास्त्रकार ने उनकी बात का आदर न करने, उपेक्षा करने का निर्देश दिया है।

भगवान् महावीर स्वामी के ११ गणधरों के नौ गण थे, उन नौ गणों में भी आहार पानी साथ में करने का संभोग नहीं था, शेष ११ संभोग थे। ऐसी संभावना पूज्य गुरुदेव फरमाया करते थे। सुव्यवस्था की दृष्टि से अन्य सांभोगिक समनोज्ञ को पीठ फलक आदि धामना दूसरे आचारांग के सातवें अध्ययन में बताया है, आहारादि नहीं। जैसे उत्तराध्ययन के २३ वें अध्ययन में केशीकुमार श्रमण के द्वारा भी गौतम स्वामी को पराल आदि का आसन धामना ही बताया है।

(३६६)

इहमेगेसिं आयारगोयरे णो सुणिसंते भवइ, ते इह आरंभट्ठी अणुवयमाणा
“हण पाणा” घायमाणा हणओ याविं समणुजाणमाणा अदुवा अदिण्णमाइयंति,



अदुवा वायाउ विउज्जंति तंजहा-अत्थि लोए णत्थि लोए धुवे लोए अधुवे लोए साइए लोए अणाइए लोए सपज्जवसिए लोए अपज्जवसिए लोए सुकडेत्ति वा दुक्कडेत्ति कल्लाणेत्ति वा पावेत्ति वा साहुत्ति वा असाहुत्ति वा, सिद्धीत्ति वा, असिद्धीत्ति वा, णिरएत्ति वा अणिरएत्ति वा।

कठिन शब्दार्थ - आचारगोचरे - आचार-गोचर (शास्त्र विहित आचरण), सुणिसंते - सुपरिचित, अदिण्णमाइयंति - अदत्त - बिना दिए हुए पर-द्रव्य का ग्रहण करते हैं, वायाउ विउज्जंति- वचनों का प्रयोग करते हैं, लोए - लोक, अधुवे - अधुव, साइए - सादि, अणाइए - अनादि, सपज्जवसिए - सपर्यवसित (सान्त) अपज्जवसिए - अपर्यवसित (अनन्त), सुकडेत्ति - सुकृत-अच्छा किया है, दुक्कडे त्ति - दुष्कृत है, कल्लाणेत्ति - कल्याण है, पावेत्ति - पाप, साहुत्ति - साधु (भला), असाहुत्ति - असाधु (बुरा)।

भावार्थ - इस लोक में कई साधकों को आचार-गोचर का भलीभांति परिचय नहीं होता है। वे इस लोक में आरम्भार्थी - आरंभ करने वाले होते हैं। वे अन्यमतीय भिक्षुओं की तरह बोलने लग जाते हैं कि 'प्राणियों को मारो' इस प्रकार वे प्राणीवध स्वयं करते हैं, दूसरों से करवाते हैं और करने वालों का अनुमोदन करते हैं अथवा वे अदत्त - स्वामी द्वारा बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करते हैं। अथवा वे विविध प्रकार के वचन बोलते हैं जैसे कि लोक है, लोक नहीं है, लोक धुव है, लोक अधुव है, लोक सादि है, लोक अनादि है। लोक सान्त-सपर्यवसित है, लोक अपर्यवसित - अन्तरहित है, सुकृत है, दुष्कृत है, पुण्य है, पाप है, साधु (भला) है, असाधु (बुरा) है, सिद्धि है, असिद्धि - सिद्धि नहीं है, नरक है, नरक नहीं है।

(३६७)

जमिणं विप्पडिवण्णा "मामगं धम्मं" पण्णवेमाणा, इत्थवि जाणह अकम्हा। एवं तेसिं णो सुअक्खाए धम्मे णो सुपण्णत्ते धम्मे भवइ, से जहेयं भगवया पवेइयं आसुपण्णेण जाणया पासया, अदुवा गुत्ती वओगोयरस्स त्ति वेमि।

कठिन शब्दार्थ - विप्पडिवण्णा - विप्रतिपन्न - विविध आग्रहों से युक्त, परस्पर विरुद्ध वाद को मानते हुए, पण्णवेमाणा - प्ररूपण करते हुए, अकम्हा - अकस्मात् - कुछ भी नहीं है, युक्ति संगत नहीं होने के कारण, सुअक्खाए - सुआख्यात, सुपण्णत्ते - सुप्रज्ञप्त, आसुपण्णेणं- आशुप्रज्ञ, वओ गोयरस्स - वाणी के विषय, गुत्ती - गुप्ति-गुप्त।



भावार्थ - इस प्रकार परस्पर विरुद्ध वादों को मानते हुए, नाना प्रकार के आग्रहों को स्वीकार किये हुए मतवादी अपने अपने धर्म का प्ररूपण करते हैं। उनके इस प्ररूपण में कोई भी हेतु नहीं है, ये वाद एकान्तिक होने से युक्तिसंगत नहीं है, ऐसा जानो। इस प्रकार उन एकान्त वादियों का धर्म सुआख्यात नहीं और सुप्रज्ञप्त भी नहीं है।

जिस प्रकार से आशुप्रज्ञ सर्वज्ञ सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने अनेकांत रूप धर्म का कथन किया है उसी प्रकार से सम्यग्वाद का प्ररूपण करे। अथवा वाणी विषयक गुप्ति से रहे अर्थात् वाद विवाद के समय वचन गुप्ति से युक्त होकर रहे। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्रों में असमनोज्ञ साधुओं की आचार शिथिलता एकान्त एवं विरुद्ध श्रद्धा प्ररूपणा का कथन करते हुए स्पष्ट किया गया है कि एकान्तवादियों का धर्म युक्ति, हेतु, तर्क संगत नहीं होने के कारण सुआख्यात भी नहीं है और सुप्ररूपित भी नहीं है। इससे विपरीत सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर प्रभु द्वारा कथित अनेकांत धर्म ही स्वाख्यात एवं ग्राह्य है।

(३६८)

सव्वत्थ संमयं पावं, तमेव उवाइकम्म, एस महं विवेगे वियाहिए।

कठिन शब्दार्थ - सव्वत्थ - सर्वत्र, संमयं - सम्मत, सम्मति है, उवाइकम्म - अतिक्रमण (उल्लंघन) करके।

भावार्थ - अन्य मतवादियों के दर्शन में सर्वत्र पाप सम्मत है अर्थात् अन्यतीर्थी सर्वत्र पापानुष्ठान की सम्मति देते हैं उनके मत में पाप निषिद्ध नहीं है किन्तु भगवान् महावीर के धर्म में यह सम्मत नहीं है। उसी पाप का, पापाचरण का उल्लंघन करके रहना यह महान् विवेक कहा गया है। अथवा मैं पाप का अतिक्रमण करके स्थित हूँ, यह मेरा विवेक है।

धर्म का आधार

(३६९)

गामे वा अदुवा रण्णे, णेव गामे णेव रण्णे, धम्ममायाणह पवेइयं माहणेण मईमया।

कठिन शब्दार्थ - रण्णे - अरण्य - जंगल में, आयाणह - जानो, माहणेण - महामाहन भगवान् ने, मईमया - मतिमान्।

भावार्थ - धर्म ग्राम में होता है अथवा अरण्य (जंगल) में होता है? धर्म न तो ग्राम में है और न अरण्य में, उसी को धर्म जानो जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी महामाहन भगवान् ने फरमाया है।



विवेचन - उस समय कुछ एकान्तवादी ऐसा मानते और कहते थे कि गांव, नगर आदि जनसमूह में रह कर ही धर्म साधना हो सकती है। जंगल में एकांत में रह कर साधु को परीषह सहन का अवसर ही कम आएगा और आएगा तो भी वह विचलित हो जाएगा। एकान्त में ही पाप पनपता है। इसके विपरीत कुछ एकान्त वादी यह कहते थे कि अरण्यवास में ही साधु धर्म का पालन अच्छी तरह से हो सकता है, जंगल में रह कर कंदमूल फलादि खा कर ही तपस्या की जा सकती है। बस्ती (जनसमूह) में रहने से गोह पैदा होता है। इन दोनों एकान्तवादों का प्रतिकार करते हुए आगमकार फरमाते हैं कि 'णोव गामे णोव रण्णे' धर्म न तो ग्राम में रहने से होता है न अरण्य में रहने से। धर्म का आधार ग्राम, नगर, अरण्य आदि नहीं है। धर्म का आधार तो आत्मा है। आत्मा के गुण - सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य में धर्म है। जिससे जीवादि का ज्ञान हो, तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा हो और मोक्षमार्ग का यथार्थ आचरण हो। वास्तव में आत्मा का स्वभाव ही धर्म है अतः धर्म न गांव में होता है न जंगल में, वह तो आत्मा में ही होता है। आत्मदर्शी साधक का वास्तविक निवास निश्चल विशुद्ध आत्मा में होता है।

तीन याम

(४००)

जामा तिण्णि उदाहिया, जेसु इमे आयरिया संबुज्झमाणा समुट्ठिया।

कठिन शब्दार्थ - जामा - याम, संबुज्झमाणा - बोध को प्राप्त हुए, आरिया - आर्य, समुट्ठिया - समुपस्थित।

भावार्थ - तीन याम कहे गये हैं उनमें बोध को प्राप्त हुए आर्यजन सम्यक् प्रकार से उत्थित होते हैं।

विवेचन - 'तिण्णिजामा' शब्द के टीकाकार ने तीन अर्थ किये हैं -

१. तीन याम - तीन महाव्रत-अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह। अदत्तादान और मैथुन को अपरिग्रह में अन्तर्भाव कर लिया है। ऊर्ही अचौर्य महाव्रत को सत्य के साथ ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह महाव्रत में समाविष्ट करते हैं।

२. तीन याम अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य रूप रत्नत्रयी जिनसे संसार भ्रमणादि का उपरम होता है।

३. तीन याम अर्थात् मुनि धर्म योग्य तीन अवस्थाएं - पहली आठ वर्ष से तीस वर्ष तक,



दूसरी ३१ से ६० वर्ष तक और तीसरी उससे आगे की। ये तीन अवस्थाएं 'त्रियाम' हैं। स्थानांग सूत्र में इन्हें प्रथम, मध्यम और अंतिम नाम से कहा गया है।

(४०१)

जे णिव्वुया पावेहिं कम्महिं अणियाणा ते वियाहिया।

कठिन शब्दार्थ - णिव्वुया - क्रोधादि के उपशम से शांत, अणियाणा - अनिदान-निदान रहित।

भावार्थ - जो क्रोधादि के उपशम से शांत हो गए हैं, वे पाप कर्मों के निदान से रहित कहे गये हैं।

(४०२)

उहं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सव्वावंति च णं पाडियक्कं जीवेहिं कम्मसमारंभेणं।

कठिन शब्दार्थ - पाडियक्कं - प्रत्येक।

भावार्थ - ऊंची-नीची एवं तिरछी सब दिशाओं में तथा सब विदिशाओं में सब प्रकार से एकेन्द्रिय आदि जीवों में से प्रत्येक को लेकर उपमर्दन रूप कर्म समारम्भ किया जाता है।

(४०३)

तं परिणाय मेहावी णेव सयं एएहिं काएहिं दंडं समारंभेजा, णेवण्णे एएहिं काएहिं दंडं समारंभावेजा, णेवण्णे एएहिं काएहिं दंडं समारंभंतेवि समणुजाणेजा।

भावार्थ - मेधावी-बुद्धिमान् साधक उस कर्म समारम्भ को जान कर स्वयं पृथ्वीकाय आदि दण्ड का समारम्भ न करे, न दूसरों के द्वारा समारम्भ करवाए और समारम्भ करने वालों का अनुमोदन भी न करे।

(४०४)

जे वण्णे एएहिं काएहिं दंडं समारंभंति तेसिंपि वयं लज्जामो।

भावार्थ - जो दूसरे लोग इन पृथ्वीकाय आदि दण्ड का समारम्भ करते हैं उनके इस कार्य से हम लज्जित होते हैं।



(४०५)

तं परिणाय मेहावी तं वा दंडं अण्णं वा दंडं णो दंडभी, दंडं समारंभेज्जासि
त्ति बेमि।

॥ अट्टं अज्झयणं पढमोद्देशो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - दंडभी - उपमर्दन रूप दण्ड से डरने वाला।

भावार्थ - उसे जान कर मेहावी दण्डभीरु-साधक जीव हिंसा रूप दण्ड का अथवा
मृषावाद आदि अन्य दण्ड का समारम्भ न करे। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - दण्ड शब्द के कई अर्थ मिलते हैं जैसे - १. लकड़ी आदि का डंडा २. निग्रह
या सजा करना ३. अपराधी को अपराध के अनुसार शारीरिक या आर्थिक दण्ड देना ४. दमन
करना ५. मन वचन और काया का अशुभ व्यापार ६. जीव हिंसा तथा प्राणियों का उपमर्दन
आदि।

प्रस्तुत सूत्र में 'दण्ड' शब्द का अर्थ प्राणियों को पीड़ा देने, उपमर्दन करने तथा मन, वचन
और काया का दुष्प्रयोग करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। साधक स्वयं दण्ड समारम्भ न करे,
न करवाए और करने वाले का अनुमोदन भी न करे। इस प्रकार तीन करण तीन योग से हिंसादि
का सर्वथा त्याग कर दे।

॥ इति आठवें अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

अट्टमं अज्झयणं बीओद्देशो

आठवें अध्ययन का द्वितीय उद्देशक

आठवें अध्ययन के प्रथम उद्देशक में असमनोज्ञ - अन्यतीर्थी साधु के साथ संभोग नहीं
रखने का उपदेश दिया गया है। शुद्ध संयम का पालन करने के लिए कुशीलों की संगति का
त्याग करना ही चाहिये परन्तु अकल्पनीय पदार्थों - आहार पानी, स्थान, वस्त्र आदि - का
त्याग किये बिना यह संभव नहीं है अतः इस दूसरे उद्देशक में अकल्पनीय वस्तु त्याग का
उपदेश दिया जाता है इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -



साधु के लिए अनाचरणीय और अकल्पनीय

(४०६)

से भिक्खू परक्कमेज्ज वा, चिट्ठेज्ज वा, णिसीएज्ज वा, तुयट्ठेज्ज वा, सुसाणंसि वा, सुण्णागारंसि वा, गिरिगुहंसि वा, रुक्खमूलंसि वा, कुंभाराययणंसि वा, हुरत्था वा कहिं चि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई बूया आउसंतो समणा! अहं खलु तव अट्ठाए असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा, पाणाइं भूयाइं जीवाइं, सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं, पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं, अभिहडं आहट्टु चेएमि, आवसहं वा समुस्सिणामि, से भुंजह, वसह।

कठिन शब्दार्थ - परक्कमेज्ज - विहार करता हो, भिक्षादि किसी कार्य के लिए कहीं जा रहा हो, चिट्ठेज्ज - खड़ा हो, णिसीएज्ज - बैठा हो, तुयट्ठेज्ज - सोता हुआ हो, सुसाणंसि - श्मशान में, सुण्णागारंसि - शून्य घर में, गिरिगुहंसि - पर्वत की गुफा में, रुक्खमूलंसि - वृक्ष के नीचे, कुंभाराययणंसि - कुम्भारशाला में, हुरत्था - गांव के बाहर अन्यत्र, विहरमाणं - विहार करते हुए, उवसंकमित्तु - समीप आकर, समारब्भ - समारम्भ करके, समुद्दिस्स - आपके उद्देश्य से, कीयं - क्रीत - खरीद कर, पामिच्चं - प्रामित्य-उधार लेकर, अच्छेज्जं - आच्छिद्य - किसी से छीन कर, अणिसट्ठं - अनिसृष्ट - दूसरों की वस्तु को उसकी बिना अनुमति से लेकर, अभिहडं - अभिहत - सामने लाया हुआ, चेएमि - देता हूँ, आवसहं - आवसथ - उपाश्रय, मकान, समुस्सिणामि - बनवा देता हूँ, जीर्णोद्धार करवा देता हूँ, भुंजह - भोगो, वसह - रहो।

भावार्थ - सावद्य कार्यों से निवृत्त वह भिक्षु किसी कार्यवश कहीं जा रहा हो, श्मशान में, शून्य घर में, पर्वत की गुफा में, वृक्ष के नीचे, कुम्भारशाला में अथवा गांव के बाहर अन्यत्र कहीं खड़ा हो, बैठा हो, लेटा हुआ हो अथवा कहीं भी विहार कर रहा हो उस समय कोई गाथापति उस भिक्षु से आकर कहे - 'हे आयुष्मन् श्रमण! मैं आपके लिए अशन, पानी, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोच्छन, प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों का आरम्भ करके आपके उद्देश्य से बनवा देता हूँ अथवा आपके लिए खरीद कर, उधार लेकर, किसी से छीन कर, दूसरे की वस्तु को उसकी स्वीकृति के बिना लाकर या आपके सामने अन्यत्र से



लाकर आपको देता हूँ। अथवा आपके लिए मकान, उपाश्रय बनवा देता हूँ अथवा मकान आदि का जीर्णोद्धार करवा देता हूँ। अतः हे आयुष्मन् श्रमण! आप उस अशनादि का उपभोग करें और उस मकान (उपाश्रय) में रहें।'

(४०७)

आउसंतो समणा! भिक्खू तं गाहावडं समणसं सवयसं पडियाइक्खे आउसंतो गाहावडं! णो खलु ते वयणं आढामि, णो खलु ते वयणं परिजाणामि, जो तुमं मम अट्टाए असणं वा ४ वत्थं वा ४ पाणाइं वा, ४ जाव समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं, अच्छिज्जं, अणिसट्ठं, अभिहडं आहट्टु चेएसि, आवसहं वा समुस्सिणासि, से विरओ आउसो! गाहावडं! एयस्स अकरणयाए।

कठिन शब्दार्थ - समणसं - सुमनस् - भद्र हृदय वाले, सवयसं - सुवयस - भद्र वचन वाले, पडियाइक्खे - इस प्रकार कहे, आढामि - आदर देता हूँ, परिजाणामि - स्वीकार करता हूँ, अकरणयाए - अकरणीय होने से।

भावार्थ - साधु उस भद्र मन वाले और भद्र वचन वाले गाथापति को इस प्रकार कहे कि हे आयुष्मन् गाथापति! मैं तुम्हारे इन वचनों का आदर नहीं करता हूँ और इन वचनों को स्वीकार भी नहीं करता हूँ कि जो तुम प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों का समारंभ करके मेरे लिए अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोच्छन बनाते हो अथवा मेरे उद्देश्य से खरीद कर, उधार लेकर, दूसरों से छीन कर, दूसरे की वस्तु को उसकी स्वीकृति के बिना लाकर अथवा मेरे सामने अन्यत्र से लाकर मुझे देना चाहते हो अथवा मकान-उपाश्रय बनवाना चाहते हो, जीर्णोद्धार कराना चाहते हो। हे आयुष्मन् गृहस्थ (गाथापति)! मैं इन सावद्य कार्यों से विरत हो चुका हूँ, ये सब मेरे लिए अकरणीय होने से मुझे ग्राह्य नहीं है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में साधु के लिए अनाचरणीय और अकल्पनीय का त्याग करने की विधि बताई है। साधु तीन करण तीन योग से सर्व सावद्य कार्यों से निवृत्त हो चुका है। अतः कोई भावुक गृहस्थ साधु के निमित्त से या साधु को उद्देश्य कर प्राण, भूत, जीव, सत्त्व आदि का आरंभ करके आहारादि बनाता है या उपाश्रय आदि का निर्माण करवाता है तो साधु उस भावुक हृदयी भक्त को प्रेम से, शांति से उस अकल्पनीय आहारादि न देने के लिए समझा दे



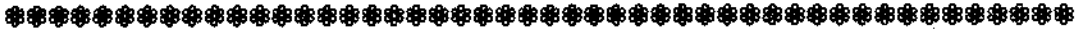
साथ ही उसे साधु की कल्प मर्यादाओं से अवगत करा कर दोष युक्त आहारादि को ग्रहण न करे और उस उपाश्रय आदि में न रहे।

(४०८)

से भिक्खू परक्कमेज्ज वा जाव हुरत्था वा कहिं चि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई आयगयाए पेहाए असणं वा ४ वत्थं वा ४ पाणाइं ४ जाव आहट्टु चेएइ आवसहं वा समुस्सिणाइं तं भिक्खुं परिघासिउं, तं च भिक्खू जाणेज्जा सह सम्मइयाए परवागरणेणं अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा “अयं खलु गाहावई! मम अट्टाए असणं वा ४ वत्थं वा ४ पाणाइं वा ४ समारब्भ जाव चेएइ आवसहं वा समुस्सिणाइं तं च भिक्खू संपडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्जा अणासेवणाए त्ति वेमि।

कठिन शब्दार्थ - आयगयाए पेहाए - अपने मन की इच्छा से मैं अवश्य दूंगा, इस अभिप्राय से, परिघासिउं - आहार लाने के लिये गया हुआ, सहसम्मइयाए - अपनी सदबुद्धि से, परवागरणेणं - दूसरों के उपदेश से अथवा तीर्थकरों की वाणी से, आगमित्ता - अच्छी तरह जान कर, आणवेज्जा - आज्ञा दे, कहे, अणासेवणाए - सेवन करने योग्य नहीं।

भावार्थ - वह साधु कहीं जा रहा हो अथवा श्मशान आदि में स्थित हो यावत् अन्यत्र कहीं विहार कर रहा हो उस समय उस साधु के पास आकर कोई गाथापति अपने मनोगत भावों को प्रकट किए बिना “मैं साधु को अवश्य ही दान दूंगा” इस अभिप्राय से प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों का आरंभ करके अशनादि तैयार करता है अथवा साधु के उद्देश्य से खरीद आदि कर यावत् सामने लाकर देना चाहता है मकान बनवाता है या जीर्णोद्धार करवाता है तो साधु के लिए किये गये उस समारंभ को अपनी स्व बुद्धि से या दूसरों के उपदेश से अथवा तीर्थकर के वचनों से अथवा दूसरों से सुन कर यह जान लेवे कि इस गाथापति ने मेरे लिए प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों का समारंभ करके अशनादि तथा वस्त्र पात्रादि बनवाये हैं यावत् मकान का जीर्णोद्धार करवाया है तो साधु उसकी सम्यक् पर्यालोचना करके, आगम में कथित आदेश से या पूरी तरह जान कर उस गाथापति को स्पष्ट कह दे कि ये सब पदार्थ मेरे लिए सेवन करने योग्य नहीं हैं इसलिये मैं इन्हें स्वीकार नहीं करता हूँ। इस प्रकार मैं कहता हूँ।



(४०६)

भिक्षुं च खलु पुट्टा वा अपुट्टा वा जे इमे आहच्च गंथा फुसंति से हंता!
 “हणह खणह छिंदह दहइ पयह आलुंपह विलुंपह सहसाकारेह विप्परामुसह”
 ते फासे धीरो पुट्टो अहियासए अदुवा आयागोयरमाइक्खे तक्कियाणमणेलिसं
 अदुवा वइगुत्तिए गोयरस्स अणुपुव्वेण सम्मं पडिलेहाए आयगुत्ते बुद्धेहिं एयं पवेइयं।

कठिन शब्दार्थ - पुट्टा - पूछ कर, अपुट्टा - बिना पूछे ही, गंथा - धन खर्च करके,
 हणह - मारो, खणह - पीड़ित करो, छिंदह - छेदन करो, दहह - जलाओ, पयह -
 पकाओ, आलुंपह-लूट लो, विलुंपह - सर्वस्व हर लो, सहसाकारेह - शीघ्र घात कर डालो,
 विप्परामुसह- विविध प्रकार से पीड़ित करो, आइक्खे - कथन करे, तक्कियां - उहापोह-
 योग्यता का विचार करके, अणेलिसं - अनुपम वचन कहे, गोयरस्स - आचार गोचर-
 पिण्डविशुद्धि की, पडिलेहए - प्रतिलेखन करके, आयगुत्ते - आत्मगुप्त।

भाषार्थ - कोई गृहस्थ साधु से पूछकर या बिना पूछे ही बहुत धन खर्च करके आहारादि
 पदार्थ तैयार करके साधु को देना चाहे और साधु इस बात को जान कर उस अशनादि को लेने
 से इंकार कर देता है तो वह संपन्न गृहस्थ क्रोधावेश में आकर स्वयं उस भिक्षु को मारता है
 अथवा दूसरों से कहता है कि व्यर्थ ही मेरा धन व्यय कराने वाले इस साधु को डंडे आदि से
 पीटो, घायल कर दो, इसके हाथ पैर आदि अंगों को काटो, इसे जलाओ, इसके मांस आदि
 को पकाओ, इसके वस्त्र आदि लूट लो, इसका सर्वस्व हर लो, जल्दी ही इसे मार डालो
 अथवा इसे नाना प्रकार से पीड़ित करो। उन सब दुःख रूप स्पर्शों (परीषहों) को धीर मुनि
 समभाव पूर्वक सहन करे। अथवा वह आत्मगुप्त मुनि अपने आचार गोचर (पिण्ड विशुद्धि आदि
 आचार) का क्रमशः सम्यक् प्रतिलेखन (प्रेक्षा) करके, उस पुरुष की योग्यता का विचार करके
 यदि वह मध्यस्थ एवं प्रकृति भद्र लगे तो मुनियों के आचार गोचर का कथन करे, उसे
 साध्वाचार का स्वरूप समझाए। यदि वह व्यक्ति दुराग्रही, प्रतिकूल हो अथवा स्वयं में उसे
 समझाने की शक्ति न हो तो वचन गुप्त (मौन) रहे। यह बुद्धों (तत्त्वज्ञ पुरुषों - तीर्थंकरों) ने
 फरमाया है।

विवेचन - कितनेक भद्र लोग साधु के आचार की अनभिज्ञता के कारण साधु के निमित्त
 अशनादि तैयार कराते हैं किंतु साधु को जब इस बात का पता लग जाता है तो वह उस

अशनादि को ग्रहण नहीं करता है तब वे लोग कुपित हो जाते हैं और साधु को नाना प्रकार से यातनाएं - कष्ट देते हैं। उस समय साधु को चाहिये कि उन कष्टों को धैर्य व समभाव से सहन करे किंतु अपने संयम में किसी प्रकार का दोष नहीं लगावे। यदि अवसर हो तो साधु उन गृहस्थों को समयानुसार उपदेश देवे अन्यथा मौन रह कर परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करे। ऐसा मुनि शीघ्र ही संसार सागर से तिर जाता है। ऐसा श्री तीर्थंकर भगवंतों ने फरमाया है।

(४१०)

से समणुण्णे असमणुण्णस्स असणं वा ४ वत्थं वा ४ णो पाएज्जा णो णिमंतेज्जा णो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति बेमि।

भावार्थ - वह समनोज्ञ (तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा का पालन करने वाला) साधु असमनोज्ञ यानी कुशील आदि को अशन पान आदि यावत् वस्त्र पात्र आदि अत्यंत आदरपूर्वक न दे, न उन्हें देने के लिए निमंत्रित करे और न ही उनकी वैयावृत्य (सेवा) करे - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में असमनोज्ञ को समनोज्ञ साधु द्वारा आहारादि देने, उनके लिए निमंत्रित करने और उनकी सेवा करने का निषेध किया गया है।

(४११)

धम्ममायाणह पवेइयं माहणेण मइमया समणुण्णे समणुण्णस्स असणं वा ४ वत्थं वा ४ पाएज्जा णिमंतेज्जा कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति बेमि।

॥ अट्ठं अज्झयणं बीओहेसो समत्तो ॥

भावार्थ - केवलज्ञानी महामाहन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने यह धर्म फरमाया है, इसे तुम जानो - समझो। समनोज्ञ साधु समनोज्ञ साधु को अत्यंत आदरपूर्वक अशन यावत् वस्त्र पात्र आदि दे, उन्हें देने के लिये निमंत्रित करे, उनकी वैयावृत्य करे। - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - तीर्थंकर प्रभु ने फरमाया है कि शुद्ध संयम का पालन करने वाला साधु दूसरे अपने सांभोगिक साधु को आहारादि देवे, उनकी सेवा करे। सूत्र क्रं. ४१० में निषेध किया है तो सूत्र क्रं. ४११ में समनोज्ञ साधुओं को समनोज्ञ साधुओं द्वारा उपर्युक्त वस्तुएं देने का विधान किया गया है।

॥ इति आठवें अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥



अहं अज्झयणं तइओ उद्देशो

आठवें अध्ययन का तृतीय उद्देशक

दूसरे उद्देशक में अकल्पनीय आहार आदि को ग्रहण करने का निषेध किया गया है। उस अकल्पनीय आहार आदि को देने वाले दाता के प्रति शुद्ध दान देने की शिक्षा देकर उसके संशय को दूर करना गीतार्थ साधु का कर्तव्य है। यह इस तीसरे उद्देशक में बताया जाता है। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

मध्यम अवस्था

(४१२)

मज्झिमेणं वयसावि एगे संबुज्झमाणा समुट्ठिया।

कठिन शब्दार्थ - मज्झिमेणं - मध्यम, वयसावि - वय - अवस्था में भी, संबुज्झमाणा - बोध को प्राप्त कर, समुट्ठिया - उद्यत होते हैं।

भावार्थ - कुछ व्यक्ति मध्यम अवस्था में भी बोध प्राप्त करके धर्माचरण करने के लिए (मुनिधर्म में दीक्षित होने के लिए) उद्यत होते हैं।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में मुनिधर्म के आचरण के लिए मध्यम वय का उल्लेख किया गया है। क्योंकि इस वय में बुद्धि परिपक्व हो जाती है, भुक्त भोगी मनुष्य का भोग संबंधी आकर्षण कम हो जाता है अतः उसका वैराग्य रंग पक्का हो जाता है। साथ ही वह स्वस्थ एवं सशक्त होने के कारण परीषहों और उपसर्गों का सहन, संयम के कष्ट, तपस्या की कठोरता आदि धर्मों का पालन भी सुखपूर्वक कर सकता है। उसका शास्त्रीय ज्ञान भी अनुभव से समृद्ध हो जाता है। अतः मुनि-दीक्षा के लिए मध्यम अवस्था सर्वमान्य मानी जाती है। इसका आशय यह नहीं समझना कि बाल्यावस्था और वृद्धावस्था में दीक्षा अंगीकार नहीं की जा सकती है। दीक्षा तो तीनों अवस्थाओं में ली जा सकती है किंतु बाल्यावस्था एवं वृद्धावस्था मुनिधर्म के निर्विघ्न पालन के इतनी उपयुक्त नहीं होती जितनी मध्यम अवस्था होती है।

(४१३)

सोच्चा मेहावी वयणं पंडियाणं णिसामित्ता।



भावार्थ - पण्डितों (तीर्थकरों तथा श्रुतज्ञानियों) के वचन सुन कर, उन्हें हृदय में धारण कर मेधावी - मर्यादा में स्थित बुद्धिमान् पुरुष-समभाव को स्वीकार करे।

समभाव में धर्म

(४१४)

समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए।

भावार्थ - आर्य पुरुषों (तीर्थकरों) ने समभाव से धर्म फरमाया है अथवा तीर्थकरों ने समभाव में धर्म कहा है।

विवेचन - मुमुक्षु पुरुष तीर्थकर के वचनों को सुन कर तथा निश्चय करके समता को स्वीकार करे क्योंकि तीर्थकर भगवान् ने समभाव से ही श्रुत चारित्र रूप धर्म का कथन किया है।

(४१५)

ते अणवकंखमाणा अणइवाएमाणा अपरिग्गहेमाणा णो परिग्गहावंति सव्वावंति च णं लोगंसि। णिहाय दंडं पाणेहिं पावं कम्मं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे वियाहिए, ओए जुइमस्स खेयण्णे उववायं चवणं च णच्चा।

कठिन शब्दार्थ - अणवकंखमाणा - कामभोग की इच्छा न करते हुए, अणइवाएमाणा - प्राणियों का अतिपात न करते हुए, अपरिग्गहेमाणा - परिग्रह का सेवन न करते हुए, णो परिग्गहावंति - अपरिग्रहवान् - परिग्रह रहित होते हैं, णिहाय - छोड़ कर, अकुव्वमाणे - न करता हुआ, अगंथे - अग्रन्थ - ग्रन्थ रहित - निर्ग्रन्थ, ओए - ओज - रागद्वेष रहित, जुइमस्स - द्युतिमान्।

भावार्थ - वे कामभोग की इच्छा न करते हुए, प्राणियों के प्राणों का अतिपात न करते हुए और परिग्रह नहीं रखते हुए सम्पूर्ण लोक में अपरिग्रहवान् होते हैं। जो प्राणियों के लिए दण्ड का त्याग कर, पाप कर्म (हिंसादि) नहीं करता है, वह पुरुष ही महान् अग्रन्थ - ग्रन्थ रहित (निर्ग्रन्थ) कहा गया है।

रागद्वेष रहित, संयम पालन या मोक्ष में द्युतिमान्, क्षेत्रज्ञ पुरुष उपपात (जन्म) और च्यवन (मरण) को जान कर शरीर की क्षण भंगुरता का विचार करे, पाप कर्मों से पृथक् रहे।

त्रिवेचन - समभाव से संपन्न, कामभोग की इच्छा न करने वाला और प्राणियों को दण्ड न देने वाला यावत् अठारह पाप का त्यागी पुरुष तीर्थकरों द्वारा बाह्य और आभ्यन्तर ग्रंथि से



रहित - निर्ग्रन्थ कहा गया है। उपपात और च्यवन शब्द प्रायः देवों के संबंध में प्रयुक्त होते हैं। इसका आशय यह समझना चाहिये कि दिव्य शरीरधारी देवों का शरीर भी जब जन्म मरण के कारण नाशवान् है तो फिर औदारिक शरीरधारी मनुष्य और तिर्यंचों के नाशवान् शरीर का तो कहना ही क्या? इस प्रकार शरीर की नश्वरता का चिंतन करते हुए साधक संसार की, आहार आदि की आसक्ति एवं पाप कर्मों का त्याग करे।

आहार करने का कारण

(४१६)

आहारोवचया देहा, परिसह पभंगुरा। पासहेगे सव्विंदिएहिं परिगिलाय-
माणेहिं।

कठिन शब्दार्थ - आहारोवचया - आहार से उपचित, परीसह पभंगुरा - परीषह से भंग को प्राप्त, सव्विंदिएहिं - सब इन्द्रियों से, परिगिलायमाणेहिं - ग्लानि को प्राप्त।

भावार्थ - शरीर, आहार से उपचित (संपुष्ट) होता है और परीषह से भग्न हो जाता है किंतु तुम देखो कितनेक साधक परीषह आने पर (क्षुधा से पीड़ित होने पर) सभी इन्द्रियों से ग्लानि को प्राप्त होते हैं अर्थात् उनकी इन्द्रियों की शक्ति शिथिल हो जाती है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में आहार करने का कारण स्पष्ट किया गया है। आहार से शरीर की वृद्धि (पुष्टि) होती है और आहार के अभाव में शरीर म्लान हो जाता है। क्षुधा से पीड़ित होने पर आंखों के आगे अंधेरा छा जाता है। कानों से सुनना और नाक से सूंघना भी कम हो जाता है। इस प्रकार परीषह आने पर देह टूट जाता है, इन्द्रियाँ मुर्झा जाती हैं। आहार से शरीर पुष्ट होता है। शरीर को पुष्ट और सशक्त रखने का उद्देश्य है - संयम पालन और परीषह सहन। साधक को क्यों आहार करना चाहिये और क्यों छोड़ना चाहिये, इसके लिये उत्तराध्ययन सूत्र अ० २६ गाथा ३३ एवं ३५ में छह-छह कारण बताये हैं जो क्रमशः इस प्रकार हैं -

साधक निम्न छह कारणों से आहार करे -

वेयण वेयावञ्चे इरियद्वाए य संजमद्वाए।

तह पाण वत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए॥ ३३॥

१. क्षुधा वेदनीय को शांत करने के लिए



२. साधुओं की सेवा करने के लिए
३. ईर्यासमिति के पालन के लिए
४. संयम पालन के लिए
५. प्राणों की रक्षा के लिए
६. स्वाध्याय, धर्मध्यान आदि करने के लिए।

इन छह कारणों के अलावा केवल शरीर को पुष्ट करने, बल वीर्यादि बढ़ाने के लिए आहार करना अकारण दोष है।

निम्न छह कारणों में से किसी कारण के उपस्थित होने पर साधक को आहार त्याग कर देना चाहिये-

आयंके उवसग्णे तित्तिक्खया बंभघेरगुत्तीसु।

पाणिदया तवहेउं सरीरं वोच्छेयणद्वाए॥ ३५॥

१. रोगादि आतंक होने पर।
२. उपसर्ग आने पर, परीषहादि की तितिक्षा के लिए।
३. ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए।
४. प्राणिदया के लिए।
५. तप के लिए।
६. शरीर त्याग के लिए।

आशय यह है कि जीव अनादि काल से कर्मों से बंधा हुआ है। उन कर्मों से छुटकारा पाने के लिए शरीर को आहार देना आवश्यक है। उपर्युक्त कारणों में यह स्पष्ट कर दिया गया है।

(४१७)

ओए दयं दयइ ।

भावार्थ - क्षुधा पिपासादि परीषहों से प्रताडित होने पर भी रागद्वेष रहित साधु प्राणिदया का पालन करता है।

(४१८)

जे संणिहाणसत्थस्स खेयण्णे से भिक्खु कालण्णे बलण्णे मायण्णे खणण्णे



विणयण्णे समयण्णे परिगहं अममायमाणे कालेणुट्ठाइ अपडिण्णे दुहओ छेत्ता णियाइ ।

कठिन शब्दार्थ - संणिहाणसत्थस्स - सन्निधान शास्त्र - कर्म के स्वरूप का निरूपक शास्त्र का अथवा सन्निधान शास्त्र - कर्म का विघातक संयम रूपी शास्त्र का, कालेणुट्ठाइ - कालेनोत्थायी - काल से उठने वाला, समय पर कार्य करने वाला, अपडिण्णे - प्रतिज्ञा रहित, छेत्ता - छेदन करके, णियाइ - निश्चित रूप से संयमानुष्ठान में संलग्न रहता है अर्थात् संयम में निश्चित होकर जीवन यापन करता है।

भावार्थ - जो साधु सन्निधान शास्त्र अथवा सन्निधान शास्त्र का ज्ञाता (मर्मज्ञ) है वह दोष युक्त आहार ग्रहण नहीं करता है। वह कालज्ञ-अवसर को जानने वाला, बलज्ञ - बल को जानने वाला, मात्रज्ञ - मात्रा (परिमाण) को जानने वाला, क्षणज्ञ - क्षण को जानने वाला, विनयज्ञ - विनय का जानकार, समयज्ञ - स्व-पर सिद्धान्त का ज्ञाता होता है। वह परिग्रह पर ममत्व न करने वाला, उचित समय पर कार्य करने वाला, किसी प्रकार की मिथ्या आग्रह युक्त प्रतिज्ञा या निदान से रहित, राग और द्वेष के बंधनों को छेदन करके निश्चित होकर नियमित रूप से संयमी जीवन यापन करता है।

अग्निकाय का सेवन अनाचरणीय

(४१६)

तं भिक्खुं सीयफासपरिवेवमाणगायं उवसंकमित्तु गाहावई बूया, “आउसंतो समणा! णो खलु ते गामधम्मा उब्बाहंति आउसंतो गाहावई! णो खलु मम गामधम्मा उब्बाहंति सीयफासं च णो खलु अहं संचाएमि अहियासित्तए। णो खलु मे कप्पइ अगणिकायं उज्जालेत्तए पज्जालेत्तए वा कायं आयावेत्तए वा पयावेत्तए वा, अण्णोसिं वा वयणाओ।

कठिन शब्दार्थ - सीयफासपरिवेवमाणगायं - शीत के स्पर्श से कांपते हुए शरीर वाले, गामधम्मा - ग्रामधर्म (इन्द्रिय विषय), उब्बाहंति - पीड़ित कर रहे हैं, उज्जालित्तए - उज्ज्वलित करना - किंचित् जलाना, पज्जालित्तए - प्रज्वलित करना - विशेष रूप से जलाना।

आयावित्ताए - किंचित् ताप देना - तपाना, पयावेत्ताए - विशेष रूप से तपाना, वयणाओ - वचन से।

भावार्थ - शीत स्पर्श से (ठण्ड के मारे) कांपते हुए शरीर वाले उस साधु के पास आकर कोई गाथापति कहे - हे आयुष्मन् श्रमण! क्या आपको ग्रामधर्म - इन्द्रिय विषय तो पीड़ित नहीं कर रहे हैं तो साधु उत्तर देवे कि हे आयुष्मन् गाथापति! मुझे ग्रामधर्म पीड़ित नहीं कर रहे हैं किंतु मैं शीत स्पर्श को सहन करने में समर्थ नहीं हूँ। अग्निकाय को उज्ज्वलित या प्रज्वलित करना, उससे शरीर को थोड़ा या विशेष तपाना तथा दूसरों से कह कर ऐसा करवाना मुझे नहीं कल्पता है यानी मेरे लिए अकल्पनीय है।

(४२०)

सिया से एवं वयंतस्स परो अगणिकायं उज्जालेत्ता पज्जालेत्ता कायं आयावेज्जा वा पयावेज्जा वा, तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमेत्ता आणविज्जा, अणासेवणाए त्ति वेमि।

॥अट्ठं अज्झयणं तइओद्देसो समत्तो॥

कठिन शब्दार्थ - वयंतस्स - बोलने पर, परो - पर-अन्य पुरुष (गृहस्थ), अगणिकायं- अग्निकाय को।

भावार्थ - कदाचित् वह गृहस्थ उपर्युक्त प्रकार से कहते हुए उस साधु के लिए अग्निकाय को उज्ज्वलित-प्रज्वलित करके साधु के शरीर को थोड़ा तपाए या विशेष रूप से तपाए तो साधु अग्निकाय का अपनी बुद्धि से विचार कर, आगम के द्वारा भलीभांति जान कर उस गृहस्थ से कहे कि इस प्रकार अग्निकाय का सेवन करना मुझे नहीं कल्पता है, अग्नि का सेवन मेरे लिए असेवनीय है। - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्रों में किसी भावुक गृहस्थ की शंका का सम्यक् समाधान करते हुए स्पष्ट किया गया है कि तीन करण तीन योग से सावद्य पापों के त्यागी साधु के लिए अग्निकाय का सेवन अनाचरणीय है।

॥ इति आठवें अध्ययन का तीसरा उद्देशक समाप्त ॥



अहं अज्झयणं चउत्थोद्देशो

आठवें अध्ययन का चौथा उद्देशक

आठवें अध्ययन के तीसरे उद्देशक में परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करने का उपदेश दिया गया है। अब इस चौथे उद्देशक में साधु के लिए वस्त्र पात्र की मर्यादा का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि अनुकूल या प्रतिकूल कैसे भी परीषहों के उपस्थित होने पर साधु हंसते हुए प्राण त्याग कर दे किंतु संयम का त्याग नहीं करे। इस उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार है-

उपधि की मर्यादा

(४२१)

जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायचउत्थेहिं तस्स णं णो एवं भवइ
“चउत्थं वत्थं जाइस्सामि” से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा, अहापरिग्गहियाइं
वत्थाइं धारेज्जा, णो धोएज्जा णो रएज्जा णो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा,
अपलिउंचमाणे, गामंतरेसु, ओमचेलिए, एयं खु वत्थधारिस्स सामगियं।

कठिन शब्दार्थ - तिहिं वत्थेहिं - तीन वस्त्रों से, पायचउत्थेहिं - चौथे पात्र से, परिवुसिए- युक्त, मर्यादा में स्थित, जाइस्सामि - याचना करूंगा, अहेसणिज्जाइं - यथा एषणीय - एषणा (मर्यादा) के अनुसार, जाइज्जा - याचना करे, अहापरिग्गहियाइं - यथापरिगृहीत - जैसा वस्त्र ग्रहण किया है, धारिज्जा - धारण करे, धोइज्जा - धोए, रइज्जा - रंगे, धोयरत्ताइं- धोए हुए तथा रंगे हुए, गामंतरेसु - अन्य ग्रामों में जाते समय, अपलिउंचमाणे- नहीं छिपाते हुए, ओमचेलिए - अवमचेलक - परिमाण एवं मूल्य की अपेक्षा स्वल्प वस्त्र रखने वाला, सामगियं- सामग्री।

भावार्थ - जो साधु तीन वस्त्र और चौथा एक जाति का पात्र रखने की मर्यादा में स्थित है उसको ऐसा विचार नहीं होता कि “मैं चौथे वस्त्र की याचना करूंगा।” वह यथाएषणीय वस्त्रों की याचना करे और यथापरिगृहीत वस्त्रों को धारण करे। वह उन वस्त्रों को न तो धोए और न रंगे, न धोए-रंगे हुए वस्त्रों को धारण करे। अन्य गांवों में जाते समय वह उन वस्त्रों को



न छिपाए। वह अभिग्रहधारी मुनि अवमचेलक - परिणाम और मूल्य की दृष्टि से स्वल्प और अतिसाधारण वस्त्र रखे। वस्त्रधारी मुनि की यही सामग्री है।

विवेचन - प्रस्तुत दोनों सूत्रों में वस्त्र पात्रादि रूप बाह्य उपधि और रागद्वेष, मोह एवं आसक्ति आदि आभ्यन्तर उपधि के त्याग का निर्देश किया गया है। जिस साधु ने तीन वस्त्र और एक जाति का पात्र उपरांत उपधि रखने का त्याग किया है वह मुनि शीतादि का परीषह उपस्थित होने पर भी चौथे वस्त्र को स्वीकार करने की इच्छा नहीं करे। यहाँ पर एक पात्र का आशय संख्या की दृष्टि से नहीं समझ कर तीन जाति के पात्रों में से किसी भी एक जाति के पात्र को रखना समझना चाहिये। संख्या की दृष्टि से यदि एक पात्र रखा जावे तो उसमें लेप शुद्धि नहीं होने से रखना उचित नहीं लगता है।

प्रस्तुत सूत्र का आशय यही है कि साधु अपनी उपकरण आवश्यकता को कम करता जाय और उपधि संयम को बढ़ाता रहे, उपधि की अल्पता लाघव-धर्म की साधना है। यदि साधु आवश्यक उपधि से अतिरिक्त उपधि का संग्रह करेगा तो उसके मन में ममत्व भाव जायेगा, उसका अधिकांश समय उसे संभालने, धोने, सीने आदि में ही लग जायेगा तो स्वाध्याय ध्यान आदि कब करेगा?

प्रस्तुत सूत्र से यह भी स्पष्ट है कि साधु जिस रूप में एषणीय-कल्पनीय वस्त्र मिलें उन्हें वह उसी रूप में धारण करे किंतु उनको धोवे नहीं और रंगे नहीं। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार गृहस्थ कोरपाण कपडा (लड्डा आदि) को वैसा ही नहीं पहनता है किंतु उस कपडे की पाण (मांड आदि) को धोकर निकाल देता है और फिर पहनता है। मुनि ऐसा न करे किंतु जैसा कपडा लाया है। वैसा ही पहन ले। पहनते पहनते जब वह अधिक मैला हो जाय और पसीने के कारण लीलण फूलन आदि आ जाने की शंका हो, अधिक करडा पड़ गया हो तो मुनि कल्पनीय धोवन आदि के द्वारा उसको धो सकता है। धोने के लिये गृहस्थी का बरतन (कुण्डा, परात, मिट्टी का ढीबरा आदि) को काम में नहीं लेना चाहिये क्योंकि इससे पूर्वकर्म और पश्चात् कर्म आदि दोष लगने की संभावना है। दशवैकालिक सूत्र छठे अध्ययन की ५१, ५२, ५३ गाथा में गृहस्थी का बरतन काम में लेने का निषेध किया गया है। इसलिए वस्त्रादि धोने के लिए मुनि को अपना ही पात्र काम में लेना चाहिये। साबुन, सोडा आदि से वस्त्र धोने का निषेध तो दशवैकालिक आदि सूत्रों में किया गया है। अतः साधु साध्वी को साबुन, सोडा आदि काम में नहीं लेना चाहिये क्योंकि यह विभूषा का कारण बनता है। इसका विशेष वर्णन



सूयगडांग सूत्र के ७ वें अध्ययन की गाथा २१ का उद्धरण देकर अभिधान राजेन्द्र कोष भाग ७ पृष्ठ ११४६ 'सेयंवर' शब्द में दिया है। वहां स्पष्ट लिखा है कि -

“इत्यत्र प्रासुकोदकेनापि क्षार (साबुन) आदिना वस्त्रधावने साधुनां कुशीलित्वं टीकाकारेण भणितमिति स्वच्छंदं तदाचरन्तः कुशीलिनः शुद्ध जैनधर्म प्रतिकूला एवेत्यलं बहना”

अर्थात् - साबुन और सोड़ा काम में लेने वाला साधु कुशीलिया है और वह शुद्ध जैन धर्म के प्रतिकूल है।

विभूसावत्तियं भिक्खू कम्मं बंधइ चिक्कणं।

संसार सायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे॥

(दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ६ गाथा ६६)

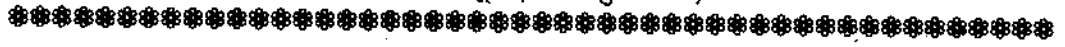
इस सूत्र में वस्त्र रंगने का भी निषेध किया है। इसका यह आशय है कि कपड़े के नील, टिनोपाल आदि किसी प्रकार का रंग न लगावे।

(४२२)

अह पुण एवं जाणेज्जा, उवाइक्कंते खलु हेमंते, गिम्हे पडिवण्णे अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्टवेज्जा अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्टवेत्ता अदुवा संतरुत्तरे, अदुवा ओमचेले, अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे, तवे से अभिसमण्णागए भवइ। जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमेच्चा, सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

कठिन शब्दार्थ - हेमंते - हेमन्त ऋतु, उवाइक्कंते - बीत गई है, गिम्हे - ग्रीष्म ऋतु, पडिवण्णे - आ गई है, अहापरिजुण्णाइं - यथापरिजीर्ण, परिट्टवेज्जा - परित्याग कर देवे, संतरुत्तरे - पहने या पास में रखे, एगसाडे - एक ही वस्त्र रखे, अचेले - अचेलक - वस्त्र रहित, लाघवियं - लाघवता को, आगममाणे - वस्त्र त्याग करे, अभिसमण्णागए - अभिसमन्वागत - सम्मुख होता है, सव्वत्ताए - सर्वआत्मतया, सम्मत्तमेव - सम्यक्त्व या समभाव को, समभिजाणिया - सम्यक् प्रकार से जाने, सेवन करे।

भावार्थ - जब साधु यह जान ले कि हेमन्त ऋतु बीत गयी है और ग्रीष्म ऋतु आ गयी



है तब वह जिन जिन वस्त्रों को जीर्ण समझे उन्हें त्याग देवें। जीर्ण वस्त्रों का परित्याग करके एक अन्तर वस्त्र और एक उत्तर वस्त्र साथ में रखे अथवा उन वस्त्रों को कभी ओढ़े और कभी बगल में रखे अथवा एक वस्त्र को त्याग दे अथवा उसका भी परित्याग कर एकशाटक - एक ही वस्त्र रखे अथवा रजोहरण और मुखवस्त्रिका के सिवाय उस वस्त्र का भी त्याग कर अचेलक - निर्वस्त्र हो जाए। इस प्रकार लाघवता का चिंतन करता हुआ वस्त्र का त्याग (वस्त्र विमोक्ष) करे। वस्त्र परित्याग से साधु को तप की प्राप्ति होती है यानी उस मुनि को सहज ही उपकरण ऊनोदरी और कायक्लेश तप हो जाता है।

तीर्थकर भगवान् ने जिस प्रकार उपधि त्याग का प्रतिपादन किया है उसे उसी रूप में गहराई से जानकर सब प्रकार से सर्वात्मना सम्यक्त्व या समभाव को सम्यक्तया जाने और उसका आचरण करे।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में बताया है कि साधु अपने शरीर को जितना कस सके, उतना कसे, जितना कम से कम वस्त्र से रह सकता है, रहने का अभ्यास करे। इसीलिये कहा है कि ग्रीष्म ऋतु आने पर साधु तीन वस्त्रों में से एक जीर्ण वस्त्र का त्याग कर दे, शेष दो वस्त्रों में से भी त्याग कर सके तो एक वस्त्र का त्याग कर मात्र एक वस्त्र में रहे और यदि इसका भी त्याग कर सके तो अचेलक-वस्त्र रहित हो कर रहे। इस प्रकार लाघवता को अपनाने से मुनि को तप लाभ तो होता ही है साथ ही वस्त्र संबंधी सभी चिंताओं से मुक्त हो जाने के कारण प्रतिलेखन आदि से बचे हुए समय का स्वाध्याय, ध्यान आदि में सदुपयोग हो जाता है। इसीलिये आत्म-विकास की दृष्टि से आगमों में अचेलकत्व को प्रशस्त बताया है।

स्थानांग सूत्र स्थान ५ उद्देशक ३ में अचेलकत्व - अल्प वस्त्र रखने के ५ लाभ बताये हैं। यथा -

१. उसकी प्रतिलेखना अल्प होती है।
२. उसका लाघव प्रशस्त होता है।
३. उसका वेश विश्वसनीय होता है।
४. उसका तप जिनेन्द्र द्वारा अनुज्ञात होता है।
५. उसे विपुल इन्द्रिय-निग्रह होता है।

इस प्रकार तीर्थकर भगवान् द्वारा प्ररूपित सचेलक और अचेलक के स्वरूप को भलीभांति



जान कर साधु दोनों ही अवस्था में समान भाव रखे और समभावों से परीषह सहते हुए कर्मों से अनावृत्त होने का प्रयत्न करता रहे।

आपवादिक पंडित मरण

(४२३)

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ पुट्ठो खलु अहमंसि, णालमहमंसि सीय फासं अहियासित्तए, से वसुमं सब्बसमण्णागयपण्णाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणयाए आउट्टे, तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमाइए तत्थावि तस्स कालपरियाए, से वि तत्थ विअंतिकारए इच्चेयं विमोहाययणं हियं सुहं खमं णिस्सेसं आणुगामियं त्ति बेमि।

॥ अट्ठं अज्झयणं चउत्थोहेसो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - अहं पुट्ठो अंसि - मैं शीतादि परीषहों से स्पर्शित (दुःखों से आक्रान्त) हो गया हूँ, वसुमं - संयम रूप धन से धनवान् - चारित्रवान् साधु, सब्बसमण्णागय पण्णाणेणं - सब तरफ से ज्ञान संपन्न होने से, विहं - वैहायस आदि मरण को, आइए - स्वीकार करे, कालपरियाए - काल पर्याय, विअंतिकारए - अंतक्रिया - कर्मों का अंत करने वाला, विमोहाययणं - मोह के दूर करने का स्थान, हियं - हितकारी, सुहं - सुखकारी, खमं - क्षमयुक्त - उचित (यथार्थ), णिस्सेसं - निःश्रेयस - मोक्षप्रदायी, आणुगामियं - आनुगामिक-परलोक में साथ चलने वाला।

भावार्थ - जिस साधु को यह प्रतीत हो कि मैं शीतादि परीषहों या स्त्री आदि के अनुकूल उपसर्गों से आक्रान्त हो गया हूँ और अब मैं इन परीषह-उपसर्गों को सहन करने में समर्थ नहीं हूँ तब संयम धनी वह भिक्षु संपूर्ण ज्ञान से युक्त होने के कारण स्व विवेक से उस स्त्री आदि परीषह उपसर्गों का सेवन न करने के लिए दूर हट जाता है। उस तपस्वी भिक्षु के लिये यही श्रेष्ठ है कि वह ऐसी परिस्थितियों में वैहानस मरण (गले में फांसी लगाना, विषभक्षण करना आदि से मृत्यु) स्वीकार कर ले किंतु चारित्र दूषित न करे। उसके लिए ऐसा मरण भी काल पर्याय मरण है। वह साधु उस मृत्यु से अंतक्रिया करने वाला है। इस प्रकार यह मरण मोह रहित पुरुषों का आश्रय (आयतन), हितकारी, सुखकारी, यथार्थ, निःश्रेयस्कर (मोक्ष प्रदायी) और परलोक में साथ चलने वाला होता है। ऐसा मैं कहता हूँ।



विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में धर्म संकटापन्न आपवादिक स्थिति का कथन किया गया है। साधना के मार्ग में अनेक परीषह उत्पन्न होते हैं, उन पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना साधु का परम कर्त्तव्य है। बाईस परीषहों में स्त्री और सत्कार इन दो परीषहों को शीत परीषह और शेष बीस परीषहों को उष्ण परीषह कहा गया है। प्रस्तुत सूत्र में शीत स्पर्श, स्त्री परीषह या कामभोग अर्थ में ही अधिक संगत प्रतीत होता है। जब साधक इन परीषहों को सहन करने में समर्थ नहीं हो, स्त्री आदि के चंगुल से छूटना दुष्कर लगता हो ऐसी धर्म संकटापन्न आपवादिक परिस्थिति में वह गले में फांसी लगा कर, जीभ खींच कर, मकान से कूद कर, झंपापात करके या विष भक्षण आदि करके वैहानस आदि उपायों में से किसी एक उपाय से अपने प्राण त्याग कर दे किंतु चारित्र को दूषित न करे क्योंकि चारित्र को दूषित करने की अपेक्षा मरण ही श्रेयस्कर है।

शंका - वैहानस आदि मरण तो बाल मरण कहा गया है और वर्तमान युग में तो इसे 'आत्महत्या' कहा जाता है फिर यहां साधक को उसकी आज्ञा क्यों दी गई है?

समाधान - जैन धर्म अनेकांतवादी है। जैन धर्म में (जैनागमों में) आत्महत्या करने का निषेध किया गया है। विष खाकर या फांसी आदि लगा कर मरने वाले को बाल अज्ञानी कहा गया है परंतु विवेक एवं ज्ञान पूर्वक धर्म एवं संयम की सुरक्षा के लिए आत्महत्या करना पाप नहीं, बल्कि धर्म है। वह मृत्यु आत्मा का विकास करने वाली है। यही कारण है कि आगमकार ने इस आपवादिक मरण को प्रशंसनीय बताते हुए संयम को सुरक्षित रखने के लिए ऐसे मरण से मृत्यु को स्वीकार करने की आज्ञा दी है।

॥ इति आठवें अध्ययन का चौथा उद्देशक समाप्त ॥

अष्टं अज्झयणं पंचमोद्देशो

आठवें अध्ययन का पांचवां उद्देशक

चौथे उद्देशक में संयम की रक्षा हेतु वैहानस आदि मरण बताया गया है। अब इस पांचवें उद्देशक में आगमकार भक्तपरिज्ञा रूप पंडित मरण का स्वरूप बताते हैं। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -



द्विवस्त्रधारी साधु का आचार

(४२४)

से भिक्खू दोहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायतइएहिं, तस्स णं णो एवं भवइ तइयं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा, जाव एवं खलु तस्स भिक्खुस्स सामगियं।

भावार्थ - जो साधु दो वस्त्र और तीसरा एक जाति का पात्र रखने की प्रतिज्ञा में स्थित है उसके मन में ऐसा विचार नहीं होता कि "मैं तीसरे वस्त्र की याचना करूंगा।" उस साधु को चाहिये कि वह एषणा (अपनी कल्पमर्यादानुसार) के अनुसार वस्त्रों की याचना करे। निश्चय ही उस वस्त्रधारी साधु की यही सामग्री है।

(४२५)

अह पुण एवं जाणेज्जा, उवाइक्कंते खलु हेमंते, गिम्हे पडिवण्णे, अहा परिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्टवेज्जा वत्थाइं परिट्टवेत्ता अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेले, लाघवियं आगममाणे, तवे से अभिसमण्णागए भवइ, जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमेच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

भावार्थ - जब साधु यह जान ले कि हेमन्त ऋतु बीत गयी है और ग्रीष्म ऋतु आ गयी है तब वह जिन वस्त्रों को जीर्ण समझे उन्हें त्याग देवे। इस प्रकार जीर्ण वस्त्रों का परित्याग करके या तो वह एक शाटक में रहे-एक ही वस्त्र धारण करे अथवा रजोहरण और मुखवस्त्रिका के सिवाय एक वस्त्र का भी त्याग कर अचेलक-निर्वस्त्र हो जाए। इस प्रकार लाघवता का चिंतन करता हुआ वस्त्र त्याग (वस्त्र विमोक्ष) करे।

इस प्रकार अल्प वस्त्र या वस्त्र त्याग से साधु को तप की प्राप्ति होती है यानी उस मुनि को सहज ही उपकरण ऊनोदरी और कायक्लेश तप का लाभ हो जाता है।

तीर्थंकर भगवान् ने जिस प्रकार उपधि त्याग का प्रतिपादन किया है उसे उसी रूप में गहराई से जान कर सब प्रकार से सर्वात्मना सम्यक्त्व या समभाव को जाने और उसका आचरण करे।



दोष युक्त आहार अग्राह्य

(४२६)

जस्सणं भिक्खुस्स एवं भवइ, पुट्ठो अबलो अहमंसि, णालमहमंसि गिहंतर-संकमणं भिक्खायरियं गमणाए, से एवं वयंतस्स परो अभिहडं असणं वा ४ आहट्टु दलएज्जा से पुव्वामेव आलोएज्जा आउसंतो गाहावई! णो खलु मे कप्पइ अभिहडं असणं वा ४ भोत्तए वा, पायए वा, अण्णे वा एयप्पगारे।

कठिन शब्दार्थ - अबलो - निर्बल-दुर्बल, गिहंतरसंकमणं - एक घर से दूसरे घर जाने में, ण अलं - समर्थ नहीं हूं, अभिहडं - अभ्याहत - जीवों के आरंभ से बना कर घर से सामने लाये हुए, दलइज्जा - देने लगे, पुव्वामेव - पहले ही, आलोएज्जा - विचार कर निषेध कर दे, भोत्तए - खाना, पायए - पीना, एयप्पगारे - इसी प्रकार।

भावार्थ - जिस साधु को ऐसा प्रतीत हो कि मैं रोगादि से आक्रान्त होने के कारण दुर्बल हो गया हूं। अतः मैं भिक्षाचरी के लिये एक घर से दूसरे घर जाने में समर्थ नहीं हूं। उसे इस प्रकार कहते हुए सुन कर कोई गाथापति (गृहस्थ) अपने घर से जीवों का आरंभ करके अशन, पान, खादिम और स्वादिम तैयार कर सामने लाकर देने लगे तो वह साधु पहले से ही विचार कर निषेध कर दे कि हे आयुष्मन् गाथापति! मुझे यह सामने लाया हुआ अशन, पान, खादिम, सादिम खाना पीना नहीं कल्पता है। इसी प्रकार दूसरे दोषों से दूषित आहारादि भी मेरे लिए सेवनीय नहीं है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि दुर्बल होने पर भी साधु अभिहत आदि दोष युक्त आहार पानी ग्रहण न करे।

ग्लान-वैयावृत्य

(४२७)

जस्स णं भिक्खुस्स अयं पगप्पे, अहं च खलु पडिण्णत्तो अपडिण्णत्तेहिं गिलाणो अगिलाणेहिं अभिकंख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि।



अहं वावि खलु अपडिण्णत्तो पडिण्णत्तस्स अगिलाणो गिलाणस्स, अभिकंख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए।

कठिन शब्दार्थ - पगप्पे - आचार (प्रकल्प), पडिण्णत्तो - कहने पर, अपडिण्णत्तेहिं- बिना आज्ञा दिये हुए अर्थात् नहीं कहने पर भी, गिलाणो - ग्लान (बीमार), अगिलाणेहिं - ग्लानि रहित, साहम्मिएहिं - साधर्मिक साधुओं के द्वारा, अभिकंख - निर्जरा की इच्छा से, कीरमाणं - की हुई, वेयावडियं - वैयावच्च को, साइज्जिस्सामि - स्वीकार करूंगा, करणाए- करने के लिए।

भावार्थ - जिस साधु का यह आचार-नियम हो कि मैं ग्लान हो जाऊं तो अपनी सेवा के लिये निवेदन नहीं करने पर भी ग्लान रहित साधर्मिक साधुओं के द्वारा निर्जरा के उद्देश्य से की हुई वैयावृत्य को उनके द्वारा निवेदन करने पर मैं रुचिपूर्वक स्वीकार करूंगा। अथवा मैं ग्लानि रहित- अग्लान-स्वस्थ होऊं तब सेवा के लिये निवेदन नहीं किया हुआ होने पर भी निर्जरा के उद्देश्य से परस्पर उपकार करने के लिये मैं ग्लान साधर्मिक साधु की वैयावच्च करूंगा।

(४२८)

आहट्ट परिण्णं अणुक्खिस्सामि, आहडं च साइज्जिस्सामि १ आहट्ट परिण्णं आणक्खेस्सामि, आहडं च णो साइज्जिस्सामि २ आहट्ट परिण्णं, णो आणक्खेस्सामि, आहडं च साइज्जिस्सामि ३ आहट्ट परिण्णं णो आणक्खेस्सामि, आहडं च णो साइज्जिस्सामि ४ एवं से अहाकिट्टियमेव, धम्मं समहिजाणमाणे संते विरए सुसमाहियलेस्से तत्थावि तस्स कालपरियाए, से तत्थ विअंतिकाए, इच्चेयं विमोहाययणं हियं सुहं खमं णिस्सेसं आणुगामियं त्ति बेमि।

॥ अट्टं अज्झयणं पंचमोहेसो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - आहट्ट - ग्रहण करके, परिण्णं - प्रतिज्ञा को, अणुक्खिस्सामि - आहारादि का अन्वेषण करूंगा, आणक्खेस्सामि - अन्वेषण करूंगा, आहार लाऊंगा, साइज्जिस्सामि - भोगूंगा, अहाकिट्टियमेव - अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार, सुसमाहियलेस्से - शुभ लेश्या वाला होकर।

भावार्थ - कोई साधु ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि मैं दूसरे साधर्मिक साधु के लिए आहारादि का अन्वेषण करूंगा और दूसरे साधर्मिक साधु द्वारा लाये हुए आहारादि को स्वीकार करूंगा।

कोई साधु ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि मैं दूसरे साधर्मिक के लिये आहारादि का अन्वेषण करूंगा किंतु दूसरों के द्वारा लाये हुए आहारादि को स्वीकार नहीं करूंगा।

कोई साधु ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि मैं दूसरे साधर्मिक भिक्षु के लिए आहारादि का अन्वेषण नहीं करूंगा किंतु दूसरे साधर्मिक द्वारा लाये हुए आहारादि को स्वीकार करूंगा, भोगूंगा।

कोई साधु ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि मैं दूसरे साधर्मिक साधु के लिये आहारादि का अन्वेषण भी नहीं करूंगा और दूसरे साधर्मिक साधु द्वारा लाये हुए आहारादि को मैं भोगूंगा भी नहीं।

इस प्रकार से वह अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार धर्म का सेवन करता हुआ शांत, विरत और शुभ लेश्याओं से अपनी आत्मा को समाहित करने वाला होता है। प्रतिज्ञा के पालन में असमर्थता होने पर उस साधु के लिए भक्त प्रत्याख्यान आदि के द्वारा शरीर त्याग करना काल पर्याय - काल मृत्यु है। इस समाधि मरण से मरने वाला भिक्षु कर्मों का अंत करता है। यह मोह रहित पुरुषों का आश्रय, हितकारी, सुखकारी, कालोचित, निःश्रेयस्कर (मोक्षप्रदायी) और परलोक में भी साथ चलने वाला होता है। ऐसा मैं कहता हूं।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में परिहार विशुद्धिक या यथालंदिक साधु द्वारा ग्रहण की जाने वाली प्रतिज्ञाओं का वर्णन किया गया है। साधु इन स्वीकृत प्रतिज्ञाओं का भंग न करे, उस पर अटल रहे। प्रतिज्ञा पालन करते हुए मृत्यु निकट दिखाई देने लगे तो भक्त प्रत्याख्यान नामक अनशन करके समाधिमरण को स्वीकार करें किंतु अपनी प्रतिज्ञा न तोड़े।

भक्त प्रत्याख्यान द्वारा समाधि मरण प्राप्त करने वाले साधकों के लिए आगमों में इस प्रकार की विधि बताई है - जघन्य ६ मास, मध्यम ४ वर्ष और उत्कृष्ट १२ वर्ष तक कषाय और शरीर की संलेखना एवं तप करे। इस प्रकार रत्नत्रयी की साधना करते हुए कर्म निर्जरा कर अपने लक्ष्य को प्राप्त करे।

॥ इति आठवें अध्ययन का पांचवां उद्देशक समाप्त ॥

अहं अज्झयणं छट्ठो उद्देशो

आठवें अध्ययन का छठा उद्देशक

पांचवें उद्देशक में भक्त प्रत्याख्यान का कथन किया गया है। अब इस छठे उद्देशक में इंगित मरण का कथन किया जाता है। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

एक वस्त्रधारी साधु का आचार

(४२६)

जे भिक्खू एगेण वत्थेण परिवुसिए पायबिइएण, तस्स णं णो एवं भवइ, “बिइयं वत्थं जाइस्सामि” से अहेसणिज्जं वत्थं जाएजा, अहापरिग्गहियं वा वत्थं धारेजा जाव गिम्हे पडिवण्णे अहा परिजुण्णं वत्थं परिट्टवेजा २ ता अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे, जाव सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ एगो अहमंसि ण मे अत्थि कोइ ण याहमवि कस्स वि, एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिजा लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमण्णागए भवइ जाव समभिजाणिया।

भावार्थ - जो भिक्षु (साधु) एक वस्त्र और दूसरा पात्र रखने की प्रतिज्ञा में स्थित है उसके मन में यह विचार नहीं होता कि मैं दूसरे वस्त्र की याचना करूंगा। वह यथाएषणीय (अपनी मर्यादानुसार) वस्त्र की याचना करे और यथापरिगृहीत - जैसा वस्त्र मिला है उसे धारण करे। यावत् जब वह देखे कि शीत ऋतु चली गई है और ग्रीष्म ऋतु आ गई है तब वह जीर्ण वस्त्रों का त्याग करदे। जीर्ण वस्त्रों का त्याग करके वह या तो एक शाटक-एक वस्त्र वाला होकर रहे अथवा अचेल-वस्त्र रहित होकर अपने आप को लघु बनाता हुआ यावत् सम्यक्त्व या समत्व को भलीभांति जानकर आचरण करे।

जिस साधु के मन में ऐसा विचार होता है कि ‘मैं अकेला हूँ मेरा कोई नहीं है और मैं किसी का नहीं हूँ।’ इस प्रकार वह अपने को एकाकी ही जाने। लाघव - अपने आप के



लघुभूत (हलका) बनाते हुए उसे सहज ही तप की प्राप्ति होती है यावत् सम्यक्त्व या समत्व को भलीभांति जान कर आचरण करे।

विवेचन - मोक्षार्थी साधक ऐसा विचार करे कि "मैं अकेला हूँ। इस अनादि संसार में भ्रमण करता हुआ मैं अनादिकाल से चला आ रहा हूँ। मेरा कोई वास्तविक सहायक नहीं है और मैं भी किसी के दुःख का नाश करने में समर्थ नहीं हूँ। संसार के सभी प्राणी अपने किये हुए कर्मों का फल भोगते हैं।" इसी प्रकार एकत्व भावना का विचार करते हुए साधक को किस फल की प्राप्ति होती है इसके लिये उत्तराध्ययन सूत्र अ० २६ में प्रभु ने फरमाया है -

“सहाय पञ्चक्खाणेणं जीवे एकीभावं जणयइ। एकीभावभूए य ण जीवे अप्पसदे, अप्पइंझे, अप्पकलहे, अप्पकसाए, अप्पतुमंतुमे संजमबहुले संवरबहुले समाहिए यावि भवइ।”

अर्थात् सहाय प्रत्याख्यान से जीवात्मा एकीभाव को प्राप्त करता है। एकीभाव से ओतप्रोत साधक एकत्व भावना करता हुआ बहुत कम बोलता है, उसके झंझट बहुत कम हो जाते हैं कलह भी अल्प हो जाते हैं, कषाय भी कम हो जाते हैं, तू-तू मैं-मैं भी समाप्त प्रायः हो जाती है, उसके जीवन में संयम और संवर प्रचुर मात्रा में आ जाते हैं, वह आत्मसमाहित हो जाता है।

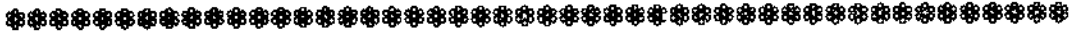
आहार में अस्वादवृत्ति

(४३०)

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं वा ४ आहारेमाणे णो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारेज्जा आसाएमाणे, दाहिणाओ वा हणुयाओ वामं हणुयं णो संचारेज्जा आसाएमाणे से अणासायमाणे लाघवियं आगममाणे, तवे से अभि-समण्णागए भवइ। जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमेच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्पत्तमेव समभिजाणिया।

कठिन शब्दार्थ - वामाओ - बाएं, हणुयाओ - जबड़े (दाढ़) से, दाहिणं - दाहिने, आसाएमाणे - स्वाद लेने के लिए, संचारिज्जा - संचारित करे, अणासायमाणे - स्वाद न लेता हुआ।

भावार्थ - वह साधु या साध्वी अशन, पान, खादिम या स्वादिम का आहार करते समय



स्वाद लेने के लिए आहार को बाएं जबड़े (दाढ) से दाहिने जबड़े में न ले जाए, इसी प्रकार स्वाद लेते हुए दाहिने जबड़े से बाएं जबड़े में न ले जाए। इस प्रकार वह साधु (या साध्वी) स्वाद न लेता हुआ लाघव भाव का चिंतन करते हुए आहार करे। ऐसा करने से उसे ऊणोदरी, वृत्तिसंक्षेप और कायक्लेश तप का सहज ही लाभ होता है। भगवान् ने जिस प्रकार स्वाद त्याग का प्रतिपादन किया है उसे उसी प्रकार सम्यक् रूप से सर्वात्मना जानकर सम्यक्त्व या समत्व को जाने और उसका आचरण करे।

विवेचन - तप संयम की आराधना करने वाला साधक आहार में आसक्ति भाव का स्वाद लोलुपता का त्याग करे। उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३५ गा० १७ में प्रभु ने फरमाया है -

अलीले ण रसे गिद्धे, जिब्भादंते अमुच्छिण्ण।

ण रसद्धाए भुंजिञ्जा, जवणद्धाए महामुणी॥

अर्थात् जिह्वा को वश में करने वाला अनासक्त मुनि सरस आहार में या स्वाद में लोलुप और गृद्ध न हो। महामुनि स्वाद के लिए नहीं अपितु संयमी जीवन यापन के लिए आहार करे।

इंगित मरण साधना

(४३१)

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ, से गिलामि च खलु अहं इमंमि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेण परिवहित्तए, से अणुपुव्वेणं आहारं संवट्टेज्जा अणुपुव्वेण आहारं संवट्टित्ता, कसाए पयणुए किच्चा, समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिणिब्बुडच्चे अणुपविसित्ता।

गामं वा, णयरं वा, खेडं वा, कब्बडं वा, मंडबं वा, पट्टणं वा, दोणमुहं वा, आगरं वा, आसमं वा, संणिवेसं वा, णिगमं वा, रायहाणिं वा, तणाइं जाएज्जा, तणाइं जाइत्ता से तमायाए एणंतमवक्कमिज्जा, एणंतमवक्कमित्ता, अप्पंडे-अप्पपाणे-अप्पबीए-अप्पहरिए-अप्पोसे-अप्पोदए-अप्पुत्तिंग-पणग-दग मट्टियमक्कडासंताणए पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय तणाइं संथरेज्जा तणाइं संथरेत्ता एत्थवि समए इत्तरियं कुज्जा।

कठिन शब्दार्थ - परिवहित्तए - धारण करने में एवं संयम की आवश्यक क्रियाओं में

प्रवृत्ति कराने में, संवट्टिज्जा - संवर्तन (संक्षेप) करे, पयणुए - पतला (स्वल्प), समाहियच्चे-समाहितार्च - समाधि को प्राप्त करे, फलगावयट्ठी - फलक (लकड़ी के पट्टे) की तरह शरीर और कषाय दोनों को कृश कर अवस्थित, अभिणिव्वुडच्चे - शरीर संताप से रहित हो जाए, तणाइं - तृणों की, जाइज्जा - याचना करे, एगंते - एकान्त में, अवक्कमिज्जा - चला जाय, अप्पंडे - अण्डे रहित, अप्पहरिए - दूब आदि हरी लिलोती से रहित, अप्पोसे - ओस रहित, अप्पोदए - जल रहित, अप्पुत्तिंग पणग दग मट्टिय मक्कडा संताणए - कीड़ी नगरा, लीलन फूलन सचित्त मिट्ठी, मकड़ी के जालों आदि से रहित स्थान, संथरिज्जा - संथारा करे, संस्तारक - बिछौना बिछावे, इत्तरियं - इत्वरिक - इंगित मरण की।

भावार्थ - जिस साधु के मन में ऐसा विचार होता है कि इस समय मैं सचमुच ग्लान हो गया हूँ अतः इस शरीर को अनुक्रम से धारण करने में एवं संयम की आवश्यक क्रियाओं में प्रवृत्ति कराने में समर्थ नहीं हूँ। ऐसी स्थिति में वह साधु क्रमशः तप के द्वारा आहार का संवर्तन (संक्षेप) करे। आहार का संक्षेप करके कषायों को पतला करे। कषायों को स्वल्प करके समाधियुक्त लेण्या वाला तथा फलक की तरह शरीर और कषाय दोनों से कृश बना हुआ वह भिक्षु समाधि मरण के लिए उत्थित होकर शरीर के संताप से रहित हो जाय।

ग्राम, नगर, खेट, कर्बट, मडम्ब, पत्तन, द्रोणमुख, आकर, आश्रम, सन्निवेश, निगम और राजधानी में प्रवेश करके सूखे तृणों की याचना करे। तृणों की याचना करके उसे लेकर एकान्त में चला जाय। वहाँ एकान्त स्थान में जाकर जहाँ कीड़े आदि के अण्डे, जीव जन्तु, बीज, हरीघास, ओस, उदक, चींटियों के बिल (कीड़ी नगरा) लीलन फूलन (काई) पानी का दलदल या मकड़ी के जाले न हों उस स्थान का बार-बार प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करके घास का संस्तारक करे। घास का बिछौना बिछा कर उस पर स्थित हो उस समय इत्वरिक अनशन (इंगित मरण) ग्रहण कर ले।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में इंगित मरण का विधान और उसकी विधि का वर्णन किया गया हो सूत्र में आए हुए गामं वा आदि शब्दों का अर्थ इस प्रकार है-

१. गामं (ग्राम) - जहाँ राज्य की तरफ से अठारह प्रकार का कर (महसूल) लिया जाता हो उसे ग्राम कहते हैं।

२. णयरं (नगर-नकर) - जहाँ ग्राम, बैल आदि का कर न लिया जाता हो उस बड़ी आबादी को नगर (नकर) कहते हैं।



३. खेडं (खेड-खेटक) - जिस आबादी के चारों ओर मिट्टी का परकोटा हो उसे खेड या खेड़ा कहते हैं।

४. कब्बडं (कब्बड-कर्बट) - थोड़ी आबादी वाला गांव कर्बट कहलाता है।

५. मंडबं (मडम्ब) - जिस गांव से ढाई कोस की दूरी पर दूसरा गांव हो उसे मडम्ब कहते हैं।

६. पट्टणं (पत्तन) - व्यापार वाणिज्य का बड़ा स्थान जहाँ सब वस्तुएं मिलती हों उसे पाटण कहते हैं।

७. द्रोणमुहं (द्रोणमुख) - समुद्र के किनारे की आबादी, जहाँ जाने के लिए जल और स्थल दोनों प्रकार के मार्ग हो वह द्रोणमुख (बंदरगाह) कहलाता है।

८. आगरं (आकर) - सोना चांदी आदि धातुओं के निकलने की खान को आकर कहते हैं।

९. आसमं (आश्रम) - तपस्वी संन्यासी आदि के ठहरने का स्थान आश्रम कहलाता है।

१०. सण्णिवेसं (सन्निवेश) - जहाँ सार्थवाह अर्थात् बड़े-बड़े व्यापारी बाहर से आकर उतरते हों उसे सन्निवेश कहते हैं।

११. णिगमं (निगम) - जहाँ अधिकतर व्यापार वाणिज्य करने वाले महाजनों की आबादी हो, उसे निगम कहते हैं।

१२. रायहाणिं (राजधानी) - जहाँ राजा स्वयं रहता हो, वह राजधानी कहलाती है।

(४३२)

तं सच्चं सच्चवाई ओए तिण्णे, छिण्णकहंके, आईयट्टे अणाईए चिच्चाण भिउरं कायं संविहुणिय विरूवरूवे परिसहोवसग्गे अस्सिं विस्संभणयाए भेरवमणुचिण्णे, तत्थावि तस्स कालपरियाए जाव अणुगामियं त्ति वेमि।

॥ अट्ठं अज्झयणं छट्ठोद्देशो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - सच्चवाई - सत्यवादी, छिण्णकहंके - राग द्वेष आदि की कथा कं छेदन करने वाला, आईयट्टे - जीवादि पदार्थों का ज्ञाता, अणाईए - संसार सागर से पार होने वाला, भेउरं - नश्वर-विनाशशील, संविहुणिय - समभाव पूर्वक सहन करके, विस्संभणयाए- विश्वास होने से, भेरवं - कठिन, अणुचिण्णे - आचरण करता है।



भावार्थ - यह इंगित मरण सत्य है, हितकारी है और इसकी अंगीकार करने वाला सत्यवादी है। वह राग द्वेष रहित, संसार सागर को तिरने वाला, राग द्वेषादि की कथा को छेदन करने वाला, जीवादि पदार्थों का ज्ञाता और संसार सागर को पार करने वाला है। वह साधक प्रतिक्षण विनाशशील इस शरीर का त्याग कर नाना प्रकार के परीषह उपसर्गों पर विजय प्राप्त करके, उन्हें समभाव से सहन करके इस आर्हत आगम में विश्वास होने के कारण इस घोर-कठिन अनशन का आचरण करे। रोगादि आतंक के कारण इंगित मरण को स्वीकार करना भी उस साधु के लिए कालपर्याय - काल मृत्यु है यावत् भवान्तर में साथ चलने वाला होता है- ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में इंगित मरण का माहात्म्य बताया गया है। पादपोषगमन की अपेक्षा से इंगित मरण में चलन की छूट रहती है। इसीलिए कहा जाता है कि इसमें चलन का क्षेत्र (प्रदेश) इंगित-नियत कर लिया जाता है। इस मरण का आराधक उतने ही प्रदेश में संचरण कर सकता है। इसे 'इत्वरिक अनशन' भी कहते हैं। यहाँ 'इत्वर' शब्द थोड़े काल के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है और न ही इत्वर सागर प्रत्याख्यान के अर्थ में यहाँ अभीष्ट है अपितु थोड़े से निश्चित प्रदेश में यावज्जीवन संचरण करने के अर्थ में है।

॥ इति आठवें अध्ययन का छठा उद्देशक समाप्त ॥

अहं अज्झयणं सत्तमो उद्देशो

आठवें अध्ययन का सातवां उद्देशक

छठे उद्देशक में इंगित मरण का कथन किया गया है। अब इस सातवें उद्देशक में पादपोषगमन मरण एवं प्रतिमाओं का वर्णन किया जाता है। इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

अचेल-कल्प

(४३३)

जे भिक्खू अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ चाएमि अहं तणफासं अहियासित्तए, सीयफासं अहियासित्तए, तेउफासं अहियासित्तए,



दंसमसगफासं अहियासित्तए, एगयरे अण्णयरे विरूवरूवे फासे अहियासित्तए हिरिपडिच्छायणं चऽहं णो संचाणमि अहियासित्तए, एवं से कप्पइ कडिबंधणं धारित्तए।

कठिन शब्दार्थ - चाणमि - समर्थ, अहियासित्तए - सहन करने के लिये, दंसमसगफासं- डांस और मच्छर के स्पर्श को, हिरिपडिच्छायणे - हीप्रच्छादनं - लज्जा के कारण गुह्य प्रदेश के आच्छादन रूप वस्त्र का परित्याग करने में, कडिबंधणं - कटिबंधन - चौल-पट्टा - कमर पर बांधने का वस्त्र।

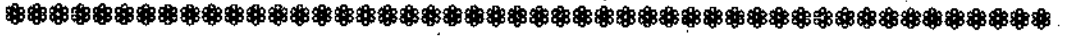
भावार्थ - जो अभिग्रहधारी साधु अचेलकल्प में स्थित है। उस साधु को ऐसा विचार हो कि मैं तृण स्पर्श को सहन करने के लिए, शीत स्पर्श को सहन करने के लिए, उष्ण स्पर्श को सहन करने के लिए, डांस और मच्छर के स्पर्श को सहन करने के लिए इनमें से किसी एक को अथवा दूसरे किसी कष्ट को एवं नाना प्रकार के स्पर्शों (कष्टों) को सहन करने में समर्थ हूँ किन्तु गुह्य अंग की लज्जा निवारण करने वाले वस्त्र के त्याग के कष्ट को सहन करने में समर्थ नहीं हूँ। ऐसी स्थिति में उस साधु को कटिबन्ध धारण करना कल्पता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में अचेल कल्प का वर्णन किया गया है। इस कल्प में साधक वस्त्र का सर्वथा त्याग कर देता है। यदि कोई साधक लज्जा जीतने में असमर्थ है तो उसके लिए आगमकार ने चौलपट्टा धारण करने की छूट दी है। इस कल्प को धारण करने वाला साधक शीतादि परीषहों को समभाव से सहन करता हुए शरीर आसक्ति का त्याग करता है।

(४३४)

अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति, एगयरे अण्णयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ अचेले लाघवियं आगममाणे जाव समभिजाणिया।

भावार्थ - अथवा उस अचेल कल्प में पराक्रम करते हुए साधु को बार-बार तृण स्पर्श का कष्ट होता है, शीत का स्पर्श होता है, गर्मी का स्पर्श होता है, डांस और मच्छर काटते हैं। इस प्रकार वह एक या किसी दूसरे जातीय नाना प्रकार के स्पर्शों (कष्टों) को सहन करता है। अपने आपको लाघव (लघु) करता हुआ वह अचेल रहे। इस प्रकार उसे तप की सहज



प्राप्ति हो जाती है। अतः जिस प्रकार भगवान् ने फरमाया है उसे उसी रूप में जान कर सब प्रकार से सर्वात्मना सम्यक्त्व (समत्व) को भलीभांति जान कर धारण करे।

आहार पडिमा

(४३५)

जस्सणं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्टु दलइस्सामि, आहडं च साइजिस्सामि १ जस्सणं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्टु दलइस्सामि आहडं च णो साइजिस्सामि २ जस्सणं भिक्खुस्स एवं भवइ, अहं च खलु असणं वा ४ आहट्टु णो दलइस्सामि आहडं च साइजिस्सामि ३ जस्सणं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्टु णो दलइस्सामि आहडं च णो साइजिस्सामि ॥

अहं च खलु तेण अहाइरित्तेणं अहेसणिज्जेणं अहापरिग्गहिण्णं असणेणं वा ४ अभिकंख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए, अहं वावि तेण अहाइरित्तेणं अहेसणिज्जेणं अहापरिग्गहिण्णं असणेणं वा ४ अभिकंख साहम्मिण्हिं कीरमाणं वेयावडियं साइजिस्सामि लाघवियं आगममाणे जाव सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

कठिन शब्दार्थ - दलइस्सामि - दूंगा, अहाइरित्तेण - यथातिरिक्तेन - अधिक लाए हुए आहार से या उपभोग में आने के बाद बचे हुए आहार आदि से।

भावार्थ - १. जिस साधु का ऐसा अभिग्रह होता है कि मैं दूसरे साधर्मिक साधुओं को अशन, पान, खादिम, स्वादिम लाकर दूंगा और उनके द्वारा लाये हुए अशनादि का मैं उपभोग करूँगा।

२. जिस साधु का ऐसा अभिग्रह होता है कि मैं दूसरे साधर्मिक साधुओं को अशन, पान, खादिम, स्वादिम लाकर दूंगा परन्तु उनके लाये हुए आहारादि का उपभोग नहीं करूँगा।

३. जिस साधु को ऐसा अभिग्रह होता है कि मैं दूसरे साधर्मिक साधुओं के लिए अशन, पान, खादिम स्वादिम, लाकर नहीं दूंगा परन्तु उनके द्वारा लाये हुए अशनादि का मैं उपभोग करूँगा।



४. जिस साधु का ऐसा अभिग्रह होता है कि मैं दूसरे साधर्मिक साधुओं के लिए अशन, पान, खादिम, स्वादिम लाकर नहीं दूँगा और न ही उनके द्वारा लाये गये अशनादि को भोगूँगा।

किसी किसी साधु का ऐसा अभिग्रह होता है कि मैं अपनी आवश्यकता से अधिक अपनी कल्पमर्यादानुसार एषणीय और ग्रहणीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम के द्वारा निर्जरा के उद्देश्य से उपकार के लिए अपने साधर्मिक साधु की वैयावच्च करूँगा।

अथवा मैं अपनी आवश्यकता से अधिक, अपनी कल्पमर्यादानुसार एषणीय, ग्रहणीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम द्वारा निर्जरा की भावना से साधर्मिक साधुओं द्वारा की जाने वाली वैयावच्च को स्वीकार करूँगा। इस प्रकार वह साधु लाघव का विचार करता हुआ यावत् समभाव को धारण करे।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में अभिग्रहनिष्ठ मुनि द्वारा अपनी रुचि और योग्यतानुसार ली जाने वाली प्रतिज्ञाओं का वर्णन किया गया है। उपर्युक्त चार भंग कर्म निर्जरा की दृष्टि से बताए गये हैं।

(४३६)

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ से गिलामि च खलु अहं इमम्मि समए इमं सरीरां अणुपुव्वेणं परिवहिंत्ताए, से अणुपुव्वेणं आहारं संवट्टेज्जा, संवट्टइत्ता कसाए पयणुए किच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिणिव्वुडच्चे, अणुपविसित्ता गामं वा णयरं वा जाव रायहाणिं वा तणाइं जाएज्जा, से तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, एगंतमवक्कमेत्ता अप्पंडे जाव तणाइं संथरेज्जा, इत्थवि समए कायं च, जोगं च, इरियं च, पच्चक्खाएज्जा।

कठिन शब्दार्थ - इरियं - ईर्या का, पच्चक्खाएज्जा - पच्चक्खाण करे।

भावार्थ - जिस साधु के मन में यह विचार होता है कि मैं वास्तव में इस समय आवश्यक संयम क्रिया करने के लिए इस शरीर को क्रमशः वहन करने में ग्लान - असमर्थ हो रहा हूँ। वह साधु क्रमशः आहार का संक्षेप करे। आहार को संक्षेप करता हुआ कषायों को पतला (कृश) करे। इस प्रकार समाधि पूर्ण लेश्या वाला तथा फलक की तरह शरीर और कषाय दोनों से कृश बना हुआ वह साधु समाधि मरण के लिए उत्थित होकर शरीर के संताप को दूर कर दे। इस प्रकार संलेखना करने वाला वह साधु ग्राम अथवा नगर यावत् राजधानी में प्रवेश करके तृणों की याचना करे। तृणों की याचना करके उन्हें लेकर एकान्त में चला जाए, एकान्त में जाकर अंडे आदि से



रहित स्थान में यावत् घास का बिछौना बिछाए। घास का बिछौना बिछा कर इसी समय शरीर, योग (शरीर की प्रवृत्ति) और गमनागमन (ईर्या) का पच्चक्खाण (त्याग) करे।

पादपोपगमन मरण का स्वरूप

(४३७)

तं सच्चं सच्चावाई ओए तिण्णे छिण्णकहं कहे आईयट्ठे अणाईए चेच्चाण भिउरं कायं संविहूणिय विरूवरूवे परिसहोवसग्गे अस्सिं विस्संभणयाए भेरवमणुचिण्णे तत्थावि तस्स कालपरियाए से तत्थ विअंतिकारए इच्चेयं विमोहाययणं हियं, सुहं, खमं, णिस्सेसं आणुगामियं ति बेमि।

॥ अट्टमं अज्झयणं सत्तमोद्देशो समत्तो ॥

भावार्थ - यह मरण सत्य (हितकारी) है। इसे स्वीकार करने वाला पुरुष सत्यवादी होता है। वह राग द्वेष रहित संसार सागर को तिरने वाला, रागद्वेष आदि की कथा को छेदन करने वाला, जीवादि पदार्थों का ज्ञाता और संसार सागर को पार करने वाला है। वह साधक प्रतिक्षण विनाशशील इस शरीर का त्याग कर, नाना प्रकार के परीषह उपसर्गों पर विजय प्राप्त करके, उन्हें समभाव से सहन करके इस आर्हत आगम में विश्वास होने के कारण इस घोर-कठिन अनशन का आचरण - अनुपालना करे। रोगादि आतंक के कारण पादपोपगमन अनशन स्वीकार करना भी उस साधक के लिए काल पर्याय - काल मृत्यु है। समाधि मरण से मरने वाला भिक्षु कर्मों का अंत करता है। यह मोह रहित पुरुषों का आश्रय, हितकारी, सुखकारी, कालोचित, निःश्रेयस्कर (मोक्षप्रदायी) और परलोक में भी साथ चलने वाला है। - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में पादपोपगमन रूप समाधि मरण का स्वरूप, उसकी विधि और महिमा का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार पादप-वृक्ष सम या विषम अवस्था में निश्चेष्ट पड़ा रहता है उसी प्रकार जहां और जिस रूप में साधक ने अपना शरीर रख दिया है वहाँ और उसी रूप में आयु पर्यंत निश्चल पड़ा रहे, अपने अंगों को भी हिलाए डुलाए नहीं, सेवा सुश्रुषा से रहित ऐसे मरण को 'पादपोपगमन मरण' कहते हैं। पादपोपगमन अनशन का साधक न तो दूसरे की सेवा करता है और न दूसरे की सेवा लेता है। पादपोपगमन में निम्न तीन बातों का त्याग होता है - १. शरीर २. शरीरगत योग - आकुंचन प्रसारण आदि काय व्यापार और ३. ईर्या - सम्पूर्ण हलन चलन।



पादपोषगमन रूप मरण से मृत्यु प्राप्त करना तीर्थकरोक्त होने के कारण सत्य (हितकारी) है। सत्यवादी पुरुष ही इसे स्वीकार कर सकते हैं। तीर्थकर भगवान् के वचनों पर अटल श्रद्धा होने के कारण वे इस कठोर मरण को स्वीकार करते हैं। वे धीर पुरुष परीषह उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करके इस पादपोषगमन रूप मरण से शरीर का त्याग कर सुगति को प्राप्त होते हैं।

॥ इति आठवें अध्ययन का सातवां उद्देशक समाप्त ॥

अहमं अज्झयणं अहमोद्देशो आठवें अध्ययन का आठवां उद्देशक

पूर्व उद्देशकों में जिन तीन समाधिमरण रूप अनशनों (भक्त परिज्ञा, इंगित और पादपोषगमन) का निरूपण किया गया है उन्हीं के विशेष आंतरिक विधि-विधानों का इस आठवें उद्देशक में क्रमशः वर्णन किया जाता है -

(४३८)

अणुपुब्बेण - विमोहाइं, जाइं धीरा समासज्ज।

वसुमंतो मइमंतो, सव्वं णच्चा अणेलिसं॥

कठिन शब्दार्थ - अणुपुब्बेण - अनुक्रम से, विमोहाइं - विमोह मोह रहित भक्त परिज्ञा, इंगितमरण और पादपोषगमन रूप त्रिविध मरणों में से, समासज्ज - प्राप्त कर, वसुमंतो-वसुमान्-संयम का धनी, अणेलिसं - अनीदृश - जिसके समान दूसरा कोई नहीं - अद्वितीय।

भावार्थ - अनुक्रम से जिनका विधान किया गया है उन सब को भली भांति जान कर संयमी, बुद्धिमान् धीर मुनि भक्त परिज्ञा, इंगित मरण और पादपोषगमन रूप त्रिविध मरणों में से किसी एक अनीदृश - अद्वितीय मरण को प्राप्त कर समाधि पूर्वक शरीर का त्याग करे।

विवेचन - आगमकारों ने जिस क्रम से जिस क्रिया का विधान किया है उसी प्रकार आचरण करता हुआ धीर, संयमी, मतिमान् मुनि अंतिम समय में त्रिविध मरणों में से किसी एक मरण को अपनाए और समाधि मरण से इस नश्वर देह का त्याग करे।



(४३६)

दुविहंपि विइत्ताणं, बुद्धा धम्मस्स पारगा।

अणुपुव्वीए संखाए, आरंभाओ तिउट्टइ॥

कठिन शब्दार्थ - विइत्ताणं - जान कर एवं त्याग कर, पारगा - पारगामी, संखाए - जान कर, निश्चय कर, तिउट्टइ - मुक्त हो जाता है।

भावार्थ - श्रुत और चारित्र धर्म के पारगामी, तत्त्वज्ञ पुरुष दोनों प्रकार के अर्थात् बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह को जानकर एवं त्याग कर अनुक्रम से संयम की क्रियाओं का पालन कर मृत्यु के अवसर को जान कर यथायोग्य मरण का निश्चय करके आरम्भ से मुक्त हो जाते हैं।

विवेचन - बुद्धिमान् संयमी पुरुष तीन मरणों में से 'मैं किस मरण के योग्य हूँ' यह निश्चय करके उसी मरण द्वारा समाधि पूर्वक शरीर का त्याग कर आरम्भ से छूट जाते हैं अथवा कर्मों से मुक्त हो जाते हैं।

किसी किसी प्रति में चतुर्थ पद में 'कम्मणाओ तिउट्टइ' पाठ भी मिलता है जिसका अर्थ है - 'आठ कर्मों से पृथक् हो जाता है।'

भक्त प्रत्याख्यान का स्वरूप

(४४०)

कसाए पयणुए किच्चा, अप्पाहारो तितिक्खाए।

अह भिक्खू गिलाइज्जा, आहारस्सेव अंतियं॥

कठिन शब्दार्थ - अप्पाहारो - अल्पाहारी, गिलाइज्जा - ग्लानि को प्राप्त होता है, आहारस्सेव - आहार के, अंतियं - पास न जावे, इच्छा न करे।

भावार्थ - वह साधु कषायों को कृश (पतला) करके, अल्प आहार करता हुआ परीषहों एवं कठोर वचनों से सहन करे। यदि ऐसा करता हुआ साधु आहार के बिना ग्लानि को प्राप्त होता है तो वह आहार के पास ही न जावे अर्थात् आहार की इच्छा न करे, आहार सेवन न करे।

विवेचन - संलेखना करने वाला साधक पहले कषायों को पतला करे। कषायों को अल्प करता हुआ साधु आहार की मात्रा को भी घटाता जाय और बहुत थोड़ा भोजन करे। ऐसा करते



हुए भी यदि क्षुधा परीषह अधिक सतावे तो भी साधु आहार की इच्छा न करे अर्थात् वह यह नहीं सोचे कि 'मैं थोड़े दिन और आहार कर लूँ फिर संलेखना करूँगा।'

इस गाथा में 'आहारस्सेव अंतियं' पद दिया है किन्तु इसके आगे कुछ भी क्रिया पद नहीं दिया है। इसलिए वाक्य की पूर्ति के लिए यदि 'न गच्छेत्' क्रिया का अध्याहार किया जाय तब तो इस वाक्य का वही अर्थ होगा जो ऊपर किया गया है किन्तु यदि 'न गच्छेत्' के स्थान पर सिर्फ 'गच्छेत्' क्रिया का अध्याहार करें तब इसका यह अर्थ होगा कि संलेखना करता हुआ साधु यदि आहार के बिना अत्यंत ग्लानि को प्राप्त हो और आहार में मूर्च्छित होकर उसका चित्त शुभ ध्यान से हट कर अशुभ ध्यान की ओर जाने लगे तो उसे अशुभ ध्यान को मिटाने के लिए आहार दिया जा सकता है।

(४४१)

जीवियं णाभिकंखेज्जा, मरणं णोवि पत्थए।

दुहओवि ण सज्जेज्जा, जीविए मरणे तहा॥

मज्झत्थो णिज्जरापेही, समाहिमणुपालए।

अंतो बहिं विउस्सिज्ज, अज्झत्थं सुद्धमेसए॥

कठिन शब्दार्थ - सज्जेज्जा - आसक्त होवे, पत्थए - इच्छा करे, मज्झत्थो - मध्यस्थ, णिज्जरापेही - निर्जरा की अपेक्षा रखता हुआ, विउस्सिज्ज - त्याग कर, अज्झत्थं - अंतःकरण की, सुद्धं - शुद्धि की, एसए - कामना करे।

भावार्थ - संलेखना में स्थित साधु न तो जीने की आकांक्षा करे और न मरने की अभिलाषा करे। जीवन और मरण दोनों ही में आसक्त न होवे।

मध्यस्थ यानी जीवन और मरण की आकांक्षा से रहित (सुख दुःख में सम) निर्जरा की भावना वाला साधु समाधि का पालन करे। वह राग, द्वेष, कषाय आदि आंतरिक तथा शरीर, उपकरण आदि बाह्य पदार्थों का त्याग कर अंतःकरण (मन) की शुद्धि की कामना करे, शुद्ध अध्यात्म की अन्वेषणा करे।

विवेचन - संलेखना में प्रवृत्त साधक अपनी प्रशंसा होती देख कर अधिक जीवन की इच्छा न करे और क्षुधा की पीड़ा से तथा रोगादि से घबरा कर शीघ्र मरने की इच्छा न करे किन्तु वह जीवन और मरण किसी में आसक्त न होता हुआ समभाव रखे।



(४४२)

जं किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो।

तस्सेव अंतरद्वाए , खिप्पं सिक्खेज्ज पंडिए।

कठिन शब्दार्थ - किंचुवक्कमं - किंचित् मात्र उपाय, आउक्खेमस्स - आयु के क्षेम (जीवन यापन) का, अंतरद्वाए - मध्य में, सिक्खेज्ज - स्वीकार करे।

भावार्थ - यदि साधु (स्वात्मा) अपनी आयु को क्षेम-समाधि पूर्वक बीताने का किंचित् भी उपाय जानता हो तो वह उस उपाय को संलेखना के मध्य में ही ग्रहण कर ले। यदि कभी अकस्मात् रोग का आक्रमण हो जाए तो वह शीघ्र ही भक्त प्रत्याख्यान आदि संलेखना को स्वीकार कर पंडित मरण को प्राप्त करे।

(४४३)

गामे वा अदुवा रण्णे, थंडिलं पडिलेहिया।

अप्पपाणं तु विण्णाय, तणाइं संथरे मुणी॥

भावार्थ - मुनि ग्राम अथवा जंगल में स्थंडिल भूमि का प्रतिलेखन प्रमार्जन कर, उसे जीव जंतु रहित जान कर उसके ऊपर तृणों को बिछावे।

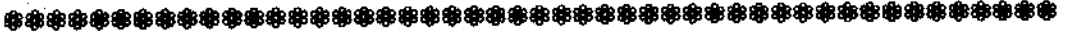
(४४४)

अणाहारो तुयट्टेज्जा, पुट्ठो तत्थऽहियासए।

णाइवेलं उवचरे, माणुस्सेहिं विपुट्ठवं॥

कठिन शब्दार्थ - तुयट्टेज्जा - सो जाए, ण अइवेलं उवचरे - मर्यादा का उल्लंघन न करे, विपुट्ठवं - परीषहों से आक्रान्त होने पर।

भावार्थ - त्रिविध या चतुर्विध आहार का त्याग करके साधु उस घास के बिछौने पर सो जाय। परीषह उपसर्गों से स्पृष्ट होने पर उन्हें समभाव से सहन करे तथा मनुष्य कृत अनुकूल प्रतिकूल उपसर्गों के प्राप्त होने पर भी अपनी मर्यादा का उल्लंघन न करे।



(४४५)

संसप्पगा य जे पाणा, जे य उहमहेचरा।

भुंजंति मंससोणियं, ण छणे ण पमज्जए॥

कठिन शब्दार्थ - संसप्पगा - संसर्पक - भूमि पर चलने वाले चींटी, शृगाल आदि, उहमहेचरा - ऊंचे आकाश में उड़ने वाले गीध आदि और नीचे बिलों में रहने वाले सर्पादि, मंस सोणियं - मांस और रक्त को, छणे - मारे, पमज्जए - प्रमार्जन करे।

भावार्थ - जो भूमि पर चलने वाले चींटी शृगाल आदि प्राणी हैं अथवा जो ऊपर आकाश में उड़ने वाले गिद्ध आदि तथा नीचे बिलों में रहने वाले सर्प आदि प्राणी हैं यदि वे कदाचित् अनशन धारी मुनि के शरीर का मांस नोचें और रक्त पीए तो मुनि न तो उन्हें मारे और न ही रजोहरण आदि से प्रमार्जन करे, उन्हें हटाएं।

(४४६)

पाणा देहं विहिंसंति, ठाणाओ ण वि उब्भमे।

आसवेहिं विवित्तेहिं, तिप्पमाणोऽहियासए॥

कठिन शब्दार्थ - उब्भमे - हटे, अन्यत्र जावे, आसवेहिं - आस्रवों को, विवित्तेहिं - रहित होने के कारण, तिप्पमाणो - तृप्ति का अनुभव करता हुआ।

भावार्थ - वह साधु ऐसा चिंतन करे कि ये हिंसक प्राणी मेरे शरीर का नाश कर रहे हैं मेरे ज्ञानादि आत्म-गुणों का नहीं, ऐसा विचार कर उन्हें हटाए नहीं और न ही उस स्थान से उठ कर अन्यत्र जाए। हिंसादि आस्रवों से रहित हो जाने के कारण आत्मिक सुख से तृप्त वह मुनि उन कष्टों को समभाव से सहन करे।

(४४७)

गंथेहिं विवित्तेहिं, आउकालस्स पारए।

पग्गहियतरगं चेयं, दवियस्स वियाणओ॥

कठिन शब्दार्थ - पग्गहियतरगं - प्रगृहीततरकं - पूर्वगृहीत से विशिष्टतर, दवियस्स - संयमशील को।



भावार्थ - ग्रंथ - बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की ग्रंथियों से रहित आत्म - चिंतन में संलग्न वह मुनि आयुष्य (समाधिमरण) के काल का पारगामी हो जाता है। यह इंगितमरण, भक्त परिज्ञा से विशिष्टतर है अतः यह संयम शील गीतार्थ मुनियों (विशिष्ट धैर्य, विशिष्ट संहनन और कम से कम नौ पूर्वों के ज्ञाता पुरुषों) द्वारा ही ग्रहण किया जाता है।

विवेचन - अब तक भक्त परिज्ञा मरण का कथन किया गया है। इस गाथा के उत्तरार्द्ध से इंगित मरण का कथन किया जाता है। यह इंगितमरण पूर्व गृहीत भक्त प्रत्याख्यान से विशिष्टतर है। इसे विशिष्ट ज्ञानी (कम से कम नौ पूर्व का ज्ञाता गीतार्थ) संयमी मुनि ही प्राप्त कर सकता है।

इंगित मरण का स्वरूप

(४४८)

अयं से अवरे धम्मे, णायपुत्तेण साहिए।

आयवज्जं पडीयारं, विज्जहिज्जा तिहा तिहा॥

कठिन शब्दार्थ - अवरे - अपर - भक्तप्रत्याख्यान से भिन्न इंगित मरण रूप, णायपुत्तेण-ज्ञातपुत्र श्री महावीर स्वामी ने, साहिए - बतलाया है, आयवज्जं - आत्मवर्ज - अपने सिवाय दूसरों की, पडीयारं - प्रतिचार-परिचर्या-सेवा का, विज्जहिज्जा - त्याग करे, तिहा तिहा - तीन करण तीन योग से।

भावार्थ - ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने भक्त प्रत्याख्यान से भिन्न इंगित मरण रूप धर्म का प्रतिपादन किया है। इस अनशन में स्थित साधु अपने सिवाय किसी दूसरे की सेवा का तीन करण तीन योग से त्याग करे।

विवेचन - दीक्षा ग्रहण करना, संलेखना करना, स्थंडिल भूमि का प्रतिलेखन करना आदि जो क्रम भक्त प्रत्याख्यान में बतलाया गया है वही क्रम इंगित मरण के विषय में है परन्तु इसमें विशेष धर्म यह कहा गया है कि इंगित मरण की शय्या पर स्थित साधु दूसरों से सेवा कराने का मन, वचन, काया रूप तीन योग और करना, कराना, अनुमोदना रूप तीन करण से त्याग करे। वह स्वयमेव उस शय्या पर उलटना या करवट बदलना आदि करे किन्तु दूसरे की सहायता न ले।



(४४६)

हरिणसु ण णिवज्जेजा, थंडिलं मुणिआ सए।

विउस्सिज्ज अणाहारो, पुट्ठो तत्थऽहियासए।

कठिन शब्दार्थ - णिवज्जेजा - शयन करे, हरिणसु - हरितकाय वनस्पति के ऊपर।

भावार्थ - इंगित मरणार्थी साधु हरियाली पर शयन नहीं करे। निर्जीव स्थण्डिल देख कर वहाँ सोए। बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की उपधियों का त्याग कर निराहार रहता हुआ मुनि परीषह उपसर्गों को समभाव से सहन करे।

(४५०)

इंदिएहिं गिलायंतो, समियं आहरे * मुणी।

तहावि से अगरिहे, अचले जे समाहिए॥

कठिन शब्दार्थ - इंदिएहिं - इन्द्रियों से, गिलायंतो - ग्लान (क्षीण) होने पर, समियं-समभाव को, आहरे - धारण करे, अचले - अचल-अटल, अगरिहे - अगर्हित-निंदनीय नहीं।

भावार्थ - आहार नहीं करने के कारण इन्द्रियों से ग्लान होने पर मुनि समता धारण करे। जो अपनी प्रतिज्ञा पर अचल-अटल है तथा धर्मध्यान शुक्लध्यान में अपने मन को लगाए हुए है वह मर्यादित भूमि में शरीर चेष्टा करता हुआ भी निंदा का पात्र नहीं होता है।

विवेचन - इंगित मरण करने वाला साधु नियमित प्रदेश में गमनागमन तथा शरीर के अङ्गों का संकोच विस्तार कर सकता है। ऐसा करने पर भी कोई दोष नहीं है किन्तु यह कोई नियम नहीं है कि उसे गमनागमनादि क्रियाएं करनी ही चाहिए किन्तु यदि उसकी शक्ति वैसी हो तो वह सूखे काष्ठ की तरह निश्चेष्ट स्थित रह सकता है।

(४५१)

अभिव्कमे पडिक्कमे, संकुचए पसारए।

काय साहारणडाए, इत्थं वा वि अचेयणे॥

* पाठान्तर - साहरे।



कठिन शब्दार्थ - अभिक्कमे - सम्मुख होना, पडिक्कमे - पीछे हटना, कायसाहारणट्टाए - शरीर की समाधि - सुविधा के लिए, अचेयणे - अचेतन की तरह।

भाषार्थ - इस अनशन को स्वीकार करने वाला मुनि शरीर की सुविधा के लिए इंगित प्रदेश में अपनी शय्या से सामने या पीछे गमनागमन करे, अपने अंगों को सिकोड़े और पसारे। अथवा उसमें शक्ति हो तो शरीर के इन व्यापारों को नहीं करता हुआ अचेतन की तरह निश्चेष्ट हो कर रहे।

विवेचन - इंगित मरण करने वाला साधु नियमित प्रदेश में गमनागमन तथा शरीर के अंगों का संकोच विस्तार कर सकता है। ऐसा करने पर भी कोई दोष नहीं है किन्तु यह कोई नियम नहीं है कि उसे गमनागमनादि क्रियाएं करनी ही चाहिये किन्तु यदि उसकी शक्ति वैसी हो तो वह सूखे काष्ठ की तरह निश्चेष्ट - स्थित रह सकता है।

(४५२)

परिक्कमे परिकिलंते, अदुवा चिट्ठे अहायए।

ठाणेण परिकिलंते, णिसीइज्जा य अंतसो॥

काठेन शब्दार्थ - परिक्कमे - नियत प्रदेश में चले, परिकिलंते - थक जाने पर, अहायए- सीधा हो कर लेट जाय, ठाणेण - खड़े होने से, अंतसो - अंत में, णिसीइज्जा - बैठ जाए।

भाषार्थ - बैठे-बैठे या लेटे-लेटे यदि साधु थक जाए तो नियत प्रदेश में चले या थक जाने पर बैठ जाए अथवा सीधा खड़ा हो जाए या सीधा लेट जाए। यदि खड़े होने में कष्ट होता हो तो अंत में बैठ जाए।

(४५३)

आसीणेऽणेलिसं मरणं, इंदियाणि समीरए।

कोलावासं समासज्ज, वितहं पाउरेसए॥

कठिन शब्दार्थ - आसीणे - लीन, अणेलिसं - अनीदृश - अनन्य सदृश - अनुपम, समीरए - हटा दे, कोलावासं - घुन आदि से युक्त स्थान या पाट, समासज्ज - मिलने पर छोड़ कर वितहं - जीव रहित पाउरेसए - गवेषणा करे।



भावार्थ - इस अद्वितीय - अनुपम मरण की साधना में लीन मुनि अपनी इन्द्रियों को विषय विकारों से हटा लें। यदि ग्लानावस्था के कारण किसी पाटे आदि की आवश्यकता हो तो वह घुन आदि जीवों से युक्त पाट को छोड़ कर जीव रहित पाट या काष्ठ स्तंभ की गवेषणा करे।

(४५४)

जओ वज्जं समुप्पजे, ण तत्थ अवलंबए।

तओ उक्कसे अप्पाणं, फासे तत्थ अहियासए॥

कठिन शब्दार्थ - वज्जं - वज्रवत् भारी कर्म, समुप्पजे - उत्पन्न हो, ण अवलंबए - अवलम्बन न ले, उक्कसे - हटाए।

भावार्थ - जिस व्यापार से या जिसका आश्रय लेने से वज्र के समान भारी कर्म अथवा पाप की उत्पत्ति होती है, साधु उस कार्य को न करे तथा उस घुन आदि से युक्त काष्ठादि का अवलम्बन न ले किन्तु उन कार्यों से अपनी आत्मा को हटा ले। शुभ ध्यान और शुभ परिणामों पर चढ़ता हुआ मुनि परीषह उपसर्गों को समभाव से सहन करे।

(४५५)

अयं घाययतरे सिया, जो एवं अणुपालए।

सब्बगायणिरोहेवि, ठाणाओ ण विउब्भमे॥

कठिन शब्दार्थ - घ - और, भक्त प्रत्याख्यान और इंगित मरण से, आययतरे - विशिष्टतर, सब्बगायणिरोहेवि - सारे शरीर का निरोध होने पर भी।

भावार्थ - यह पादपोषगमन अनशन, भक्त प्रत्याख्यान और इंगित मरण से विशिष्टतर है। जो साधु इसका विधि के अनुसार पालन करता है। वह शरीर के समस्त अंगों का निरोध हो जाने पर भी अपने स्थान से किंचित् मात्र भी न हटे।

विवेचन - पादपोषगमन अनशन में साधक पादप-वृक्ष की तरह निश्चल-निःस्पंद रहता है। वह जिस स्थान से बैठता या लेटता है उसी स्थान में वह जीवन पर्यन्त स्थिर रहता है इसीलिये भक्त प्रत्याख्यान और इंगितमरण दोनों अनशनों से इसे श्रेष्ठ माना गया है।



(४५६)

अयं से उत्तमे धम्मे, पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे।

अचिरं पडिलेहिता, विहरे चिट्ठ माहणे।

कठिन शब्दार्थ - पुव्वट्ठाणस्स - पूर्व स्थान द्वय - भक्त प्रत्याख्यान और इंगित मरण से, पग्गहे - प्रकृष्टतर - अधिक कष्ट साध्य, अचिरं - जीव रहित स्थंडिल स्थान का, विहरे - विचरे, चिट्ठ - स्थित होकर रहे।

भावार्थ - यह पादपोपगमन अनशन उत्तम धर्म है। यह भक्त प्रत्याख्यान और इंगित मरण से प्रकृष्टतर-अधिक कष्ट साध्य है। पादपोपगमन अनशन धारक माहन (साधु) जीव जंतु रहित स्थंडिल स्थान की प्रतिलेखना कर विधिपूर्वक पालन करते हुए वहाँ अचेतनवत् स्थित रहे।

(४५७)

अचित्तं तु समासज्ज, ठावए तत्थ अप्पगं।

वोसिरे सव्वसो कायं, ण मे देहे परीसहा॥

भावार्थ - पादपोपगमन मरणार्थी साधक अचित्त - जीव रहित स्थान को प्राप्त करके वहाँ अपने आपको स्थापित कर दे। शरीर का सब प्रकार से त्याग कर दे और परीषह आने पर यह समझे कि - 'यह शरीर ही मेरा नहीं है तो परीषह जनित कष्ट मुझे कैसे होंगे?'

(४५८)

जावज्जीवं परीसहा, उवसग्गा य संखाय।

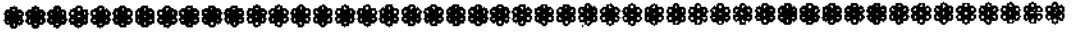
संवुडे देहभेयाए इय पण्णेऽहियासए॥

भावार्थ - यावज्जीवन अर्थात् जब तक यह जीवन है तब तक परीषह और उपसर्ग हैं ऐसा जान कर शरीर का भेद होने तक संयमी बुद्धिमान् साधु उन्हें समभाव पूर्वक सहन करे।

(४५९)

भेउरेसु ण रज्जेजा, कामेसु बहुयरेसु वि।

इच्छा लोभं ण सेवेजा, धुववण्णं संपेहिया॥



कठिन शब्दार्थ - भेउरेसु - विनाशी, ण रज्जेज्जा - अनुरक्त न हो, बहुयरेसु - प्रभूततर - बहुत अधिक मात्रा में, इच्छा लोभं - इच्छा लोलुपता का, धुववण्णं - ध्रुव वर्ण - शाश्वत मोक्ष या निश्चल संयम के स्वरूप का, संपेहिया - सम्यक् विचार कर।

भावार्थ - विनाशशील कामभोग चाहे बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त हो रहे हों उनमें अनुरक्त न हों। शाश्वत मोक्ष या निश्चल संयम के स्वरूप का सम्यक् विचार करके साधु इच्छा लोलुपता (काम की इच्छा और लोभ) का सेवन न करे।

विवेचन - यदि कोई राजा एवं चक्रवर्ती उस साधु को अत्यधिक मात्रा में कामभोगों का आमंत्रण करे अथवा राजकन्या देने का प्रलोभन भी दे तो साधु कामभोगों को विनश्वर समझ उसकी इच्छा न करे। इसी प्रकार इहलौकिक और पारलौकिक निदान भी न करे किन्तु एक मात्र मोक्ष लक्ष्य से निर्जरा की इच्छा रखता हुआ अपने चित्त को समाधिस्थ रखे।

(४६०)

सासएहिं णिमंतेज्जा, दिव्वमायं ण सदहे।

तं पडिबुज्झ माहणे, सव्वं णूमं विहूणिया॥

कठिन शब्दार्थ - सासएहिं - शाश्वत यानी जीवन पर्यंत नष्ट न होने वाली संपत्ति देने के लिए, दिव्वमायं - देव माया पर भी, ण सदहे - श्रद्धा न करे, णूमं - माया को, विहूणिया - जान कर त्याग दे।

भावार्थ - यदि कोई शाश्वत यानी आयु पर्यन्त रहने वाली संपत्ति देने के लिए निमंत्रित करे तो वह उसे मायाजाल समझे। इसी प्रकार देवी माया पर भी विश्वास न करे। साधु इस प्रकार समस्त माया को भलीभांति जान कर उसका त्याग करे और समाधिस्थ रहे।

विवेचन - जो धन जीवन पर्यंत दान और भोग करने से नष्ट न हो ऐसे शाश्वत धन से यदि कोई उस साधु को आमंत्रित करे अथवा कोई देव उस साधु के पास आकर नाना प्रकार की ऋद्धि देने लगे तो भी साधु उनमें आसक्त न बने। इसी प्रकार कोई देवांगना मुनि की प्रार्थना करे तो मुनि उसे स्वीकार न करे किन्तु वह अनशन धारी साधु इन सब का मायाजाल समझ कर इनसे दूर रहता हुआ समाधि भाव में स्थित रहे।



(४६१)

सव्वट्ठेहिं अमुच्छिए, आउकालस्स पारए।

तित्तिक्खं परमं णच्चा, विमोहण्णयरं हियं ॥त्ति बेमि ॥

॥ अट्ठं अज्झयणं अट्ठमोद्देशो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - सव्वट्ठेहिं - सब अर्थों में अर्थात् पांच प्रकार के विषयों तथा उनके साधन भूत द्रव्यों में, अमुच्छिए - अमूर्च्छित - मूर्च्छित न होता हुआ, आउकालस्स - मृत्युकाल (आयुष्य) का, पारए - पारंगत - पारगामी, तित्तिक्खं - तित्तिका - परीषह उपसर्गों को सहन करना, विमोहण्णयरं - विमोहान्यतर - मोह रहित भक्त परिज्ञा, इंगित मरण और पादपोषगमन इन तीनों में से किसी एक को स्वीकार करे, हियं - हितकारी।

भावार्थ - सभी विषयों में मूर्च्छित न होता हुआ साधु आयुष्य के समय को पार करे, जीवन पर्यन्त विषयों से निवृत्त रहे। तित्तिका को (परीषह उपसर्ग को सहन करना) सर्व श्रेष्ठ जान कर मोक्ष रहित होकर हितकारी तीन अनशनों में से किसी एक अनशन को स्वीकार करे। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - भक्त परिज्ञा, इंगित मरण और पादपोषगमन इन तीनों ही मरणों में परीषह उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करना प्रधान अंग है। अतः द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार साधक तीनों में से किसी एक मरण को अवश्य स्वीकार करे, क्योंकि तीनों ही मरण प्रभु ने हितकारी बताये हैं। अपनी शक्ति अनुसार किसी एक का आश्रय लेना मोक्षार्थी का कर्तव्य है। इस प्रकार श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं।

॥ इति आठवें अध्ययन का आठवां उद्देशक समाप्त ॥

॥ आठवां अध्ययन समाप्त ॥



उवहाणसुयं णाम णवमं अज्झयणं

उपधान श्रुत नामक नववाँ अध्ययन

पहले के आठ अध्ययनों में साध्वाचार विषयक जिन बातों का वर्णन किया गया है, स्वयं भगवान् महावीर स्वामी ने उनका आचरण किया था, यह इस नौवें अध्ययन में बताया जायगा।

इन नौवें अध्ययन का नाम 'उपधान श्रुत' है। उपधान के दो भेद हैं - १. द्रव्य उपधान और २. भाव उपधान। शय्या आदि पर सुख से सोने के लिए सिर के नीचे (पास में) सहारे के लिए रखा जाने वाला साधन - तकिया, द्रव्य उपधान है। जबकि भाव उपधान का अर्थ तपस्या है। तप के द्वारा जीव को अनंत शांति, अनंत सुख एवं आनंद की अनुभूति होती है। इसलिए यह भाव उपधान है। प्रस्तुत अध्ययन में भाव उपधान का वर्णन है।

उपधान के साथ श्रुत शब्द जुड़ा हुआ है जिसका अर्थ होता है - सुना हुआ। इसलिए 'उपधान श्रुत' अध्ययन का विशेष अर्थ हुआ - 'जिस अध्ययन में दीर्घ तपस्वी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के तपोनिष्ठ रत्नत्रयी साधना रूप उपधान मय जीवन का उनके श्रीमुख से सुना हुआ वर्णन हो।'

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने आचारांग सूत्र के पूर्व वर्णित आठ अध्ययनों में बताये गये विधानों का स्वयं आचरण करते हुए घोर परीषह उपसर्गों को सहन करते हुए केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त किया था। मुनि भी उसी प्रकार परीषह उपसर्गों को सहन करे। इसी विषय को बताने के लिए इस नववें अध्ययन के प्रथम उद्देशक का आरंभ किया जाता है -

पठमो उद्देशओ-प्रथम उद्देशक

(४६२)

अहासुयं वइस्सामि, जहा से समणे भगवं उट्ठाय।

संखाए तंसि हेमंते, अहुणा पव्वइए रीइत्था ॥



कठिन शब्दार्थ - अहासुयं - यथाश्रुत - जैसा मैंने सुना है, वइस्सामि - कहूँगा, उट्टाए - उद्यत होकर, संखाए - जान कर, अहुणा - तत्काल, पव्वइए - प्रव्रजित होकर, रीइत्था - विहार किया।

भावार्थ - उन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दीक्षा का अवसर जान कर हेमन्त ऋतु में दीक्षा ग्रहण करने के बाद जिस प्रकार तत्काल विहार किया था, उस विहार चर्या का वर्णन जैसा मैंने सुना है वैसा ही तुम से कहूँगा।

विवेचन - श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् किये हुए विहार के विषय में जैसा मैंने सुना है वैसा ही तुम से कहूँगा।

भगवान् महावीर स्वामी ने समस्त आभूषणों का त्याग कर पंचमुष्टि लोच करके हेमन्त ऋतु में मार्गशीर्ष कृष्णा दसमी के दिन दीक्षा अंगीकार की और उसी समय विहार कर दिया था। उस समय उनके शरीर पर इन्द्र के द्वारा डाले हुए देवदूष्य वस्त्र के सिवाय कुछ नहीं था। उसी दिन भगवान् क्षत्रिय कुण्ड ग्राम से विहार करके कुर्मार ग्राम को एक मुहूर्त दिन शेष रहते पहुँच गये थे।

(४६३)

णो चेविमेण वत्थेण, पिहिस्सामि तंसि हेमन्ते।

से पारए आवकहाए, एयं खु अणुधम्मियं तस्स ॥

कठिन शब्दार्थ - इमेण - इस, वत्थेण - वस्त्र से, पिहिस्सामि - ढकूँगा, आवकहाए - जीवन पर्यन्त, अणुधम्मियं - अनुधार्मिक - पूर्व तीर्थंकरों द्वारा आचरण किया हुआ।

भावार्थ - इस वस्त्र के द्वारा हेमन्त ऋतु में अपने शरीर को ढकूँगा, इस भाव से भगवान् ने उस वस्त्र को धारण नहीं किया था क्योंकि वे जीवन भर के लिए सांसारिक सभी पदार्थों का त्याग कर चुके थे। इस देवदूष्य वस्त्र को धारण करना भगवान् के लिए अनुधार्मिक था यानी पूर्व तीर्थंकरों द्वारा आचरण किया हुआ कार्य था।

विवेचन - दीक्षा के समय कंधे पर डाले हुए देवदूष्य वस्त्र को भगवान् ने इस आशय से धारण नहीं किया था कि मैं इससे हेमन्तऋतु में अपना शीत निवारण करूँगा अथवा लज्जा को ढकूँगा क्योंकि भगवान् जीवन पर्यन्त के लिए प्रतिज्ञा का पालन करने वाले थे, उन्होंने संसार के

सभी पदार्थों का त्याग कर दिया था। अतः उस वस्त्र को धारण करने का एक मात्र यही कारण था कि पूर्व के समस्त तीर्थंकरों ने देवदूष्य वस्त्र को धारण किया था। आचारांग टीका पत्रांक ३०१ कहा गया है -

‘से बेमि जे य अईया, जे य पडुप्पण्णा, जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंतो जे य पव्वयंति जे य पव्वइस्संति सव्वे ते सोवहिधम्मो देसिअव्वो त्ति कट्टु तित्थधम्मयाए एसा अणुधम्मिगत्ति एणं देवदूसमायाए पव्वइंसु वा पव्वयंति वा पव्वइस्संति व त्ति।’

- मैं कहता हूँ कि जो अर्हन्त भगवान् अतीत में हो चुके हैं, वर्तमान में हैं और जो भविष्य में होंगे उन्हें सोपधिक (धर्मोपकरण युक्त) धर्म को बताना होता है। इस दृष्टि से तीर्थधर्म के लिए यह अनुधर्मिता है। इसीलिए तीर्थंकर एक देवदूष्य वस्त्र लेकर प्रव्रजित हुए हैं, प्रव्रजित होते हैं एवं प्रव्रजित होंगे।

भगवान् के लिये यह पूर्वाचरित धर्म था। इसीलिए उन्होंने देवदूष्य वस्त्र धारण किया था, शीत निवारण के लिए नहीं।

(४६४)

चत्तारि साहिए मासे, बहवे पाणजाइया आगम्म*।

अभिरुज्झकायं विहरिंसु, आरुसियाणं तत्थ हिंसिंसु।।

कठिन शब्दार्थ - साहिए - साधिक - कुछ अधिक, पाणजाइया - प्राणिजातयः - भ्रमर आदि प्राणी, अभिरुज्झ - बैठ कर, आरुसिया - अत्यंत रुष्ट होकर, मांस व रक्त के लिए शरीर पर चढ़कर।

भावार्थ - कुछ अधिक चार मास तक बहुत से भ्रमर (भौर) आदि प्राणी आकर भगवान् के शरीर पर बैठ जाते और रसपान के लिए मंडराते रहते। वे रुष्ट हो कर रक्त मांसादि के लिए भगवान् के शरीर को डसते एवं नोंचने लगते।

* ‘पाणजाइया आगम’ के स्थान पर ‘पाणजातीया आगम्म’ एवं ‘पाणजाति आगम्म’ पाठ मिलता है। चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है - भौर या मधुमक्खियाँ आदि बहुत से प्राणिसमूह आते थे, वे प्राणिसमूह उनके शरीर पर चढ़ कर स्वच्छंद विचरण करते थे।

विवेचन - दीक्षा ग्रहण करते समय भगवान् का शरीर दिव्य गोशीर्ष (बावना) चंदन और सुगंधित चूर्ण से सुगंधित किया गया था उसकी गंध से आकर्षित होकर भंवरे आदि प्राणी उनके शरीर पर आते थे और रक्त मांस की इच्छा से उनके शरीर को डसते थे। कुछ अधिक चार मास तक भगवान् ने उन प्राणियों द्वारा दिया हुआ कष्ट सहन किया था।

(४६५)

संवच्छरं साहियं मासं, जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं।

अचेलए तओ चाई, तं वोसज्ज वत्थमणगारे॥

कठिन शब्दार्थ - संवच्छरं - संवत्सर - वर्ष, ण रिक्कासि - त्याग नहीं किया था, चाई - त्यागी, वोसज्ज - त्याग कर।

भावार्थ - एक वर्ष तथा एक मास से कुछ अधिक काल तक भगवान् ने उस वस्त्र का त्याग नहीं किया था फिर अनगर और त्यागी भगवान् महावीर स्वामी उस वस्त्र का त्याग करके अचेलक - वस्त्र रहित हो गये।

विवेचन - इस गाथा में यह स्पष्ट बतला दिया गया है कि दीक्षा लेते समय इन्द्र ने भगवान् के कंधे पर एक देवदूष्य वस्त्र रखा था वह तेरह महीने से कुछ अधिक समय तक उनके कंधे पर रहा फिर वह स्वतः गिर पड़ा। भगवान् से उसे वापिस उठाया नहीं तब से भगवान् सर्वथा अचेलक (निर्वस्त्र) हो गये।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की दानवीरता बतलाने के लिए कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि - एक गरीब ब्राह्मण ने भगवान् के पास आकर मांगणी की तब भगवान् ने उस वस्त्र में से आधा फाड़ कर ब्राह्मण को दे दिया और आधा अपने पास रख लिया।

उनका यह कहना आगमानुकूल नहीं है बल्कि आगम विरुद्ध है। दूसरी बात यह है कि यदि महावीर की दानवीरता ही बतलाना उन्हें इष्ट था तो पूरा का पूरा वस्त्र दे देते। आधा अपने पास रखना और आधा वस्त्र फाड़ कर देना, यह तो कृपणता को सूचित करता है। अतः वस्त्र फाड़ कर आधा ब्राह्मण को देना, यह बात आगम विरुद्ध है।



भगवान् की ध्यान साधना

(४६६)

अदु पोरिसिं तिरियंभित्तिं, चक्खुमासज्ज अंतसो झाइ।

अह चक्खुभीया सहिया, ते हंता हंता बहवे कंदिसु।।

कठिन शब्दार्थ - पोरिसिं - पुरुष परिमाण, तिरियभित्तिं - तिर्यक् (तिरछे) भाग पर, चक्खुं - दृष्टि को, आसज्ज - लगा कर, आगे रख कर, झाइ - ईर्या समिति पूर्वक गमन करते अथवा ध्यान करते थे, चक्खुभीया - देख कर भयभीत बने हुए, सहिया - एकत्रित होकर, हंता - मार कर, कंदिसु - पुकारते।

भावार्थ - श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पुरुष परिमाण भूमि को आगे देखते हुए ईर्या समिति पूर्वक ध्यान रखते हुए गमन करते थे (अथवा एक प्रहर तक तिरछी भीत पर आंखे गडा कर अंतरात्मा में ध्यान करते थे)। इस प्रकार भगवान् को देख कर भयभीत बने हुए बहुत से बालक एकत्रित हो कर 'मारो-मारो' चिल्लाते हुए अन्य बालकों को पुकारते थे।

विवेचन - इस प्रकार भगवान् को देख कर भयभीत बने हुए छोटे-छोटे बालक उन्हें उपसर्ग देते थे। वे उन पर धूलि फैकते थे तथा मुक्कों आदि से मारते थे और कौतुक देखने के लिए दूसरे बच्चों को भी कोलाहल कर पुकारते थे।

(४६७)

सयणेहिं वित्तिमिस्सेहिं, इत्थीओ तत्थ से परिणाय।

सागारियं ण से सेवे इति, से सयं पवेसिया झाइ।

कठिन शब्दार्थ - सयणेहिं - शय्या अर्थात् स्थान में, वित्तिमिस्सेहिं - व्यतिमिश्रित-गृहस्थ और अन्यतीर्थियों से संयुक्त, सागारियं - सागारिक - मैथुन का, पवेसिया - प्रविष्ट होकर।

भावार्थ - किसी कारण वश गृहस्थ और अन्यतीर्थियों से संयुक्त स्थान में ठहरे हुए भगवान् को देख कर कामाकुल स्त्रियाँ उन्हें मैथुनादि की प्रार्थना करतीं तो वे भोग को कर्म बंध का कारण जान कर मैथुन सेवन नहीं करते थे। वे स्वयं अपनी आत्मा को वैराग्य मार्ग में प्रविष्ट कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान में लीन रहते थे।



विवेचन - भगवान् प्रायः एकान्तसेवी थे परन्तु कभी-कभी जब उनको ऐसा निवास स्थान प्राप्त होता जिससे गृहस्थ और अन्यतीर्थिक साधु भी होते, उस स्थान पर यदि कोई स्त्री मैथुन के लिए प्रार्थना करती तो भगवान् उन्हें जान कर यानी ज्ञ परिज्ञा से शुभगति बाधक समझ कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनका त्याग कर मैथुन सेवन नहीं करते थे और धर्मध्यान शुक्लध्यान ध्याते हुए वैराग्य मार्ग में ही स्थित रहते थे।

(४६८)

जे के इमे अगारत्था, मीसीभावं पहाय से झाइ।

पुट्टो वि णाभिभासिंसु, गच्छइ णाइवत्तइ अंजू॥

कठिन शब्दार्थ - मीसीभावं - मिश्रीभाव - संसर्ग को, णाभिभासिंसु - बोलते नहीं थे, णाइवत्तइ- अतिक्रमण नहीं करते थे।

भावार्थ - यदि कभी गृहस्थों से युक्त स्थान प्राप्त हो जाता तो वे उनमें घुलते मिलते नहीं थे। वे उनके संसर्ग का त्याग करके शुभ ध्यान में लीन रहते थे। वे किसी के पूछने पर अथवा नहीं पूछने पर भी नहीं बोलते थे। कोई बोलने के लिए बाध्य करता तो वे अन्यत्र चले जाते, किन्तु संयमानुष्ठान में तत्पर भगवान् मोक्षमार्ग का अतिक्रमण नहीं करते थे।

(४६९)

णो सुकरमेयमेगेसिं, णाभिभासे अभिवायमाणे।

हयपुव्वो तत्थ दंडेहिं, लूसियपुव्वो अप्पपुण्णेहिं॥

कठिन शब्दार्थ - णो सुकरं - सुगम (सरल) नहीं है, अभिवायमाणे - अभिवादन करने (वंदन करने) वालों से, हयपुव्वो - हनन किये जाने पर, लूसियपुव्वो - छेदन-भेदन करने पर, अप्पपुण्णेहिं - पुण्य रहित - पापी अनार्य पुरुषों द्वारा।

भावार्थ - यह दूसरे सामान्य पुरुषों के लिए सरल नहीं है कि अभिवादन (वंदन) करने वालों से बोले नहीं और अनार्य पुरुषों द्वारा डण्डे आदि से मारने-पीटने पर, अंगों का छेदन भेदन किये जाने पर कुपित नहीं होवे।



विवेचन - भगवान् अभिवादन करने वालों को भी आशीर्वचन नहीं कहते थे और अनार्य पुरुषों द्वारा मारने पीटने पर भी उन्हें शाप नहीं देते थे। अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों में समभाव रखते हुए संयम में लीन रहना अन्य साधकों के लिए बड़ा कठिन है।

(४७०)

फरुसाइं दुत्तितिक्खाइं, अइअच्च मुणी परक्कममाणे।

आघाय-णट्ट-गीयाइं, दंडजुज्जाइं मुट्टिजुज्जाइं॥

कठिन शब्दार्थ - फरुसाइं - कठोर वचनों को, दुत्तितिक्खाइं - अत्यंत दुःसह्य, अइअच्च - ध्यान नहीं देकर, अघाय-णट्ट-गीयाइं - आख्यात, नृत्य और गीत, दंडजुज्जाइं - दण्ड युद्ध, मुट्टिजुज्जाइं - मुष्टियुद्ध।

भावार्थ - अनार्य पुरुषों द्वारा कहे हुए अत्यंत दुःसह्य कठोर वचनों को सुन कर उन पर ध्यान नहीं देते हुए भगवान् समभाव से सहन करने का पराक्रम करते थे। वे आख्यात, नृत्य, गीत, दण्डयुद्ध और मुष्टियुद्ध आदि को देखने की इच्छा नहीं रखते थे।

(४७१)

गडिए मिहो कहासु, समयंमि णायसुए विसोए अदक्खू।

एयाइं से उरालाइं, गच्छइ णायपुत्ते असरणाए॥

कठिन शब्दार्थ - मिहो कहासु - परस्पर वार्तालाप में, व्यर्थ की बातों में, विसोए - हर्ष - शोक से रहित, असरणाए - शरण न लेते हुए।

भावार्थ - ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी किसी समय परस्पर कामोत्तेजक वार्तालाप में आसक्त लोगों को देख कर हर्ष शोक से रहित होकर मध्यस्थ रहते थे। वे इन अनुकूल प्रतिकूल परीषहों का स्मरण नहीं करते हुए संयम में विचरण करते थे।

(४७२)

अवि साहिए दुवे वासे, सीओदगं अभोच्चा णिक्खंते।

एगत्तगए पिहियच्चे, से अहिण्णायदंसणे संते॥

कठिन शब्दार्थ - सीओदगं - शीतोदक - कच्चे पानी का, अभोच्चा - सेवन नहीं कर, गिक्खंते- दीक्षा ग्रहण की, एगत्तगए - एकत्व भावना से भावित चित्त वाले, पिहियच्चे - क्रोध की ज्वाला को शांत कर लिया, अहिण्णायदंसणे - ज्ञान, दर्शन से भावित, संते - शांत।

भाषार्थ - दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक सचित्त जल का सेवन न करके भगवान् ने दीक्षा अंगीकार की थी। वे एकत्व भावना से ओतप्रोत, क्रोध की ज्वाला को शांत किये हुए सम्यग् ज्ञान दर्शन से युक्त शांतचित्त थे।

विवेचन - अपने - माता-पिता का स्वर्गवास हो जाने के बाद भगवान् दीक्षा लेने को तैयार हुए किन्तु भाई नंदीवर्द्धन और अन्य परिवारजनों के अत्याग्रह से दो वर्ष से कुछ अधिक समय भगवान् गृहस्थावास में और ठहरे थे। उस समय भगवान् ने कच्चे (सचित्त) जल का सेवन नहीं किया था। गृहस्थ अवस्था में रहते हुए भी 'मेरा कोई नहीं है, न मैं किसी का हूँ' इस प्रकार की एकत्व भावना से ओतप्रोत हो गये।

'पिहियच्चे' (पिहितार्च्च्य/पिहितार्च्च्य) शब्द के चूर्णिकार ने दो अर्थ किये हैं - १. जिसके आस्रव द्वारा बंद हो गए हैं और २. जिसकी अप्रशस्त भाव रूप अर्चियां अर्थात् राग द्वेष रूप अग्नि की ज्वालाएं शांत हो गयी हैं।

टीकाकार ने इससे भिन्न दो अर्थ इस प्रकार किये हैं - १. जिसने अर्चा - क्रोध-ज्वाला शांत कर दी है और २. अर्चा यानी शरीर को जिसने संगोपित कर लिया है वह भी पिहितार्च्च्य है।

भगवान् की विवेक युक्त चर्या

(४७३)

पुढविं च आउक्कायं, तेउक्कायं च वाउक्कायं च।

पणगाइं बीयहरियाइं तसकायं च सख्वसो णच्चा॥

एयाइं संति पडिलेहे, चित्तमंताइं से अभिण्णाय।

परिवज्जिय विहरिस्था, इइ संखाय से महावीरे॥

कठिन शब्दार्थ - पणगाइं - पनक, बीयहरियाइं - बीज, हरित, चित्तमंताइं सचित्त, पडिलेहे- विचार कर, अभिण्णाय - समझ कर, परिवज्जिय - त्याग करके।



भावार्थ - पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, निगोद-शैवाल आदि बीज और नाना प्रकार की हरी वनस्पति एवं त्रसकाय को सब प्रकार से जान कर तथा ये सब सचित (चेतनावान् अस्तित्ववान्) हैं ऐसा विचार कर और समझ कर भगवान् महावीर स्वामी इन सबके आरंभ (हिंसा) का त्याग करके विचारते थे।

(४७४)

अदु थावरा तसत्ताए, तसजीवा य थावरत्ताए।

अदुवा सव्वजोणिया सत्ता, कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला॥

कठिन शब्दार्थ - सव्वजोणिया - सभी योनियों में, कप्पिया - स्थित है अथवा रूप रचते हैं।

भावार्थ - कर्मों के वशीभूत होकर स्थावर जीव त्रस रूप में अथवा त्रस जीव स्थावर के रूप में उत्पन्न होते हैं अथवा संसारी जीव सभी योनियों में उत्पन्न हो सकते हैं। अज्ञानी जीव अपने अपने कर्मों से पृथक् पृथक् (भिन्न-भिन्न) रूप से संसार में स्थित है अथवा पृथक्-पृथक् रूप रचते हैं।

विवेचन - भगवान् महावीर स्वामी के समय यह लोक मान्यता थी कि जिस योनि में जीव वर्तमान में हैं वह अगले जन्म में भी उसी योनि में उत्पन्न होगा। अर्थात् स्थावर, स्थावर रूप में और त्रस-त्रस रूप में ही उत्पन्न होंगे। भगवान् ने उपरोक्त गाथा से इसका युक्तियुक्त खंडन करते हुए प्रतिपादन किया है कि अपने अपने कर्मोदयवश जीवन एक योनि से दूसरी योनि में जन्म लेता है, त्रस स्थावर रूप में जन्म ले सकता है और स्थावर त्रस रूप में।

भगवती सूत्र शतक १२ उद्देशक ७ में गीतम स्वामी द्वारा यह पूछे जाने पर कि - 'हे भगवन्! यह जीव पृथ्वीकाय के रूप से लेकर त्रसकाय के रूप तक में पहले भी उत्पन्न हुआ है?'

भगवान् ने फरमाया - 'हंता गोयमा! असई अदुवा अणंत खुत्तो जाव उववण्णपुव्वे।' - हे गीतम! हाँ बारबार ही नहीं, अनंतबार सभी योनियों में जन्म ले चुका है।

पुनर्जन्म और सभी योनियों में जन्म की इस बात को इस गाथा में स्पष्ट किया गया है।



(४७५)

भगवं च एवमण्णोसिं, सोवहिए हु लुप्पइ बाले ।

कम्मं च सव्वसो णच्चा, तं पडियाइक्खे पावंगं भगवं ॥

कठिन शब्दार्थ - सोवहिए - सोपधिक - उपधि से युक्त, लुप्पइ - क्लेश को प्राप्त होता है, पडियाइक्खे - त्याग कर दिया।

भावार्थ - भगवान् ने यह भलीभांति जान लिया कि द्रव्य और भाव उपधि से युक्त अज्ञानी जीव निश्चय ही क्लेश को प्राप्त होता है। अतः कर्म (बंधन) को सब प्रकार से जान कर भगवान् ने कर्म को उत्पन्न करने वाले पाप का प्रत्याख्यान कर दिया था।

(४७६)

दुविहं समिच्च मेहावी, किरियमक्खायमणोलिसं णाणी ।

आयाण-सोयमइवायसोयं, जोगं च सव्वसो णच्चा ॥

कठिन शब्दार्थ - किरियं - क्रिया का, अक्खायं - कथन किया, आयाणसोयं - आदान (दुष्प्रयुक्त इंद्रियों के) स्रोत, अइवायसोयं - अतिपात (हिंसा, मृषावाद आदि के) स्रोत।

भावार्थ - मेधावी (सब प्रकार के भावों को जानने वाले) और ज्ञानी (केवलज्ञानी) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दो प्रकार के कर्मों (ईर्याप्रत्यय और साम्परायिक) को भलीभांति जानकर तथा आदान स्रोत, अतिपात स्रोत और योग को सर्व प्रकार से (सम्पूर्ण रूप से) समझ कर अनुपम (दूसरों से विलक्षण) संयम रूप क्रिया का प्रतिपादन किया है।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा में कर्म बंधन के तीन स्रोतों का कथन किया है -

१. आदान स्रोत - दो प्रकार की क्रियाओं से कर्मों का आगमन होता है - १. ईर्याप्रत्ययिक और २. साम्परायिक। अयतनापूर्वक कषाय युक्त प्रमत्त योग से की जाने वाली साम्परायिक क्रिया से कर्मबंध तीव्र होता है, संसार परिभ्रमण बढ़ता है जबकि यतना पूर्वक कषाय रहित होकर अप्रमत्त भाव से की जाने वाली ईर्या प्रत्यय क्रिया से कर्मों का बंध बहुत ही हल्का होता है - संसार परिभ्रमण भी घटता है।



२. अतिपात स्रोत - जिनसे अतिपातक - पाप होता है वे सब हिंसा आदि अतिपात है। अतिपात शब्द में केवल हिंसा ही नहीं असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह का भी समावेश होता है। ये भी कर्मबंधन के स्रोत हैं।

३. योग स्रोत - मन, वचन, काया रूप योगों की प्रवृत्ति से भी शुभ या अशुभ कर्मों का बंध होता है।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् महावीर स्वामी ने इन कर्म बंधन के स्रोतों को अच्छी तरह जान कर कर्ममुक्ति के लिए संयमानुष्ठान रूप अनुपम क्रिया का कथन किया था।

(४७७)

अइवत्तियं अणाउट्टिं, सयमण्णोसिं अकरणयाए।

जस्सित्थिओ परिण्णया, सव्वकम्मावहाओ से अदक्खू॥

कठिन शब्दार्थ - अइवत्तियं - पाप से रहित, अणाउट्टिं - अनावुट्टि-अहिंसा का, सव्वकम्मावहाओ - सब पाप कर्मों का कारण।

भावार्थ - भगवान् ने स्वयं पाप से रहित - निर्दोष अहिंसा का आचरण किया और दूसरों से भी हिंसा नहीं करने का उपदेश दिया। जिन्हें स्त्रियाँ - स्त्री संबंधी काम भोग के कटु परिणाम ज्ञात हैं उन भगवान् महावीर स्वामी ने देखा कि 'कामभोग सर्व पापकर्मों के आधारभूत-उपादान कारण हैं।' ऐसा जानकर भगवान् ने स्त्री - संसर्ग का त्याग कर दिया था।

निर्दोष आहार चर्या

(४७८)

अहाकडं ण से सेवे, सव्वसो कम्मुणा य अदक्खू।

जं किंचि पावगं भगवं, तं अकुव्वं वियडं भुंजित्था।

कठिन शब्दार्थ - अहाकडं - आधाकर्म आहार का, वियडं - प्रासुक, भुंजित्था - सेवन करते थे।

भावार्थ - भगवान् महावीर स्वामी ने देखा कि आधाकर्म आदि दोष युक्त आहार ग्रहण



सब तरह से कर्म बंध का कारण है। अतः उन्होंने आधाकर्म आहार का सेवन नहीं किया था। भगवान् आहार से संबंधित अन्य कोई भी पाप नहीं करते थे किन्तु प्रासुक आहार का सेवन करते थे।

(४७६)

णासेवइय परवत्थं, परपाए वि से ण भुंजित्था।

परिवज्जियाण ओमाणं गच्छइ संखडिं असरणयाए॥

कठिन शब्दार्थ - ओमाणं - अपमान को, असरणयाए - किसी की शरण लिए बिना-अदीन भाव से, संखडिं - आहार के स्थान - भोजनगृहों में।

भावार्थ - भगवान् महावीर स्वामी बहुमूल्य वस्त्रों को या दूसरे के वस्त्रों को धारण नहीं करते थे तथा वे दूसरों के पात्र में भोजन भी नहीं करते थे। वे अपमान का खयाल न करके अदीनवृत्ति से आहार के स्थान में जाते थे।

विवेचन - कुछ लोग यह कहते हैं कि - 'श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने पहले पारणे में गृहस्थ के बर्तन में आहार किया था' परन्तु यह बात इस मूल आगम के विरुद्ध है। सब तीर्थंकर भगवान् करपात्री (हाथ में लेकर ही आहार करने वाले) होते हैं। दीक्षा लेने के बाद वे गृहस्थ के बर्तन की बात तो दूर किन्तु दूसरे साधु के पात्र में भी आहार नहीं करते हैं। वे अछिद्रपाणि होते हैं अर्थात् उनके हाथ की अंगुलियों के बीच के छिद्र भी नहीं होते अतः हाथ में लिये हुए आहार और पानी में से एक कण या एक बूंद भी नीचे नहीं गिरती है।

(४८०)

मायण्णे असणपाणस्स, णाणुगिद्धे रसेसु अपडिण्णे।

अच्छिं पि णो पमज्जिजा णो वि य कंडुयए मुणी गायं।

कठिन शब्दार्थ - मायण्णे - मात्रा - मात्रा (परिमाण) को जानने वाले, अपडिण्णे - अप्रतिज्ञ, अच्छिं - आंख का, कंडुयए - खाज की।

भावार्थ - भगवान् आहार पानी की मात्रा को जानते थे वे रसों में आसक्त नहीं थे, वे



भोजन संबंधी प्रतिज्ञा भी नहीं करते थे। वे मुनीन्द्र भगवान् महावीर स्वामी आंख में रज कण आदि गिर जाने पर भी उसका प्रमार्जन नहीं करते और न ही शरीर को खुजलाते थे।

विवेचन - भगवान् मात्रज्ञ थे। वे मात्रा के अनुसार ही आहार पानी का ग्रहण करते थे। वे रसों में मूर्च्छा रहित थे। 'आज मैं सिंह केशरिया मोदक आदि मिष्टान्न ही लूंगा' ऐसी प्रतिज्ञा नहीं करते थे किन्तु नीरस कुल्माष - कुलथी आदि के लिए तो अभिग्रह करते ही थे। भगवान् ने न तो कभी धूलिकण आदि को निकालने के लिए नेत्र को परिमार्जित किया और न काष्ठ आदि के द्वारा अपने अंगों में खाज ही की थी।

(४८१)

अप्यं तिरियं पेहाए, अप्यं पिट्ठओ व पेहाए।

अप्यं बुइएऽपडिभाणी, पंथपेही चरे जयमाणे।

कठिन शब्दार्थ - पेहाए - देखते हुए, बुइए - मौन, पंथपेही - मार्ग को देखते हुए, अपडिभाणी - नहीं बोलते थे।

भावार्थ - भगवान् मार्ग में चलते हुए न तिरछे (दाएं बाएं) देखते थे और न पीछे देखते थे। वे यतना पूर्वक मार्ग को देखते हुए चलते थे। किसी के कुछ पूछने पर भी वे नहीं बोलते थे किन्तु मौन रहते थे।

(४८२)

सिसिरंसि अद्धपडिवण्णे, तं वोसज्ज वत्थमणगारे।

पसारित्तु बाहुं परक्कमे, णो अवलंबियाण खंधंसि ॥

कठिन शब्दार्थ - सिसिरंसि - शिशिर ऋतु के, अद्धपडिवण्णे - मार्ग में प्रतिपन्न हुए, पसारित्तु - फैला कर, बाहुं - भुजाओं को, परक्कमे - चलते थे, अवलंबियाण - सहारा लेकर, खंधंसि - कंधों का।

भावार्थ - शिशिर ऋतु (शीतकाल) में मार्ग में चलते हुए भगवान् महावीर स्वामी उस देवदूष्य वस्त्र को भी मन से त्याग कर भुजाओं को फैला कर चलते थे किन्तु शीत से पीड़ित होकर भुजाओं को संकुचित कर तथा कंधों का अवलंबन लेकर नहीं चलते थे।



अहिंसा युक्त क्रिया विधि

(४८३)

एस विही अणुक्कंतो, माहणेण मइमया।

बहुसो अपडिण्णेण, भगवया एवं रीयंति ॥ त्ति बेमि ॥

॥ णवमं अज्झयणं पढमोद्देसो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - विही - विधि का, अणुक्कंतो - आचरण किया, अपडिण्णेण - निदान रहित, रीयंति - आचरण करते हैं।

भावार्थ - ज्ञानवान् (मतिमान्) महामाहन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने निदान रहित इस पूर्वोक्त क्रिया-विधि का आचरण किया और अनेक प्रकार से इसका उपदेश दिया। अतः मोक्षार्थी मुमुक्षु आत्माओं को इसी विधि का आचरण करना चाहिये। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत उद्देशक में साधक के लिए जो अहिंसा युक्त क्रिया विधि बताई है वह केवल भगवान् महावीर स्वामी द्वारा उपदिष्ट ही नहीं है अपितु स्वयं के द्वारा आचरित भी है। इसी बात को इस गाथा में स्पष्ट किया है। भगवान् की आत्मा ने जिस साधना पथ पर आगे बढ़ते हुए सिद्धत्व पद को प्राप्त किया उसी साधना पथ को आचरित कर संसार की प्रत्येक आत्मा सिद्ध पद को प्राप्त कर सकती है।

जैन धर्म का पूर्ण विश्वास है कि प्रत्येक आत्मा में सिद्ध बनने की शक्ति है, प्रत्येक आत्मा सिद्धों के जैसी ही आत्मा है और साधना पथ को स्वीकार करके सिद्ध बन सकती है। अतः भगवान् महावीर स्वामी ने जिस प्रकार आचरण किया था, अन्य मोक्षार्थी पुरुषों को भी इसी प्रकार आचरण करना चाहिए, ऐसा श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य श्री जम्बू स्वामी से कहते हैं।

॥ इति नीवें अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥



नवमं अज्झयणं बीओद्देशो

नवम अध्ययन का द्वितीय उद्देशक

नौवें अध्ययन के प्रथम उद्देशक में भगवान् महावीर स्वामी की विहार चर्या विधि का वर्णन किया गया है। अब इस द्वितीय उद्देशक में उस वसति का वर्णन किया जाता है जहाँ भगवान् ठहरते थे। इस उद्देशक की प्रथम गाथा इस प्रकार है -

भगवान् की शय्या और आसन

(४८४)

चरियासणाइं सेज्जाओ, एगइयाओ जाओ बुइयाओ।

आइक्ख ताइं सयणासणाइं, जाइं सेवित्थ से महावीरे॥

कठिन शब्दार्थ - चरिया - चर्या, आसणाइं - आसन, सेज्जाओ - शय्याएं, बुइयाओ - कही गई हैं, आइक्ख - कहिये, सयणासणाइं - शय्या और आसन का।

भावार्थ - जम्बू स्वामी अपने गुरु श्री सुधर्मा स्वामी से पूछते हैं कि हे भगवन्! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने जैसी शय्या और आसनादि का सेवन किया था उन शय्या और आसन आदि के विषय में मुझ से कहिये।

(४८५)

आवेसण-सभा-पवासु, पणियसालासु एगया वासो।

अदुवा पलियट्ठाणेसु, पलालपुंजेसु एगया वासो॥

कठिन शब्दार्थ - आवेसण - शून्य घर में, पवासु - पानी के स्थान - प्याऊ में, पणिय सालासु - ण्य शाला - दुकानों में, वासो - निवास करते थे, पलियट्ठाणेसु - लुहार आदि की शाला में, पलालपुंजेसु - पलालपुंज में - जहाँ चारों ओर स्तंभों के सहारे पलाल (तृण पुंज) को एकत्रित करके रखा हो ऐसे स्थान में।

भावार्थ - भगवान् महावीर स्वामी कभी सूने खण्डहरों में, कभी सभाओं, कभी प्याऊओं

और कभी दुकानों में निवास करते थे। अथवा कभी लुहार, सुथार आदि के कार्य करने के स्थानों (कारखानों) में और मंच के ऊपर रखे तृण पुंजों के नीचे निवास करते थे।

(४८६)

आगंतारे आरामागारे तह य णगरे वि एगया वासो।

सुसाणे सुण्णगारे वा, रुक्खमूले वि एगया वासो ॥

कठिन शब्दार्थ-आगंतारे - मुसाफिरों के उतरने के स्थान धर्मशाला आदि में, आरामागारे-आरामगृह - बगीचे में बने हुए मकान में, सुसाणे - श्मशान में, सुण्णगारे - शून्य घर में, रुक्खमूले - वृक्ष के नीचे।

भावार्थ - भगवान् कभी धर्मशाला (यात्रीगृह) में, कभी आरामगृह में अथवा गांव या नगर में निवास करते थे अथवा कभी श्मशान में, कभी शून्यगृह में तो कभी वृक्ष के नीचे ही निवास करते थे।

विवेचन - उपर्युक्त गाथाओं में भगवान् महावीर स्वामी के ठहरने के स्थानों का वर्णन किया गया है। भगवान् ऐसे स्थानों पर ठहरते थे जो एकान्त एवं निर्दोष हो, जहाँ किसी को किसी तरह का कष्ट न हो और अपनी साधना भी चलती रहे। वे अपने ऊपर आने वाले समस्त परीषहों को समभाव से सहन कर लेते थे किन्तु अपने जीवन से किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देते थे।

(४८७)

एएहिं मुणी सयणेहिं, समणे आसी पतेरसवासे ॥

राइंदियं पि ॥ जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए झाइ ॥

कठिन शब्दार्थ - पतेरसवासे-पतेलसवासे - उत्कृष्ट तेरह वर्ष तक अर्थात् तेरह वर्ष से अधिक नहीं किन्तु तेरह वर्ष से कुछ कम समय तक, राइंदियंवि-राइंदिवं पि - रात दिन, जयमाणे - यतनापूर्वक, समाहिए - समाहित - समाधि - मानसिक स्थिरता युक्त, झाइ - ध्यान करते थे।

❖ पाठान्तर - पतेलसवासे।

❖ पाठान्तर - राइंदिवं पि।



भावार्थ - श्रमण भगवान् महावीर स्वामी तेरह वर्ष से कुछ कम समय (१२ वर्ष ६ महीने पन्द्रह दिन) तक तप साधना करते हुए रात दिन यतना पूर्वक अप्रमत्त होकर समाधि पूर्वक धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान ध्याते थे।

निद्रा त्याग

(४८८)

णिहंपि णो पगामाए, सेवइ भगवं उट्ठाए।

जग्गावई य अप्पाणं, ईसिं साई य अपडिण्णे ॥

कठिन शब्दार्थ-पगामाए - प्रकामतः - इच्छा पूर्वक, जग्गावई - जागृत रखते, ईसिं-थोड़ी-सी, साई - निद्रा।

भावार्थ - भगवान् निद्रा का सेवन भी नहीं करते थे। यदि कभी थोड़ी-सी भी निद्रा उन्हें सताती तो वे उठकर अपनी आत्मा को पूर्णतया सदा जागृत रखते थे अर्थात् उत्तम अनुष्ठान में तल्लीन रखते थे किन्तु सोने की कभी भी इच्छा तक नहीं करते थे।

(४८९)

संबुज्झमाणे पुणरवि, आसिंसु भगवं उट्ठाए।

णिक्खम्म एगया राओ, बहिं चंकमिया मुहुत्तागं ॥

कठिन शब्दार्थ - णिक्खम्म - निकल कर, चंकमिया - चंक्रमण - घूम कर।

भावार्थ - निद्रा रूप प्रमाद को संसार का कारण जान कर भगवान् सदा अप्रमत्त भाव से संयम साधना में संलग्न रहते थे। यदि कभी शीतकाल की रात्रि में निद्रा आने लगती तो मुहूर्त्त भर बाहर चंक्रमण कर घूम कर पुनः ध्यान एवं आत्म चिंतन में संलग्न हो जाते थे।

विवेचन - भगवान् महावीर स्वामी ने छद्मस्थ अवस्था में कभी भी आभोग पूर्वक निद्रा प्रमाद का सेवन नहीं किया। फिर भी कठिन आसनों के करते हुए भी कभी-कभी थोड़ी-थोड़ी-सी निद्रा (आधा मिनट-एक मिनट आदि) आ जाती थी। भगवान् तो निद्रा न आवे, इसके प्रति पूर्ण जागरूक रहते थे। इस प्रकार निद्रा का थोड़ा-थोड़ा काल मिलाकर भगवान् के छद्मस्थ काल में एक मुहूर्त्त जितना निद्रा का काल हुआ। ऐसा ग्रंथकार बताते हैं।



विविध-उपसर्ग

(४६०)

सयणेहिं तत्थुवसग्गा, भीमा आसी अणेगरूवा य।

संसप्पगा य जे पाणा, अदुवा जे पक्खिणो उवचरंति ॥

कठिन शब्दार्थ - सयणेहिं - आवास स्थानों में, भीमा - भयंकर, संसप्पगा - संसर्पक - सरक कर चलने वाले सर्प, नकूल आदि, उवचरंति - उपसर्ग करते हैं।

भावार्थ - भगवान् जिन स्थानों में ठहरते थे वहाँ अनेक प्रकार के भयंकर उपसर्ग आते थे। कभी सांप और नेवला आदि प्राणी काट खाते तो कभी गिद्ध आदि पक्षी आकर मांस नोचते थे।

(४६१)

अदु कुचरा उवचरंति गामरक्खा य सत्तिहत्था य।

अदुगामिया उवसग्गा इत्थी एणइया पुरिसो य ॥

कठिन शब्दार्थ - कुचरा - चोर और पारदारिक आदि, सत्तिहत्था - हाथ में शस्त्र लिये हुए, गामरक्खा - ग्राम रक्षक, गामिया - ग्राम के।

भावार्थ - भगवान् को कभी चोर और पारदारिक आदि और कभी शक्ति और माला आदि शस्त्र हाथ में रखने वाले ग्राम रक्षक (पहरेदार, कोतवाल आदि) उन्हें उपसर्ग देते थे और कभी ग्राम के स्त्री अथवा पुरुष उन्हें कष्ट देते थे।

(४६२)

इहलोइयाइं परलोइयाइं भीमाइं अणेगरूवाइं।

अवि सुब्भिदुब्भिगंधाइं सदाइं अणेगरूवाइं ॥

अहियासए सया समिए, फासाइं विरूवरूवाइं।

अरइं रइं अभिभूय, रीयइ माहणे अबहुवाइं ॥

कठिन शब्दार्थ - इहलोइयाइं - इहलौकिक (मनुष्य तिर्यच संबंधी), परलोइयाइं - पारलौकिक (देव संबंधी) रीयइ - विचरण करते, अबहुवाइं - बहुत नहीं बोलते हुए।



भावार्थ - भगवान् महावीर स्वामी ने इहलौकिक और पारलौकिक नाना प्रकार के भयंकर उपसर्ग सहन किये। वे अनेक प्रकार के सुगंध और दुर्गन्ध में तथा प्रिय अप्रिय शब्दों में हर्ष-शोक रहित मध्यस्थ रहते थे।

उन्होंने सदा समित (समिति युक्त) होकर अनेक प्रकार के कष्टों को समभाव पूर्वक सहन किया। वे संयम में होने वाली अरति और असंयम में होने वाली रति को हटा कर बहुत कम बोलते हुए संयम में विचरण करते थे।

(४६३)

स जणेहिं तत्थ पुच्छिंसु, एगचरा वि एगया राओ।

अव्वाहिए कसाइत्था, पेहमाणे समाहिं अपडिण्णे ॥

कठिन शब्दार्थ - पुच्छिंसु - पूछते थे, एगचरा - अकेले घूमने वाले, अव्वाहिए - कुछ नहीं बोलने पर, कसाइत्था - क्रोधित (रुष्ट) होकर, समाहिं - समाधि में, पेहमाणे - लीन रहते हुए, अपडिण्णे - इच्छा नहीं करते।

भावार्थ - जब भगवान् जन शून्य स्थानों में एकाकी होते तब कुछ लोग आकर पूछते - 'तुम कौन हो? यहाँ क्यों खड़े हो?' कभी अकेले घूमने वाले लोग रात में आकर पूछते - 'इस सूने घर में तुम क्या कर रहे हो' तब भगवान् कुछ नहीं बोलते, इससे क्रोधित होकर वे दुर्व्यवहार करते फिर भी भगवान् समाधि में लीन रह कर अपने अपमान का बदला लेने की इच्छा नहीं करते थे।

(४६४)

अयमंतरंसि को एत्थ, अहमंसि ति भिक्खू आहट्टु।

अयमुत्तमे से धम्मे तुसिणीए कसाइए झाइ ॥

कठिन शब्दार्थ - अंतरंसि - इस स्थान के अंदर, तुसिणीए - मौन हो जाते, उत्तमे - उत्तम।

भावार्थ - 'यहाँ इस मकान के अन्दर यह कौन है?' ऐसा पूछने पर 'मैं भिक्षु हूँ' इस प्रकार कह कर भगवान् मौन हो जाते थे। यदि वे भगवान् पर क्रोध करते तो इस परीषह को समभाव पूर्वक सहन करना उत्तम धर्म है, ऐसा जान कर वे भगवान् चुपचाप रह कर शुभ ध्यान में संलग्न रहते थे।



(४६५)

जंसिप्येगे पवेयंति, सिसिरे मारुए पवायंते ।

तंसिप्येगे अणगारा, हिमवाए णिवायमेसंति ॥

कठिन शब्दार्थ - पवेयंति - कांपने लगते हैं, हिमवाए - हिमपात, मारुए - हवा, पवायंते - चलने पर, णिवायं - वायु रहित, एसंति - ढूँढते हैं।

भावार्थ - शिशिर ऋतु में ठण्डी हवा चलने पर कई पुरुष शीत से कांपने लगते हैं उस शिशिर ऋतु में हिमपात होने पर कुछ अनगार भी निर्वात - वायु रहित स्थान ढूँढते हैं।

(४६६)

संघाडीओ पवेसिस्सामो, एहा य समादहमाणा ।

पिहिया वा सक्खामो, अइदुक्खं हिमगसंफासा ।

कठिन शब्दार्थ - संघाडीओ - संघाटी - चादर, कम्बल आदि वस्त्रों में, पवेसिस्सामो - प्रवेश करेंगे, घुस जाएंगे, समादहमाणा - जला कर, एहा - काष्ठादि, पिहिया - ढक कर, बंद कर, सक्खामो - सहन कर सकेंगे, अइदुक्खं - अत्यंत दुःखदायी, हिमगसंफासा - हिमजन्य शीत स्पर्श।

भावार्थ - कुछ साधु यह विचार करते कि कम्बल, चादर आदि वस्त्रों में घुस जाएंगे अथवा काष्ठादि जला कर किवाड़ों को बंद करके इस ठंड को सह सकेंगे क्योंकि हिमजन्य शीत स्पर्श अत्यंत दुःखदायी है, ऐसा वे सोचते थे।

(४६७)

तंसि भगवं अपडिण्णे, अहे वियडे अहिसायए दविए ।

णिक्खम्म एग्या राओ चाएइ भगवं समियाए ॥

कठिन शब्दार्थ - अहे वियडे - चारों तरफ की दीवारों से रहित केवल ऊपर से आच्छादित स्थान - कच्चे आंगन वाले मंडप में।

भावार्थ - उस शिशिर ऋतु में भी भगवान् वायु रहित स्थान की खोज या वस्त्र पहनने



ओढने अथवा आग जलाने की इच्छा भी नहीं करते। कभी रात्रि में भगवान् उस ठहरे हुए स्थान - मंडप से बाहर निकल जाते और वहाँ मुहूर्त भर ठहर कर पुनः मंडप में आ जाते। इस प्रकार भगवान् उसी शीत ऋतु में शीतादि परीषह को समभाव से सहन करते थे।

विवेचन - शिशिर ऋतु में साधारण व्यक्ति शीत से कांपने लगते हैं और शीत स्पर्श की पीड़ा बड़ी दुःसह होती है। ऐसा विचार कर अन्यतीर्थिक साधु भी शीत निवारणार्थ कम्बल आदि की याचना करते, हवा रहित स्थान का आश्रय लेते अथवा लकड़ी जला कर शीत की निवृत्ति की इच्छा करते हैं किन्तु भगवान् महावीर स्वामी इन सबकी इच्छा रहित होकर समभाव पूर्वक शीत स्पर्श को सहन करते थे और कभी रात्रि में शीत (सर्दी) प्रगाढ़ हो जाती तब अपने ठहरे हुए स्थान से बाहर निकल कर पुनः अपने स्थान में आकर ध्यानस्थ खड़े हो जाते थे। इस प्रकार भगवान् परीषहों को सम्यक् प्रकार से समभाव पूर्वक सहन करने में समर्थ थे।

(४६८)

एस विही अणुक्कंतो माहणेण मइमया।

बहुसो अपडिण्णेणं, भगवया एवं रीयंति ॥त्ति बेमि।

॥ णवमं अज्झयमं बीओद्देसो समत्तो ॥

भावार्थ - मतिमान् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने बहुत बार निदान रहित इस विधि का आचरण किया था। इसलिए मोक्षार्थी आत्माओं को इस विधि का आचरण करना चाहिए। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि भगवान् महावीर स्वामी ने प्रस्तुत उद्देशक में वर्णित संयमानुष्ठान का संयमविधि का स्वयं पालन किया है और आत्म-विकास के अभिलाषी इस विधि का आचरण करते हैं अतः अन्य मोक्षार्थी पुरुषों को भी उनका अनुकरण करना चाहिये।

॥ इति नवम् अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥



णवमं अण्डयणं तइओद्देशो

नवम अध्ययन का तृतीय उद्देशक

दूसरे उद्देशक में भगवान् की शय्या के विषय में कहा गया है। उन स्थानों में रहते हुए भगवान् ने जो परीषह उपसर्ग सहन किये थे उनका वर्णन इस तीसरे उद्देशक में किया जाता है -

(४६६)

तणफासे, सीयफासे य तेउफासे य, दंसमसगे य।

अहियासए सया समिए, फासाइं विरूवरूवाइं॥

भावार्थ - भगवान् महावीर स्वामी तृण स्पर्श, शीत स्पर्श, तेज (उष्ण) स्पर्श और दंशमशक (डांस और मच्छरों का) स्पर्श तथा अन्य नाना प्रकार के स्पर्शों - परीषहों उपसर्गों को सदा समिति युक्त होकर - समभाव पूर्वक सहन करते थे।

लाढ देश में विचरण

(५००)

अह दुच्चरलाढमचारी, वज्जभूमिं च सुब्भभूमिं च।

पंतं सेज्जं सेविंसु, आसणगाणि चेव पंताणि॥

कठिन शब्दार्थ - दुच्चर - दुश्चर - दुर्गम्य - जहां विचरना बड़ा कठिन है, लाढं - लाढ देश में, अचारी - विचरण किया, पंतं - प्रान्त, सेज्जं - शय्या का, सेविंसु - सेवन किया था।

भावार्थ - दुर्गम लाढ देश की वज्जभूमि और शुभ्र भूमि में भगवान् ने विचरण किया था वहां उन्होंने बहुत ही प्रांत - तुच्छ शय्या का और कठिन आसनों का सेवन किया था।

विवेचन - “अभी मुझे बहुत से कर्मों की निर्जरा करनी है, इसलिए लाढ देश में जाऊं। वहां अनार्य लोग हैं वहां कर्म निर्जरा के निमित्त अधिक उपलब्ध होंगे” - ऐसा विचार कर भगवान् महावीर स्वामी जहां विचरना बड़ा ही कठिन है ऐसे लाढ देश की वज्जभूमि और



शुभ्रभूमि इन दोनों ही प्रदेशों में विचरे थे। वहां अनेक उपद्रवों से युक्त सूने घर आदि में भगवान् ठहरे और काठ आदि के टेढे मेढे आसन पर शयन किया था।

(५०१)

लाढेहिं तस्सुवसग्गा, बहवे जाणवया लूसिंसु।

अह लूहदेसिए भत्ते, कुक्कुरा तत्थ हिंसिंसु णिवइंसु॥

कठिन शब्दार्थ - जाणवया - जानपदाः-लोग, लूसिंसु - मारते थे, लूहदेसिए - रूक्ष - रूखा सूखा, भत्ते - आहार पानी, कुक्कुरा - कुत्ते, हिंसिंसु - काटते थे, णिवइंसु - टूट पड़ते थे।

भावार्थ - लाढ देश में भगवान् महावीर स्वामी को बहुत उपसर्ग हुए। वहां के बहुत से अनार्य लोग भगवान् पर डण्डों आदि से प्रहार करते थे। उस देश के लोग ही रूखे थे अतः आहार भी रूखा सूखा ही मिलता था। वहां के कुत्ते उन पर टूट पड़ते थे और काट खाते थे।

(५०२)

अप्पे जणे णिवारेइ, लूसणए सुणए डसमाणे।

छुच्छुक्कारंति आहंतु 'समणं कुक्कुरा दसंतु' त्ति॥

कठिन शब्दार्थ - णिवारेइ - हटाते हैं, लूसणए - लूषणक - काटते हुए, सुणए - कुत्तों का, डसमाणे - काटते हुए, छुच्छुक्कारंति - छू-छू करके, दसंतु - काट खाये।

भावार्थ - लाढ देश में विचरते हुए कुत्ते काटने लगते या भौंकते तो बहुत थोड़े लोग उन काटते हुए कुत्तों को हटाते/रोकते जबकि अधिकांश लोग तो 'इस साधु को ये कुत्ते काटें' इस नीयत से कुत्तों को बुलाते और छू-छू कर उनके पीछे लगाते।

(५०३)

एलिक्खए जणे भुज्जो, बहवे वज्जभूमि फरुसासी।

त्तद्धिं गहाय णालियं, समणा तत्थ एव विहरिंसु॥

कठिन शब्दार्थ - एलिक्खए - इस प्रकार के, भुज्जो - पुनः-पुनः, फरुसासी - रूक्ष



आहार करने के कारण कठोर स्वभाव वाले, लट्टि - शरीर प्रमाण लाठी, णालियं - नालिका-शरीर से चार अंगुल लम्बी लकड़ी को, विहरिसु - विहार किया था।

भावार्थ - इस प्रकार के स्वभाव वाले वहां बहुत लोग थे। उस लाढ देश में भगवान् ने पुनः पुनः विचरण किया। उस वज्रभूमि के बहुत से मनुष्य रूक्ष आहार करने वाले होने के कारण कठोर स्वभाव वाले थे। वहां अन्यतीर्थिक श्रमण लाठी और नालिका लेकर विचरते थे।

(५०४)

एवं पि तत्थ विहरंता, पुट्टपुब्बा अहेसि सुणएहिं।

संलुंचमाणा सुणएहिं, दुच्चरगाणि तत्थ लाढेहिं॥

कठिन शब्दार्थ - विहरंता - विचरते हुए, संलुंचमाणा - नोचे गये, दुच्चरगाणि - विचरण करना दुष्कर।

भावार्थ - इस प्रकार वहां विचरण करने वाले अन्यतीर्थिक श्रमणों को कुत्ते काट खाते या नोच डालते। उस लाढ देश में विचरण करना बड़ा ही कठिन था।

विवेचन - उस लाढ देश में अन्यतीर्थिक भिक्षु हाथ में लाठी या नालिका लेकर विचरते थे फिर भी उनको कुत्ते काट खाते थे या नोच डालते थे, ऐसे विकट लाढ देश में भगवान् ने छह मास तक विचरण किया जहां विचरण करना बहुत ही दुष्कर था।

(५०५)

णिहाय दंडं पाणेहिं, तं कायं वोसिज्जमणगारे।

अह गामकंटए भगवं, ते अहियासए अभिसमेच्चा॥

कठिन शब्दार्थ - णिहाय - त्याग करके, वोसिज्ज - ममत्व का त्याग करके, गामकंटए-ग्रामीणों के कंटक के समान कठोर वाक्यों को, अभिसमेच्चा - जान कर।

भावार्थ - अनगर भगवान् महावीर स्वामी प्राणियों को मन, वचन, काया से दण्ड देने का परित्याग करके और अपने शरीर के प्रति ममत्व का त्याग करके विचर रहे थे। परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करने से निर्जरा होती है, ऐसा जान कर भगवान् उन ग्राम्यजनों के कांटों के समान तीखे वचनों को समभाव से सहन करते थे।



(५०६)

णाओ संगामसीसे वा, पारए तत्थ से महावीरे।

एवं पि तत्थ लाढेहिं, अलद्धपुव्वो वि एगया गामो ॥

कठिन शब्दार्थ - णाओ - हाथी, संगामसीसे - संग्राम के अग्रभाग में, पारए - पार पा जाता है, अलद्ध पुव्वो - न मिलने पर।

भावार्थ - जैसे हाथी संग्राम के अग्र भाग में शत्रुओं का प्रहार सहन करता हुआ शत्रुसेना को पार कर जाता है उसी प्रकार उन भगवान् महावीर स्वामी ने लाढ देश में परीषहों को सहन करते हुए पार पाया था। कभी कभी तो लाढ देश में ठहरने को गांव में स्थान नहीं मिलने पर उनको अरण्य (जंगलादि में वृक्षादि के नीचे) में रहना पड़ा।

(५०७)

उवसंकमंतमपडिण्णं, गामंतियंपि अप्पत्तं।

पडिणिक्खमित्तु लूसिंसु, एयाओ परं पत्तेहि त्ति ॥

कठिन शब्दार्थ - उवसंकमंतं - भिक्षा या निवास के लिए, अपडिण्णं - प्रतिज्ञा रहित, गामंतियं वि - ग्राम के निकट, अप्पत्तं - अप्राप्त होने पर, पडिणिक्खमित्तु - ग्राम से बाहर निकल कर, परं - दूर, पत्तेहि त्ति - चले जाओ।

भावार्थ - भगवान् महावीर स्वामी नियत स्थान या आहार की प्रतिज्ञा नहीं करते थे किन्तु आवश्यकता वश निवास या आहार के लिए वे ग्राम की ओर जाते थे। वे ग्राम के निकट पहुँचते, न पहुँचते तब तक तो कुछ लोग गांव से निकल कर भगवान् को रोक लेते, उन पर डंडे आदि से प्रहार करते और कहते-‘यहाँ से आगे कहीं दूर चले जाओ।’

(५०८)

हयपुव्वो तत्थ दंडेण, अदुवा मुट्ठिणा, अदु कुंताइफलेणं।

अदु लेसुणा कवाल्लेणं, हंता हंता बहवे कंदिसु ॥

कठिन शब्दार्थ - हयपुव्वो - पहले मारा, दंडेण - डंडे से, मुट्ठिणा - मुट्ठी से,



कुंताइफलेणं - भाले से, लेलुणा - मिट्टी के ढेले से, कवालेणं - ठीकरों से (टूटे हुए घड़े के टुकड़ों से) कंदिंसु - कोलाहल करते।

भावार्थ - उस लाढ देश में भगवान् को बहुत से लोग डण्डे से या मुक्के से अथवा भाले आदि से अथवा मिट्टी के ढेले से या ठीकरे से मारते थे फिर 'मारो मारो' कह कर होहल्ला मचाते थे।

(५०६)

मंसाइं छिण्णपुव्वाइं, उट्ठंभिया एगया कायं।

परीसहाइं लुंचिंसु, अदुवा पंसुणा अवकरिंसु॥

कठिन शब्दार्थ - मंसाइं - मांस, छिण्णपुव्वाइं - काट लेते थे, उट्ठंभिया - पकड़ कर, पंसुणा - धूल, अवकरिंसु - फेंकते थे, उछालते थे।

भावार्थ - वे अनार्य लोग कभी-कभी भगवान् का मांस काट लेते थे और कभी-कभी उनके शरीर को पकड़ कर धक्का देते थे और कभी-कभी उन्हें पीटते थे अथवा उनके ऊपर धूल उछालते थे। इस प्रकार वे लोग अनेक परीषह देते थे किन्तु भगवान् उन सब को समभाव पूर्वक सहन करते थे।

(५१०)

उच्चालइय णिहणिसु, अदुवा आसणाओ खलइंसु।

वोसट्ठकाए पणयासी, दुक्खसहे भगवं अपडिण्णे॥

कठिन शब्दार्थ - उच्चालइय - ऊपर उठा कर, णिहणिसु - नीचे गिरा देते थे, आसणाओ - आसन से, खलइंसु - धक्का दे कर दूर धकेल देते थे, पणया - प्रणत - परीषह सहन करने में तत्पर।

भावार्थ - वे अनार्य लोग ध्यानस्थ भगवान् को ऊंचा उठा कर नीचे गिरा देते थे। अथवा धक्का मार कर आसन से दूर धकेल देते थे किन्तु भगवान् शरीर ममत्व का त्याग किये हुए परीषह सहन करने में तत्पर थे। भगवान् उन समस्त कष्टों को सहते थे और उनकी निवृत्ति (दुःख प्रतिकार) के लिए प्रतिज्ञा रहित थे।



मोक्ष^१ मार्ग में पराक्रम

(५११)

सूरो संगामसीसे वा, संवुडे तत्थ से महावीरे।

पडिसेवमाणो फरुसाइं, अचले भगवं रीड्त्था ॥

भावार्थ - जैसे शूरवीर पुरुष संग्राम के अग्र भाग में युद्ध करता हुआ शत्रुओं द्वारा क्षुब्ध (विचलित) नहीं होता उसी प्रकार संवर का कवच पहने हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी लाढ़ देश में विचरते हुए परीषह रूपी सेना से क्षुब्ध (विचलित) नहीं होते थे अपितु उन कठोर परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करते हुए मेरुपर्वत की तरह अपने ब्रतों एवं ध्यान में अचल रह कर संयम में विचरण करते थे, मोक्ष मार्ग में पराक्रम करते थे।

(५१२)

एस विही अणुक्कंतो, माहणेण मईमया।

बहुसो अपडिण्णेणं भगवया एवं रीयंति ॥ त्ति बेमि ॥

॥ णवमं अज्झयणं तइओद्देसो समत्तो ॥

भावार्थ - मतिमान श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने बहुत बार निदान रहित इस विधि का आचरण किया था अतः मोक्षार्थी आत्माओं को भी इस विधि का आचरण करना चाहिये - ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन - सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने प्रस्तुत उद्देशक में वर्णित संयमानुष्ठान - संयमविधि का स्वयं पालन किया है और आत्मविकास के अभिलाषी इस विधि का आचरण करते हैं अतः अन्य मोक्षार्थी पुरुषों को भी उनका अनुकरण करना चाहिए।

॥ इति नवम अध्ययन का तीसरा उद्देशक समाप्त ॥



णवमं अज्झयणं चउत्थोद्देशो

नवम अध्ययन का चौथा उद्देशक

तीसरे उद्देशक में भगवान् को दिये गये परीषह उपसर्गों का कथन किया गया है। अब इस चौथे उद्देशक में भगवान् की कठोर तप साधना का वर्णन किया जाता है -

(५१३)

ओमोयरियं चाएइ, अपुट्टेवि भगवं रोगेहिं।

पुट्टो वा से अपुट्टा वा, णो से साइज्जइ तेइच्छं॥

कठिन शब्दार्थ - ओमोयरियं - ऊनोदरी तप को, चाएइ - करने में समर्थ थे, अपुट्टे-स्पृष्ट न होने पर, णो साइज्जइ - नहीं चाहते थे, तेइच्छं - चिकित्सा।

भावार्थ - भगवान् रोगों से स्पृष्ट (आक्रांत) नहीं होने पर भी ऊनोदरी तप करते थे। रोगादि के होने पर अथवा नहीं होने पर भगवान् कभी भी चिकित्सा करवाना नहीं चाहते थे।

विवेचन - शरीर रोगों का घर है। इसमें अनेक रोग रहे हुए हैं। जब कभी वेदनीय कर्म के उदय से कोई रोग होता है तो लोग उसे उपशांत करने के लिए अनुकूल औषध एवं पथ्य का सेवन करते हैं परन्तु भगवान् महावीर स्वामी अस्वस्थ अवस्था में भी औषध सेवन नहीं करते थे। वे स्वस्थ अवस्था में भी ऊनोदरी तप (स्वल्प आहार) करते थे अतः उन्हें कोई रोग नहीं होता था फिर भी कुत्तों के काटने या अनार्य लोगों के प्रहार से जो घाव आदि हो जाते थे तो वे उसके लिए भी चिकित्सा नहीं करते थे। वे समस्त परीषहों को समभाव से सहन करते थे और तप के द्वारा द्रव्य एवं भाव रोग को दूर करने का प्रयत्न करते थे।

शरीर ममत्य का त्याग

(५१४)

संसोहणं च वमणं च, गायढ्भंगणं च सिणाणं च।

संभाहणं ण से कप्पे, दंतपक्खालणं च परिण्णाए॥



कठिन शब्दार्थ - संसोहणं - संशोधन, वमणं - वमन, गायबभंगणं - गात्राभ्यंगन-शरीर को तैलादि से मर्दन करना, सिणाणं - स्नान, संबाहणं - संबाधन यानी हाथ पैरों की चम्पी, दंतपक्खालणं - दंतप्रक्षालन-दांतन, ण कप्पे - नहीं कल्पता।

भावार्थ - इस शरीर को अशुचिमय एवं नश्वर जान कर भगवान् विरेचन, वमन, तैल मर्दन, स्नान और संबाधन (पगचम्पी) आदि नहीं करते थे तथा दंत प्रक्षालन भी नहीं करते थे।

विवेचन - दीक्षा लेते ही भगवान् ने शरीर ममत्व का त्याग कर दिया था अतः वे शरीर की सेवा शुश्रूषा मंडन, विभूषा, साजसज्जा, सार संभाल आदि नहीं करते थे। वे शरीर को विस्मृत कर एक मात्र आत्मा की चिंता करते हुए साधना में लीन रहते थे। यही कारण है कि शरीर संशोधन के लिए विवेचन, वमन, मर्दन आदि नहीं करते थे।

(५१५)

विरए य गामधम्महिं रीयइ माहणे अबहुवाइं।

सिसिरंमि एगया भगवं, छायाए झाइ आसी य॥

कठिन शब्दार्थ - विरए - विरत, गामधम्महिं - इन्द्रियों के विषयों से, अबहुवाइं - अल्प भाषी, छायाए - छाया में।

भावार्थ - इन्द्रिय विषयों से विरक्त महामाहन भगवान् अल्पभाषी होकर विचरते थे और कभी कभी शिशिर ऋतु (शीतकाल) में छाया में बैठ कर ध्यान करते थे।

भगवान् की तपाराधना

(५१६)

आयावइ य गिम्हाणं अच्छइ उक्कुडुए अभितावे।

अदु जावइत्थ लूहेणं, ओयणमंथुकुम्मासेणं॥

कठिन शब्दार्थ - आयावइ - आतापना, गिम्हाणं - ग्रीष्म ऋतु में, अच्छइ - बैठते थे, उक्कुडुए - उत्कटुक आसन से, अभितावे - सूर्य के ताप के सामने, लूहेण - रूक्ष, ओयणमंथुकुम्मासेणं - ओदन (भात), मंथु (बेर का आटा-बोरकूट) और कुल्माष-कुलथी-उदद आदि से, जावइत्थ - निर्वाह करते थे।



भावार्थ - भगवान् ग्रीष्म ऋतु में आतापना लेते थे। उकड़ू आसन से सूर्य के ताप के सामने मुख करके बैठते थे तथा रूक्ष भात, मंथु, बोरकूट, कुल्माष (कुलथी) आदि से शरीर का निर्वाह करते थे।

(५१७)

एयाणि तिण्णि पडिसेवे, अट्टमासे य जावयं भगवं।

अवि इत्थ एगया भगवं, अद्धमासं अदुवा मासंपि ॥

भावार्थ - श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उक्त तीनों पदार्थों से आठ मास तक जीवन यापन किया। कभी कभी भगवान् ने अर्द्ध मास अथवा मास पर्यंत पानी नहीं पीया।

(५१८)

अवि साहिए दुवे मासे, छप्पिमासे अदुवा अपिवित्ता।

राओवरायं विहरित्था अपडिण्णे अण्णगिलायमेगया भुंजे ॥

कठिन शब्दार्थ - साहिए - साधिक - कुछ अधिक, राओवरायं - रात्रौपरात्र - रातदिन, अण्णगिलायं - बासी (ठण्डा) अन्न - जो रस चलित नहीं हुआ हो।

भावार्थ - भगवान् ने दो महीने से अधिक तथा छह महीने तक भी जल नहीं पीया। वे रात दिन जागृत रह कर परीषह उपसर्गों का किसी भी प्रकार प्रतिकार न करते हुए निरीह भाव से विचरते थे और कभी कभी आहार करते थे किन्तु वह भी ठण्डा आहार करते थे।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा से स्पष्ट होता है कि भगवान् ने सर्वोत्कृष्ट छह माह का तप किया और इस दीर्घ तप में भी पानी का सेवन नहीं किया अर्थात् भगवान् की तपस्या चौविहार थी - भगवान् ने जितनी भी तपस्या की थी उसमें पानी नहीं पिया था। पारणे में भी बासी अन्न - ठण्डा भोजन - पहले दिन का बना हुआ आहार ग्रहण किया था। जो लोग बासी आहार को अभक्ष्य कहते हैं उनके लिये यह स्पष्ट आगम प्रमाण है कि भगवान् महावीर स्वामी ने स्वयं बासी आहार ग्रहण किया है ऐसी स्थिति में उसे अभक्ष्य कैसे कहा जा सकता है? यह ठीक है कि ऐसा बासी आहार साधु को नहीं लेना चाहिये जिसका रस विकृत हो गया हो परन्तु जिसका वर्ण, गंध, रस आदि विकृत नहीं हुआ है उस आहार को अभक्ष्य कहना आगम विरुद्ध है।



कहने का आशय यह है कि इतने लम्बे तप के बाद भी भगवान् का इस तरह रूखा सूखा एवं बासी अन्न (ठण्डा भोजन) ग्रहण करना उनके मनोबल एवं त्याग निष्ठ अनासक्त जीवन का परिचायक है।

(५१६)

छट्टेण एगया भुंजे, अदुवा अट्टमेणं दसमेणं।

दुवालसमेणं एगया भुंजे, पेहमाणे समाहिं अपडिण्णे॥

कठिन शब्दार्थ - छट्टेण - दो दिन से - बेला करके, अट्टमेणं - तेला करके - तीन दिन से, दसमेणं - चार दिन से - चौला करके, दुवालसमेणं - पचोला करके - पांच दिन से।

भावार्थ - भगवान् अपने शरीर की समाधि को देखते हुए भोजन के प्रति प्रतिज्ञा रहित होकर (निदान रहित होकर) कभी बेला करके, कभी तेला करके, कभी चोला करके और कभी पचोला करके पारणा करते थे।

विशेष - भगवान् नित्य भोजी नहीं थे किन्तु कभी दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवें दिन के अनन्तर आहार करते थे।

प्रस्तुत गाथा में भगवान् के छद्मस्थ अवस्था में किये गए कुछ तपों का वर्णन आया है, उसमें बेले, तेले, चोले, पचोले आदि तप का कथन किया गया है। ग्रंथकार भगवान् के छद्मस्थ अवस्था में किये गए सम्पूर्ण तप का वर्णन बताते हैं। उनमें पारणे के दिन तीन सौ उनपचास (३४६) एवं शेष दिन तपस्या के बताकर सब दिनों का संकलन करके पूर्ण छद्मस्थ काल की गिनती करते हैं। उन तपों के वर्णन में चोले एवं पचोले तप का नाम नहीं आया है जबकि प्रस्तुत मूल पाठ में इनका भी नाम आया है। अतः ग्रंथों में कहे हुए भगवान् के तप के वर्णन को पूर्ण प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

(५२०)

णच्चाण से महावीरे, णो वि य पावगं सयमकासी।

अण्णेहिं वा ण कारित्था, कीरंतं पि णाणुजाणित्था ॥

कठिन शब्दार्थ - णच्चा - जान कर, पावगं - पाप कर्म, अकासी - किया, कारित्था - करवाया, कीरंतं - करते हुए को, ण अणुजाणित्था - अच्छा भी नहीं जाना।



भावार्थ - हेय और उपादेय पदार्थों को जान कर भगवान् महावीर स्वामी ने छद्मस्थ अवस्था में न स्वयं पाप किया, न दूसरों से करवाया और करते हुए को अच्छा भी नहीं जाना अर्थात् पाप कर्म करते हुए प्राणी की अनुमोदना तक भी नहीं की।

विवेचन - कुछ लोग यह कहते हैं कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने नाव में बैठ कर गंगा नदी को पार किया था। उनका यह कहना आगमानुकूल नहीं है क्योंकि नाव पानी में चलती है उससे पानी के जीवों की हिंसा तो प्रत्यक्ष ही है तथा जलचर जीवों की हिंसा भी संभावित है और यह प्राणातिपात नाम का पहला पाप है। इस गाथा में बतलाया गया कि - भगवान् ने तीन कारण तीन योगों से सभी पापों का त्याग कर दिया था अतः उनके लिये नाव में बैठने की बात कहना आगम विरुद्ध है।

(५२१)

गामं पविस्स णयरं वा, घासमेसे कडं परट्ठाए।

सुविसुद्धमेसिया भगवं, आययजोगयाए सेवित्था ॥

कठिन शब्दार्थ - पविस्स - प्रवेश करके, घासं - आहार की, एसे - गवेषणा करते थे, कडं - कृत - किये गये, परट्ठाए - दूसरों के लिए, सुविसुद्धं - सुविशुद्ध - उद्गम, उत्पादना और एषणा के दोषों से रहित आहार की, एसिया - गवेषणा करके, आयय जोगयाए - आयत योग से - मन, वचन, काया के योगों की स्थिरता पूर्वक, सेवित्था - सेवन करते थे।

भावार्थ - भगवान् ग्राम या नगर में प्रवेश करके दूसरे गृहस्थों के लिए बने हुए आहार की गवेषणा करते थे। सुविशुद्ध (उद्गम, उत्पादना, एषणा के दोषों से रहित) आहार को ग्रहण करके आयत योग से - मन, वचन, काया की स्थिरता पूर्वक संयत विधि से उसका सेवन करते थे।

निर्दोष आहार ग्रहण

(५२२)

अदु वायसा दिगिंछित्ता, जे अण्णे रसेसिणो सत्ता।

घासेसणाए चिट्ठंति, सययं णिवइए य पेहाए ॥



कठिन शब्दार्थ - वायसा - कौएं, दिगिच्छित्ता - बुभुक्षित - भूख से व्याकुल, रसेसिणो- पानी पीने के लिये आतुर, घासेसणाए - आहार पानी के लिए, णिवइए - जमीन पर गिरे हुए।

भावार्थ - भगवान् भूख से व्याकुल कौएं आदि तथा पानी पीने के लिए आतुर अन्य प्राणियों को सदा दाना पानी के लिए जमीन पर बैठे हुए देखकर वे उन्हें नहीं उड़ाते हुए विवेक पूर्वक चलते ताकि उनके आहार पानी में बाधा न पड़े।

(५२३)

अदु माहणं व समणं वा, गामपिंडोलगं च अइहिं वा।

सोवागं मूसियारिं वा, कुक्कुरं वा विट्ठियं पुरओ॥

कठिन शब्दार्थ - माहणं - ब्राह्मण, समणं - श्रमण, गामपिंडोलगं - भिखारी, अइहिं - अतिथि, सोवागं - चाण्डाल, मूसियारिं - बिडाल-बिल्ली, ठियं - स्थित, पुरओ - आगे - सामने।

भावार्थ - अथवा ब्राह्मण, श्रमण, गांव के भिखारी अतिथि, चाण्डाल, बिल्ली या कुत्ते आदि नाना प्रकार के प्राणियों को आगे मार्ग में बैठा देख कर उनकी वृत्ति का भंग न करते हुए भिक्षार्थ गमन करते थे।

(५२४)

वित्तिच्छेयं वज्जंतो, तेसऽप्यत्तियं परिहरंतो।

मंदं परक्कमे भगवं, अहिंसमाणो घासमेसिस्था॥

कठिन शब्दार्थ - वित्तिच्छेयं - वृत्ति (आजीविका) विच्छेद को, वज्जंतो - वर्जते हुए, अप्यत्तियं - अप्रीति को, परिहरंतो - दूर करके, मंदं - धीरे-धीरे, अहिंसमाणो - हिंसा न करते हुए, घासं एसिस्था - आहार की गवेषणा करते थे।

भावार्थ - भगवान् महावीर स्वामी उन जीवों की आजीविका का विच्छेद न हो तथा उनके मन में अप्रीति (द्वेष) या अप्रतीति (भय) उत्पन्न न हो इसे ध्यान में रख कर धीरे-धीरे चलते थे और किसी भी जीव की हिंसा न करते हुए आहार पानी की गवेषणा करते थे।

विवेचन - साधु सब जीवों का रक्षक है। वह स्वयं कष्ट सह सकता है परन्तु अपने निमित्त से किसी भी प्राणी को कष्ट हो तो उस कार्य को वह कदापि नहीं कर सकता। साधु के



लिए आदेश है कि वह भिक्षा के लिए जाते समय भी यह ध्यान रखे कि उसके कारण किसी भी प्राणी की वृत्ति में विघ्न न पड़े। भगवान् महावीर स्वामी ने स्वयं इस नियम का पालन किया था।

यदि किसी गृहस्थ के द्वार पर कोई ब्राह्मण, बौद्ध भिक्षु, परिव्राजक, संन्यासी, शूद्र आदि खड़े होते या कुत्ता, बिल्ली आदि खड़े होते तो भगवान् उनको उल्लंघ कर घर में प्रवेश नहीं करते थे क्योंकि इससे उनकी वृत्ति का व्यवच्छेद होता था, उन्हें अन्तराय लगती थी। वह दातार उन ब्राह्मण आदि को भूल कर भगवान् को देने लगता। उनके अन्तराय लगने से उनके मन में अनेक संकल्प-विकल्प उठते, द्वेष-भाव पैदा होता। इसलिए भगवान् इन दोषों को टालते हुए भिक्षा के लिए गृहस्थ के घरों में प्रवेश करते थे।

इससे स्पष्ट है कि भगवान् सभी प्राणियों के रक्षक थे वे किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं पहुंचाते थे। इसलिए वे उन सभी कार्यों से निवृत्त थे जो सावद्य थे एवं दूषित वृत्ति से किये जाते थे।

भगवान् का आहार

(५२५)

अवि सूइयं वा सुक्कं वा, सीयपिंडं पुराणकुम्मासं।

अदु बुक्कसं पुलागं वा, लद्धे पिंडे अलद्धए दविए।।

कठिन शब्दार्थ - सूइयं - भीजा हुआ - दही आदि से भात को गीला करके बनाया हुआ आर्द्र आहार - करबा आदि, सुक्कं - सूखा हुआ - चना आदि का शुष्क आहार, सीयपिंडं - शीत पिण्ड - बासी (ठंडा) आहार, पुराणकुम्मासं - पुराने कुल्माष (कुलत्थी) बहुत दिनों से सিজोया हुआ उड़द, बुक्कसं - जीर्ण (पुराने) धान्य का आहार, पुलागं - जी आदि नीरस धान्य का आहार, पिंडे - आहार के, लद्धे - सरस-स्वादिष्ट आहार के मिलने पर, अलद्धए - सरस तथा पर्याप्त आहार के-नहीं मिलने पर, दविए - द्रविक - संयम युक्त रह कर, शांत, राग द्वेष रहित।



भावार्थ - भीजा हुआ अथवा सूखा हुआ, ठण्डा आहार अथवा बहुत दिन का कुल्माष का आहार, पुराने धान का बना हुआ आहार - अथवा जौ आदि का दलिया इस प्रकार सरस एवं पर्याप्त आहार के मिलने पर या नहीं मिलने पर संयम युक्त भगवान् राग द्वेष नहीं करते थे, सदा शांत रहते थे।

विवेचन - भगवान् को जैसा भी रूखा सूखा, सरस-नीरस निर्दोष आहार मिलता वे राग द्वेष रहित होकर उसी में संतोष करते थे।

भगवान् की ध्यान साधना

(५२६)

अवि झाड़ से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं।

उहमहेयं तिरियं च, पेहमाणे समाहिमपडिण्णे ॥

कठिन शब्दार्थ - आसणत्थे - आसनस्थ होकर - उत्कटुक, वीरासन आदि आसनों से बैठ कर, अकुक्कुए - अकोत्कुच - निर्विकार भाव से - मुखादि की चंचलता को छोड़ कर, झाणं - ध्यान, समाहिं - अंतःकरण की शुद्धि को, पेहमाणे - देखते हुए।

भावार्थ - भगवान् महावीर स्वामी उकड़, वीरासन आदि आसनों में स्थित होकर, निर्विकार भाव से स्थित चित्त होकर ध्यान करते थे। वे ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक् लोक में स्थित द्रव्यों और उनकी पर्यायों का - लोक के स्वरूप का ध्यान में चिंतन करते थे। वे अपने अंतःकरण की शुद्धि को देखते हुए प्रतिज्ञा रहित होकर आत्म-चिंतन में संलग्न रहते थे।

विवेचन - प्रस्तुत गाथा में भगवान् की ध्यान साधना का वर्णन किया गया है।

(५२७)

अकसाई विगयगेही य, सह्रूवेसु अमुच्छिए झाड़।

छउमत्थो वि परक्कममाणो ण पमायं सइंपि कुव्वित्था ॥

कठिन शब्दार्थ - अकसाई - अकषयी, विगयगेही - गृद्धि भाव रहित - अनासक्त, सह्रूवेसु - शब्द रूप आदि विषयों में, अमुच्छिए - अमूर्च्छित, छउमत्थोवि - छद्मस्थावस्था

में भी, परवकममाणो - शुभ (सद्) अनुष्ठानों में पराक्रम करते हुए, सइंपि - एक बार भी, कुष्वित्था - किया।

भावार्थ - भगवान् अकषायी, अनासक्त, शब्द और रूप आदि विषयों में अमूर्च्छित एवं आत्म-समाधि में स्थित होकर ध्यान करते थे। इस प्रकार सद्अनुष्ठानों में पराक्रम करते हुए भगवान् के छद्मस्थावस्था में एक बार भी प्रमाद नहीं किया।

विवेचन - जब तक ज्ञानावरणीय आदि चार घाती कर्म सर्वथा क्षीण न हो तब तक छद्मस्थावस्था कहलाती है। प्रस्तुत गाथा में कहा गया है कि भगवान् ने छद्मस्थ अवस्था में एक बार भी प्रमाद नहीं किया। प्रमाद के मुख्य पांच भेद हैं-मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। भगवान् इन पांचों प्रमादों से रहित हो कर प्रतिपल अप्रमत्त साधना में संलग्न रहते थे।

जैन धर्म की एक संप्रदाय विशेष का कहना है कि - भगवान् महावीर स्वामी ने वैश्यायन बाल तपस्वी के द्वारा गोशालक पर छोड़ी हुई तेजोलेश्या से गोशालक पर अनुकम्पा कर के उसे बचाया, यह भगवान् ने भूल (चूक) की, इसलिए वे भगवान् को 'चूका' बताते हैं। उनका यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि इस गाथा में स्पष्ट कहा है कि भगवान् ने छद्मस्थ अवस्था में भी कभी भूल नहीं की तथा गाथा क्रमांक ५२० में बतलाया गया है कि भगवान् ने कभी पाप का संवन नहीं किया। इसलिए भगवान् को 'भूला' या 'चूका' कहना उनका अज्ञान मूलक भूल (चूकना) भरा है।

दूसरी बात यह है कि - दीक्षा लेने के बाद छद्मस्थ अवस्था में तीर्थकरों में कषाय कुशील नियंठा होता है और वह मूलगुण व उत्तरगुण दोष अप्रतिसेवी होता है अर्थात् कषायकुशील नियंठा मूलगुण व उत्तरगुण में किसी प्रकार का दोष नहीं लगाता है। इसलिए भगवान् को 'चूका' बताना असत् दोषारोपण करना है।

तीसरी बात यह है कि - जैन धर्म में प्राणातिपात आदि अठारह पाप बताये गये हैं उनमें अनुकम्पा का पाप नहीं बताया गया है बल्कि अनुकम्पा तो महान् धर्म है। दया (अनुकम्पा) और दान, ये तो जैन धर्म के प्राण हैं। यदि जैन धर्म में से दया (अनुकम्पा) और दान को निकाल दिया जाय तो फिर वह निष्प्राण खोखला रह जायेगा। अनुकम्पा का उत्कृष्ट उदाहरण उत्तराध्ययन सूत्र के २२ वें अध्ययन में भगवान् अरिष्टनेमि का है। उन्होंने अपने विवाह जैसे

स्वार्थ को त्याग कर बाड़े और पिंजरे में रोके हुए पशु और पक्षियों की रक्षा की। अतः अनुकम्पा उत्कृष्ट धर्म है। वह पापजनक और सावद्य कभी नहीं हो सकती। प्रश्न व्याकरण सूत्र के प्रथम संवर द्वार में अहिंसा को 'भगवती' कहा है और उसके साथ नाम दिये हैं उन में अनुकम्पा, दया, रक्षा आदि शब्द भी दिये हैं और यहाँ तक बतलाया है -

“मत्त्वजग जीव स्वस्वण दयद्वयाए भगवया पावयणं मुक्कहियं”

अर्थ - जगत् के सब जीवों की रक्षा रूप दया के लिए तीर्थकर भगवान् ने द्वादशांग रूप प्रवचन फरमाया है। अतः श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की गोशालक विषयक अनुकम्पा को पाप बताकर भगवान् को 'चूका' (भूल करने वाला) बताना अनुचित है।

(५२८)

सयमेव अभिसमागम्म, आययजोगमायसोहीए।
अभिणिव्वुडे अमाइल्ले आवकहं भगवं समिआसी॥
एस विही अणुक्कंतो माहणेण मईमया,
बहुसो अपडिण्णेणं भगवया एवं रीयंति ॥त्ति बेमि।

॥ चउत्थोद्देशो समत्तो ॥

॥ उवहाणसुयं णवमज्झयणं समत्तं ॥

कठिन श्रब्दार्थ - सयमेव - स्वयमेव, अभिसमागम्म - तत्त्वों को भलीभांति जानकर, आययजोगं - आयत योग - मन, वचन, काया की संयत प्रवृत्ति, आयसोहीए - आत्मशुद्धि के द्वारा, अभिणिव्वुडे - अभिनिवृत्त - कषायों से निवृत्त - उपशांत, आवकहं - जीवन पर्यन्त (यावज्जीवन), समियासी - समिति गुप्ति के पालक थे।

भावार्थ - स्वयमेव तत्त्वों को भलीभांति जान कर आत्म शुद्धि के द्वारा मन, वचन और काय योगों को वश में करके भगवान् कषायों से निवृत्त - शांत हो गये थे। उन्होंने जीवन पर्यंत माया रहित होकर पांच सत्ति तीन गुप्ति का पालन करते हुए साधना की।

मतिमान् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने बहुत बार निदान रहित इस विधि का आचरण किया था। इसलिए मोक्षार्थी आत्माओं को इस विधि का आचरण करना चाहिए। मैं कहता हूँ।

खिवेचन - प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि भगवान् ने किसी के उपदेश से दीक्षा नहीं ली थी, वे स्वयंबुद्ध थे। अपने ही ज्ञान के द्वारा उन्होंने साधना पथ को स्वीकार किया और मन, वचन, काया को वश में करके जीवन पर्यंत समिति गुप्ति युक्त होकर साधना रत रहे और अपनी साधना के द्वारा घाती कर्मों को क्षय करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी बने और अंत में शेष अघाती कर्मों का भी क्षय करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए।

प्रस्तुत उद्देशक का उपसंहार करते हुए सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने पूर्वोक्त वर्णित संयम विधि का स्वयं पालन किया है और आत्म-विकास के अभिलाषी इस विधि का आचरण करते हैं अतः अन्य मोक्षार्थी पुरुषों को भी उनका अनुकरण करना चाहिये।

॥ इति नववें अध्ययन का चौथा उद्देशक समाप्त ॥

॥ उपधान श्रुत नामक नवम अध्ययन समाप्त ॥

॥ इति श्री आचारांग श्रुत का ब्रह्मचर्य नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त ॥



